प्रेमचंद और भारतीय किसान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र
की पी०एच०डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबंध

निर्देशक
डा० नामवर सिंह

प्रस्तुतकर्ता
रामबक्ष जाट

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
1980

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGES

Gram—JAYENU
Telephone :
New Mehrauli Road,
NEW DELHI-110067.

Dated 12.2.1980

Certified that the thesis entitled "PREMCHAND AUR BHARATIYA KISAN" submitted by Shri Ram Nur Jat for the degree of Doctor of Philosophy (Hindi) is a bonafide work to the best of my knowledge and may be placed before the examiners for their consideration.

(Mohd. Hasan)
Chairman
Centre of Indian Languages
School of Languages
JNU, New Delhi-110067

(Nanwar Singh)
Supervisor
&
Dean
School of Languages
JNU, New Delhi

प्रस्तावना

प्रेमचंद हिन्दी कथा साहित्य के गौरव हैं । प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य का केन्द्र उनके साहित्य में व्यक्त किसान संवेदनशीलता ही है । भारतीय किसान का दिल प्रेमचंद की रचनाओं में धड़कता है । प्रेमचंद से पहले और उनके बाद में भी (हिन्दी - उर्दू में) किसानों का ऐसा हिमायती साहित्यकार पैदा नहीं हुआ। जिसे हम 'भारतीय किसान' कहते हैं, वह कोई अमूर्त धारणा नहीं है । यहाँ 'भारतीय किसान' से तात्पर्य बीसवीं सदी के शुरू के 36 वर्षों के भारतीय किसान से है । इस किसान को — उसकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी समस्या को, उसके जीवनानुभवों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का काम हिन्दी-उर्दू साहित्य में सबसे पहले प्रेमचंद ने ही किया है । प्रेमचंद की इस विशिष्ट स्थिति को — उनकी समकालीन चेतना और मानवीय संवेदनशीलता को— तद्युगीन भारतीय किसान के संदर्भ में ही परखा जा सकता है ।

वास्तव में प्रेमचंद और भारतीय किसानों के संबंध की जिज्ञासा पारिभाषिक जिज्ञासा मात्र नहीं है, बल्कि इससे बड़ी और विस्तृत जिज्ञासा है । यह उस पुरानी और प्रासंगिक बहस का एक हिस्सा है जिसमें साहित्य और सामाजिक - राजनीतिक जीवन का संबंध क्या है ? और साहित्य में समाज की तथा समाज में साहित्य की भूमिका क्या होती है ? जैसे सवाल उठाये जाते हैं । इस पुरानी प्रचलित बहस को प्रेमचंद और भारतीय किसान के विशिष्ट संदर्भ में ही उठा रखा गया है । प्रस्तुत विषय में दो मुख्य जिज्ञासायें हैं — एक, प्रेमचंद (एक साहित्यकार के रूप में) और किसान (एक सामाजिक वर्ग के रूप में) का संबंध क्या है ? और दूसरा, प्रेमचंद की रचनाओं में व्यक्त किसान जीवन का स्वरूप क्या है ? इनमें पहली जिज्ञासा का संबंध बीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में किसानों की भूमिका और उस भूमिका के संदर्भ में तद्युगीन बुद्धि-

तीसियों के चिंतन से है । दूसरी जिज्ञासा का संबंध उस भूमिका के प्रेमचंद द्वारा किये गये साहित्यिक सृजन से है, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों के साथ - साथ प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि, रचना-दृष्टि और रचनात्मक सामर्थ्य की एक बड़ी भूमिका है ।

प्रेमचंद और भारतीय किसानों का संबंध सहज और सरल नहीं है। यह संबंध प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि मात्र का ही अनिवार्य परिणाम नहीं है, अपितु इससे हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक वातावरण और वर्ग-संघर्षों के नये स्वरूप की भी अभिव्यक्ति होती है । वास्तव में ब्रिटिश भारत में किसानों की सशस्त्र क्रांतिकारी संघर्ष की परंपरा रही है । किसानों ने प्रारंभ से ही अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करने के लिए सशस्त्र संघर्ष चलाये । इसीलिए उन्होंने 1857-58 के विद्रोह में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की । इन संघर्षों का उद्देश्य ब्रिटिशपूर्व राजाओं और कृषि-संबंधों को पुनः स्थापित करना था । उन्होंने ब्रिटिश भारत के अधिकारियों, जमींदारों और महाजनों की हत्यायें की, पुलिस और फौज का मुकाबला किया । ये किसान अभी तक संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर नहीं आये थे, बल्कि इनके संघर्षों में अपनी परेशानियों से उत्पन्न आक्रोश की अभिव्यक्ति होती थी । ब्रिटिश भारत में एक परंपरा इन किसानों की थी ।

दूसरी परंपरा उस बुद्धिजीवी वर्ग की थी, जिसने आगे चलकर इन किसानों को संगठित किया और राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई ।

'ब्रिटिश सिंह' की छत्रछाया में जिस अंग्रेजी पढ़े लिखे बुद्धिजीवी वर्ग का उद्भव और विकास हुआ — वह प्रारंभ से ही अंग्रेजों की न्यायप्रियता और प्रजापालकता का गुणगान करता था । उसे 'बरबर मुस्लिम साम्राज्य' के बाद अंग्रेजों का शासन शांति का दूत दिखाई दिया । इस वर्ग ने भारत में अंग्रेजी राज को स्तुत्य माना और किसानों की संघर्षशील परंपरा को 'लूट' और 'बरबर' कहकर पुकारा । यही एक ऐसा वर्ग था जिसने 1857 के विद्रोह का विरोध किया और अंग्रेजों का साथ दिया । पश्चिम के संपर्क में आते ही उन्हें अंग्रेजों

की सभ्यता और भारतीयों के 'जंगलीपन' में अटूट विश्वास पैदा गया। अतः इस वर्ग के एक तबके ने अंग्रेजी सभ्यता के अनुकरण को ही भारत की भावी उन्नति का आधार माना। इसी वर्ग ने भारत में आधुनिक राजनीतिक चेतना का प्रचार और प्रसार के आरंभिक प्रयास किये। इसी ने 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को संगठित किया। इसने ही अंग्रेजों के सामने भारतीय जनता की परेशानियों को रखा, फिर इन परेशानियों को दूर करने के लिए संघर्ष किये। अपनी मांगों को मनवाने के लिए इसने ही सबसे पहले संपूर्ण भारतीय जनता को संगठित करने का प्रयास किया।

प्रेमचंद और भारतीय किसान का संबंध इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है कि इस बुद्धिजीवी वर्ग ने किसानों की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका को महत्त्व दिया। प्रेमचंद इसी बुद्धिजीवियों में से एक थे। यह काम अकेले प्रेमचंद ने ही नहीं किया, बल्कि उस दौर के अनेक राजनीतिक नेता और साहित्यकारों की दृष्टि गाँवों की ओर गई और अपने विचारों को किसानों में भी प्रचारित करने के सिलसिले शुरू। आरंभ में यह विचार क्या भाव से आया; जिसमें 'बेचारे' किसानों की भलाई के लिए 'शिक्षित जनों' को जुट जाने का आह्वान था। बाद में प्रेमचंद जैसे लोगों ने यह महसूस किया कि किसान ही भारतीय स्वाधीनता - आन्दोलन का आधार है। प्रेमचंद, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ने लगभग एक ही समय किसानों की शक्ति को पहचाना। गांधी ने चम्पारन (1917 ई०) में, नेहरू ने प्रतापगढ़ और रायबरेली (1920-21 ई०) में किसानों के बीच काम किया। प्रेमचंद ने इसी बीच (मई 1918 ई० से) 'प्रेमाश्रम' लिखना शुरू किया। राजनीति और साहित्य दोनों ही शिक्षित जन समुदाय की संकुचित सीमा से निकलकर गाँव की चौपाल में आये। राजनीतिक और साहित्यिक विषयों और समस्याओं का यह परिवर्तन भारतीय इतिहास और संस्कृतिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तिलक-गोखले के बाद गांधी-नेहरू और मैथिलीशरण गुप्त - देवकीनन्दन खत्री के बाद निराला-प्रेमचंद का यह आगमन भारत के

सांस्कृतिक आकाश में एक बड़े परिवर्तन की पूर्व सूचना है । इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद और भारतीय किसान का संबंध प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के घेरे से निकलकर राष्ट्रीय राजनीति के दायरे में आ जाता है । यह भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी संबंधों के परिवर्तन और नये स्वरूप को द्योतित करता है ।

इसलिए एक ओर तो हमें ब्रिटिश भारत में किसानों की स्थिति पर विचार करना होगा, और दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन की विकास रेखा को भी समझना होगा । इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद का जीवन, उनकी जीवन- दृष्टि का विकास, उनकी साहित्यिक शुरुआत की आरंभिक समस्याओं और हिन्दी साहित्य की परंपरा को भी समझना होगा ।

साहित्य और समाज के संबंधों के विवेचन में मोटे तौर पर दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं — समाज में साहित्य की स्थिति और साहित्य में समाज की उपस्थिति । प्रस्तुत शोध-प्रबंध में मैंने इन दोनों पद्धतियों का उपयोग किया है, जिससे प्रेमचंद के साहित्य का समग्र अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके । प्रथम चार अध्यायों में तत्कालीन सामाजिक- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद के साहित्य के बदलते स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है । इसके लिए प्रेमचंद-साहित्य के विकास क्रम को तीन चरणों में बाँटकर रखा गया है —— प्रथम चरण (1900-1918), द्वितीय चरण (1919-1929) और तृतीय चरण (1930-1936 ई०) । इनमें भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता - आन्दोलन और किसानों की गतिविधियों के संदर्भ में प्रेमचंद के साहित्यका विवेचन किया गया है । यह वर्गीकरण एक तो प्रेमचंद की रचना-दृष्टि में आये हुए परिवर्तनों को

सूचित करता है और दूसरे, राष्ट्रीय जागरण में आने वाले निर्णायक मोड़ को भी रेखांकित करता है । इन दोनों को साथ-साथ रखकर ही अध्यायों का यह विभाजन किया गया है । तृतीय चरण को मैंने दो अध्यायों में समेटने का प्रयास किया है । इस बीच प्रेमचंद ने 'हंस' और 'जागरण' में समकालीन राजनीति और सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं । अतः तीसरे अध्याय में प्रेमचंद के इस चिंतन पर विचार किया गया है और चौथे अध्याय में इस चरण के सर्जनात्मक साहित्य पर विचार किया गया है । इस प्रक्रिया में मैंने उस युग की उन सामाजिक परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया है, जिनका प्रेमचंद के सर्जनात्मक साहित्य के स्वरूप-निर्माण पर प्रभाव पड़ा है । स्वतंत्र रूप से उस युग की ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन मैंने नहीं किया है । इसी तरह प्रेमचंद की जीवनी और उनके व्यक्तित्व के उन प्रसंगों को भी शोध-ग्रंथ में उपस्थित किया गया है, जिनका उनके सर्जनात्मक साहित्य से घनिष्ठ संबंध रहा है । स्थान-स्थान पर प्रेमचंद के जीवन की घटनाओं का कहीं भी उल्लेख किया गया है । रचनाओं को समझने के लिए ही इन 'बाहरी' उपकरणों का सहारा लिया गया है । इनका स्वतंत्र महत्त्व नहीं है ।

पाँचवें और छठे अध्याय में दूसरी पद्धति का उपयोग किया गया है । प्रेमचंद ने समकालीन समाज — विशेष रूप से भारतीय किसान जीवन को अपने साहित्य में किस रूप में उपस्थित किया है, उसका विश्लेषण है । प्रेमचंद द्वारा प्रस्तुत इस तस्वीर को जाँचने-परखने के लिए इतिहासकारों और समाज वैज्ञानिकों की धारणाओं को भी सामने रखा गया है । इसमें भी मेरा प्रयास यह रहा है कि प्रेमचंद द्वारा उपस्थित भारतीय किसान की तस्वीर उभर कर सामने आ सके ।

इन दोनों प्रक्रियाओं से प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि और रचना - दृष्टि का निर्माण हुआ है और इसी विशिष्ट दृष्टि से उन्होंने भारतीय किसान को

अपने साहित्य में उपस्थित किया है । सातवें अध्याय में प्रेमचंद की जीवन - दृष्टि का विश्लेषण है । इस अध्ययन में मैंने मुख्यतः प्रेमचंद के सर्जनात्मक साहित्य को ही अपने निष्कर्षों का आधार बनाया है । किन्तु कहीं-कहीं उनके चिंतन को भी सहायक रूप में उपस्थित किया गया है । अंत में, उपसंहार में मैंने प्रेमचंद के साहित्य में भारतीय किसान की संश्लिष्ट प्रतिमा का विवेचन किया है। इस संदर्भ में कुछ प्रचलित धारणाओं पर पुनर्विचार करने का प्रयास किया गया है ।

प्रेमचंद के साहित्य पर अनेक चिंतकों, आलोचकों और शोध-कर्त्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । 'सेवासदन' के प्रकाशन (1916 ई०) के बाद से ही प्रेमचंद के साहित्य पर गंभीर विचार-विमर्श शुरू हो गया था और समकालीनों में प्रेमचंद चर्चा के केन्द्र में आ गये थे । तब से आज तक प्रेमचंद साहित्य पर विचार - विमर्श जारी है । भारत में ही नहीं विदेशों में भी आलोचकों ने प्रेमचंद के साहित्य का मनन किया है । इन सभी प्रयासों से प्रेमचंद के साहित्य के प्रति कुछ धारणाएँ सर्वमान्य सी हो चली हैं । प्रेमचंद-साहित्य के इन अध्येताओं के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए भी मैंने शोध-ग्रंथ में उनसे बहस करने का प्रयास नहीं किया है । उन्होंने प्रेमचंद के साहित्य के बारे में जो सामान्य धारणाएँ बना रखी हैं, उन्हीं धारणाओं पर प्रसंगवश विचार किया गया है । प्रेमचंद साहित्य के वस्तुगत अध्ययन से उनके बारे में जो मेरी धारणाएँ बनी हैं, उन्हें ही मैंने मुख्य रूप से सामने रखने का प्रयास किया है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए मैंने किसी आलोचक के मत का सहारा न लेकर स्वयं प्रेमचंद के साहित्य का ही सहारा लिया है । इसलिए प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में प्रेमचंद-साहित्य के पूर्ववर्ती अध्येताओं का खंडन-मंडन प्रायः कम किया गया है । प्रेमचंद साहित्य की वस्तुगत और वैधगम्य तस्वीर बनाने का प्रयास ही यहाँ अभीष्ट है ।

यह शोध-ग्रन्थ मूलतः आलोचनात्मक है । इसमें मैंने नये तथ्यों की खोज का प्रयास नहीं किया है, प्रसंगवश कुछ नये तथ्य अवश्य सामने आ गये

है ; लेकिन मेरी रुचि उपलब्ध तथ्यों के नये विश्लेषण की ओर भी रही है। प्रेमचंद साहित्य से संबंधित इन तथ्यों के लिए मैं अपने पूर्ववर्ती शोधकर्त्ताओं का ऋणी हूँ। प्रेमचंद के जीवन चरित और रचनाओं के प्रकाशन-काल जैसे तथ्यों के लिए मुख्यतः श्रीमती शिवरानी देवी, अमृतराय, मदनगोपाल, जैनेन्द्र कुमार और कमल किशोर गोयनका ही मेरे आधार रहे हैं। फिर भी, मुझे लगता है कि प्रेमचंद से संबंधित अनेक नये तथ्यों को अभी प्रकाशन में लाया जाना बाकी है और अगर वे सभी तथ्य उपलब्ध होते तो यह शोध-कार्य और ज्यादा पूर्ण होता।

यह मेरा परम सौभाग्य रहा है कि डा० नामवर सिंह के कुशल निर्देशन में मुझे शोध-कार्य करने का अवसर मिला। शोध-कार्य के दौरान मेरी ऐसी धारणा बनी है कि निर्देशक शोध की रचना-प्रक्रिया का बाहरी तत्त्व नहीं, बल्कि अंतरंग होता है। निर्देशक शोधकर्त्ता की चेतना का अंग बनकर एक तो भीतरी संसार का काम करता है और दूसरे, सही मार्ग का निर्देश करता है। डा० नामवर सिंह ने मुझे हमेशा 'उपदेश' के बदले 'निर्देश' ही दिये हैं और मेरी चेतना में निहित निर्देशक को शक्तिशाली बनाया है। संभवतः यही कारण है कि मेरे कार्य में उन्होंने बहुत ज्यादा फेरबदल नहीं किया और मतभेदों को बने रहने दिया है। यह शोध-कार्य उन्हीं के कुशल निर्देशन का फल है। अतः उन्हें धन्यवाद देना तो बेतुकी बात ही होगी।

इस अवसर पर मैं अपने गुरुवर डा० मैनेजर पाण्डेय का ऋण भी स्वीकार करता हूँ जिन्होंने शोध-कार्य की मूल प्रेरणा दी और विषय चयन में मदद की।

शोध-कार्य के लिए मैं उन पुस्तकालयों का भी आभारी हूँ, जहाँ से

मैंने पुस्तकें, पत्रिकाएँ आदि लेकर पढ़ी हैं। विशेष रूप से मैं काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी और मारवाड़ी पुस्तकालय, चाँदनी चौक, दिल्ली का आभारी हूँ जहाँ से मुझे उस युग की पत्र-पत्रिकाएँ प्राप्त हुई हैं। मैं उन सभी मित्रों का भी आभारी हूँ, जिनसे मैंने इस विषय पर विचार-विमर्श किया है और कई सार्थक सुझाव पाए हैं। मैं श्री हरप्रकाश गौड़ और बुद्धाराम सुडसुड़िया को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने शोध-कार्य में सहायता की है।

— रामबक्ष जाट

हिंदी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक

बसंत पंचमी
22 जनवरी 1980

विषय - सूची

		पृष्ठ संख्या
	प्रस्तावना	i - viii
पहला अध्याय	पथ सन्धान और किसानों के महत्व की पहचान (1900 - 1919 ई०)	1 - 53
	: हिन्दी साहित्य की परंपरा और प्रेमचंद	
	: बचपन का परिवेश और अनुभव	
	: अंग्रेजी राज में किसान	
	: प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन की शुरुआत और किसान	
	: कांग्रेस, राष्ट्रीय राजनीति और प्रेमचंद	
	: 'हम खुर्मा और हम सवाब' और अन्य रचनाएँ	
	: 'सोज़े वतन' और उसके बाद	
	: वरदान	
	: किसान और बुद्धिजीवी	
दूसरा अध्याय	सर्जनात्मक विकास और किसान के वर्गीय संबंधों के उद्घाटन का प्रयास (1919-1929 ई०)	54 - 126
	: प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी क्रांति और प्रेमचंद	
	: असहयोग आन्दोलन और रंगभूमि	
	: साम्प्रदायिकता और प्रेमचंद	
	: असहयोग आन्दोलन की समाप्ति और प्रेमचंद का रचनात्मक शैथिल्य	

: निर्मला
: कायाकल्प
: प्रतिज्ञा
: 'माधुरी' का सम्पादन
: प्रेमचंद का लखनऊ प्रवास
: निष्कर्ष

तीसरा अध्याय — चिन्तन की परिपक्वता और स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की भूमिका (1930-1936 ई०) — 127-212

: प्रेमचंद के चिन्तन का सर्जनात्मक महत्व
: स्वाधीनता आन्दोलन की समीक्षा
: 'हंस' का प्रकाशन और प्रेमचंद का जीवन संघर्ष
: स्वाधीनता आन्दोलन और अंग्रेजी राज
: स्वदेशी पर पुनर्विचार
: देशी रजवाड़े
: समाज में जमींदारों की भूमिका
: किसानों के कष्ट
: साम्प्रदायिकता और संस्कृति
: मोहभंग का काल 1933-1936
: प्रेमचंद और समाजवाद
: प्रेमचंद का साहित्य-चिंतन

चौथा अध्याय — सर्जनात्मक उत्कर्ष और किसान जीवन की जटिलता में अन्तःप्रवेश (1930-1936 ई०) — 213-265

: 'हंस' और प्रेमचंद के साहित्य में नया मोड़
: स्वाधीनता आन्दोलन का उभार (1930-1931 ई०)

: किसान (1930-1931)
: गबन
: कर्मभूमि (1932 ई0)
: राजनीति और कहानियाँ (1932-1936 ई0)
: सामाजिक कहानियाँ
: गोदान
: अंतिम रचनाएँ
: मंगलसूत्र

पाँचवाँ अध्याय — प्रेमचंद के साहित्य में किसानों के आर्थिक शोषण की प्रक्रिया — 266-316

: प्रेमचंद की रचनाओं में किसान के शोषण की प्रकृति
: उपनिवेशवादी शोषण और किसान
: औपनिवेशिक तंत्र और राजकर्मचारी
: किसानों का शोषण - जमींदारों द्वारा
: कारिंदा, मुख्तार, चपरासी
: महाजन और किसान का शोषण
: धार्मिक शोषण
: किसानों में वर्गचेतना

छठा अध्याय — प्रेमचंद के साहित्य में किसानों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन — 317-368

: किसानों के अन्य वर्गों से सामाजिक संबंध
: जमींदार - किसान
: महाजन और किसान
: शहर से किसान का सामाजिक संबंध
: बुद्धिजीवी और किसान

किसानों के आपसी संबंध

: जाति-व्यवस्था और भारतीय किसान

: किसान समाज की संरचना

परिवार, परिवार में मुखिया का स्थान,

किसान परिवार में बच्चों की स्थिति,

नारी का स्थान

: भारतीय किसानों में शादी-ब्याह

: किसानों का सामुदायिक जीवन

सातवाँ अध्याय — प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि — 369-414

: जीवन-दृष्टि और साहित्य

गाँधीजी और प्रेमचंद

: सृष्टि की उत्पत्ति और मनुष्य की

सर्जनात्मक शक्ति

: राष्ट्रीयता

: जनतंत्र की धारणा

: प्रेम की धारणा

भारतीय किसान और प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि

आठवाँ अध्याय — उपसंहार — 415-426

प्रेमचंद-साहित्य में भारतीय किसान की

संश्लिष्ट प्रतिमा

ग्रंथ-सूची — 427-445

—

पहला अध्याय

पद सन्धान और विद्यानों के मूल्यांकन की पहचान

(1900–1919 ई०)

हिन्दी साहित्य की परंपरा और प्रेमचन्द :

प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत उर्दू से की और धीरे-धीरे वह हिन्दी भाषा की ओर आये । इसलिए उनके साहित्यिक कृतित्व का मूल्यांकन करने के लिए हिन्दी साहित्य की आधुनिक परंपरा का ज्ञान भी आवश्यक है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् 1850 - 1885 ई०) के साथ ही हिन्दी साहित्य आधुनिक युग में प्रवेश करता है । इस युग में साहित्य के सिद्धान्त, स्वरूप, प्रयोजन आदि को लेकर नये सवाल उठे, जिन पर खूब बहसें हुईं । भारतेन्दु पुरानी और नयी दोनों साहित्यिक परंपराओं के बीच में खड़े थे । रीतिकालीन दरबारी कविता और समकालीन सामाजिक परंपरा – इन दोनों का संघर्ष उस युग में मुख्य था । उस समय साहित्य के उद्देश्य के संबंध में दो प्रमुख विरोधी धारणायें थीं । एक धारणा के अनुसार साहित्य मनोरंजन का साधन है, और दूसरी के अनुसार साहित्य ज्ञान का साधन है । पहली धारणा को मानने वाले लेखकों ने साहित्य में चमत्कार, रस, छंद और अलंकार को महत्त्व दिया । उनके पाठकों का बड़ा भाग सामाजिक जीवन में निष्क्रिय था, सभ्य कहना ही उनका मुख्य धंधा था । ये लोग अधिकतर दरबारी सामंती जीवन मूल्यों के समर्थक थे । ये साहित्य में 'नवीनता' के नहीं बल्कि 'चमत्कार' के कायल थे । इनके अनुसार साहित्य के विषय सीमित होते हैं, मानव जीवन के सभी पक्षों पर साहित्य लिखना साहित्य को शुष्क बना देना है । इन्होंने गद्य के बजाय पद्य को और खड़ी बोली के बजाय ब्रजभाषा को पसंद किया । ये लोग पाठकों में 'सहृदयता' और 'दानवीरता' को ही खोजते थे । इन्होंने

प्रेस और पत्रकारिता को साहित्यिक पतन का रूप समझा । हिन्दी में बहुत दिनों तक इस परंपरा का दबदबा रहा है । अब भी इस परंपरा के प्रबल समर्थक साहित्यकार मिल जाते हैं । प्रेमचन्द और अन्य जनवादी साहित्यकारों ने इस परंपरा से बड़ा संघर्ष किया ।

दूसरी परंपरा की मूल स्थापना यह है कि साहित्य भी ज्ञान प्राप्ति का एक साधन है । इस परंपरा में परंपरा विरोधी विचारों और जीवन मूल्यों के साहित्यकार मिलते हैं । इन लोगों ने चली आती हुई साहित्य परंपरा का विरोध किया है, जिसके कारण उस परंपरा के कई प्रबल प्रभाव इस पर पड़े हैं । वास्तव में बहुत दिनों तक इन दोनों परंपराओं का परस्पर अन्तरावलम्बन रहा है । ''साहित्य मनोरंजन के माध्यम से शिक्षण'' है, यह धारणा इन दोनों विरोधी परंपराओं के सामंजस्य का परिणाम है । इनके अनुसार साहित्य अन्य मानवीय ज्ञान-विज्ञानों की तरह और उनके साथ ही साथ मनुष्य की ज्ञानशक्ति और बोधशक्ति को विकसित करता है । साहित्य विवेक व्यापक जीवन विवेक का अंग है । अतः अन्य शास्त्रों के परिचय के बिना साहित्य विवेक विकसित नहीं किया जा सकता । साहित्य समाज में (निर्धारित) संदेश होता है । (इस संदेश के स्वरूप के बारे में इस परंपरा के साहित्यकारों में मतभेद भी है ।) इन साहित्यकारों ने पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा ली, उसको चुनौती देने का प्रयास किया और उसके समान और उसके जैसा ही नहीं — बल्कि उसकी टक्कर के साहित्य सृजन का हौसला भी दिखाया । इस वर्ग ने प्रेस और पत्रकारिता पर अधिकार किया और अन्यान्य विधाओं के साथ नये ढंग से साहित्यिक चर्चायें की । इन्होंने साहित्य का विशाल पाठक-वर्ग पैदा किया और मोटे रूप से उनमें जनतांत्रिक भावनाएँ जगाईं । साहित्य में ये 'चमत्कार' के नहीं, बल्कि नवीनता और उपदेशात्मकता के कायल थे । इन्होंने साहित्य को देशप्रेम से जोड़ा और देश-दशा और साहित्य-दशा की समानान्तरता बताते हुए देशप्रेम को साहित्यप्रेम और भाषा-प्रेम से जोड़ा तथा भाषा की उन्नति को देश की उन्नति का मूल बताया । इन्हीं लोगों ने गद्य

का प्रचार किया और खड़ी बोली के समर्थन में संघर्ष चलाया । इन रचनाओं का पाठक एक सामाजिक कार्यकर्ता होता था । वह व्यक्ति देशोद्धार में लगा हुआ था और यह साहित्य उसके इस कार्य में सीधी मदद पहुँचाता था । इन लोगों की मानसिक संरचना पर तत्कालीन धार्मिक-सुधारवादी आन्दोलनों का गहरा असर रहा है ।

समकालीन अधःपतन के कारण प्रतिक्रिया की सीख की पैरवी इस काल के लेखकों को साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित करती थी । इस अधःपतन के कारणों की खोज में कुछ लोगों ने तत्कालीन धार्मिक - रूढ़ियों को टटोला और उनमें जातिप्रथा, बहुविवाह, बालविवाह का विरोध किया । इन सामाजिक रूढ़ियों का धार्मिक तर्कों से विरोध इस युग की आम कमजोरी रही है । यही लोग सारे भारत में 'सच्चा' और 'वास्तविक' धर्म स्थापित करने में लगे । ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवियों के दो मुख्य खेमे बन गये । उनमें से एक ने तर्क और बुद्धि से ही तत्कालीन समाज में प्रचलित रूढ़ियों का समर्थन करना शुरू किया । दूसरे ने, तत्कालीन धर्म की बुद्धिवादी आलोचना करते हुए भी प्राचीन वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । कुछ भी हो, इन दोनों के संघर्ष से धार्मिक मसलों में बुद्धि का दखल बढ़ा और 'आस्था' में आस्था कम हुई । परंपरा विरोधी हो या परंपरावादी दोनों अपने पक्ष के समर्थन में वेद, पुराण, शास्त्र, इतिहास, विज्ञान, दर्शन से उद्धरण देने लगे । इससे ज्ञान की भूख और ज्ञान की महिमा बढ़ी । दोनों के संघर्ष से बुद्धि और अनुभवपरक ज्ञान को सत्य मानने में लोगों का विश्वास जमने लगा । अपने आपको, देश को, समाज और धर्म को लोग प्रश्न भरी दृष्टि से देखने लगे ।

इसी बीच राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत होती है जिसे उन्नीसवीं सदी के अंत तक तो धार्मिक - सामाजिक सुधार आन्दोलन ही प्रमुख रहे । बीसवीं शताब्दी के साथ राष्ट्रीयता की नई लहरें उठीं, जिसने सुधार-वादी चेतना को अपने भीतर ही समाहित कर लिया । इस परंपरा के साहित्यकारों ने यह दिखा दिया कि दैनिक जीवन की नीरस जिंदगी में भी

साहित्यिक सरलता मौजूद है, कि साहित्य समाज-सुधार का एक माध्यम है, कि अनुपयोगी ज्ञान सत्य है, कि यह दुनिया और मानव जीवन ऐसा नहीं है जिसकी उपेक्षा की जाए, कि साहित्य का विषय-क्षेत्र सीमित नहीं होता, कि साहित्यकार एक जिम्मेदार व्यक्ति होता है ।

प्रेमचन्द उसी दूसरी परंपरा के साहित्यकार हैं । बीसवीं शताब्दी के साथ शुरू हुए नए राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्यिक उत्थान के बीच प्रेमचन्द का रचनाकार मानस पला और विकसित हुआ । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों द्वारा उपस्थित की गई समस्याओं को नया परिप्रेक्ष्य दिया और नवीन समस्याओं की नवीन व्याख्यायें की ।

बचपन का परिवेश और अनुभव :

धनपतराय का जन्म 30 जुलाई 1880 को लमही (गाँव) में हुआ, जो बनारस (शहर) से चार मील दूर है । जन्मजात के बाप प्रेमचंद जितना गाँव से जुड़े हुए थे, उतना ही शहर से भी । इसलिए उन्होंने दोनों की अस्मिता और सम्बन्ध-भावना को देखा था । यहाँ यह कहना आवश्यक है कि शहर के नाम से जिस आधुनिक औद्योगिक शहर की तस्वीर उभरती है, उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के आरंभ का बनारस ऐसा शहर भी नहीं था । इस गाँव की मिट्टी में प्रेमचंद पले, बढ़े हुए और उन्नति के शिखर पर चढ़े । बीच-बीच में नौकरी के सिलसिले में अन्य स्थानों में भी रहे । पर मुख्यतः बनारस के ही आसपास उनकी जिंदगी का बड़ा हिस्सा बीता । गाँवों में जमींदार, पटवारी, कुर्मी, मल्लाह, पुरोहित, दुकानदार, छोटे-बड़े किसान — विभिन्न धर्मों और जातियों के मानने वाले — रहते ही थे । प्रेमचंद की संवेदनशीलता इन्हीं वर्गों के आपसी संबंधों से निर्मित समाजव्यवस्था से बनी ।

उनके पिता मुंशी अजायबलाल डाकखाने में क्लर्क थे । प्रेमचंद कायस्थ थे — ब्राह्मण नहीं थे । उनकी जीवनदृष्टि की बुनावट में इस तथ्य का भी योग है । धर्म किसी ब्राह्मण के लिए मात्र पूजा और उपासना की

वस्तु नहीं होता, बल्कि वह उनके जिंदा रहने की एक शर्त होता है, धर्म से उनकी जीविका चलती है । इसलिए धार्मिक घृणा के बीज इन्हीं में जल्दी पनपता है । इसीलिए ब्राह्मणों ने धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों के सम्पर्क अधिकतर सनातन धर्म का ही पक्ष लिया । दूसरी ओर, कायस्थ राजस्व से जुड़ा होने के कारण सामान्यतः गैर-मजहबी होता है । कायस्थों का जीवन-व्यापार कोर्ट, कचहरी, रेवेन्यू या अन्य सरकारी नौकरियों में ही चलता है । मुगलों के जमाने से ही इन लोगों ने अपनी सेवायें राजकीय कार्यों में अर्पित की । वैसे भी कायस्थ पढ़ा ही कार्य्य सम्पन्न करता है और जीवन - व्यवहार में पढ़ा ही यथार्थदर्शी होता है । वह किसी आध्यात्मिक या भावात्मक मूल्यों के नाम पर एक भी पैसे का नुकसान नहीं करता । व्यक्तिगत और जातीय स्वार्थों के इस भाव ने साहित्यिक यथार्थवाद को पनपने में मदद की । प्रेमचंद ने उर्दू - फारसी के मदरसों में शिक्षा पाई, कुछ दिन मिशन स्कूल में भी पढ़े, सरकारी स्कूलों की भी खाक छानी । सब मिलाकर उन्हें गैर- मजहबी बनाने में सहायक हुए । उन पर आर्यसमाज का प्रभाव पड़ा, तब भी उन्हें मुस्लिम - विरोधी भावनाओं की उग्रता को वे अपना नहीं सके । वे उनके सामाजिक सुधार वाले पक्ष तक ही सीमित रहे ।

प्रेमचंद का बचपन आर्थिक तंगी में बीता । आर्थिक तंगी और सामाजिक परेशानियों ने (माता की मृत्यु और पिता की दूसरी शादी) उन्हें अत्यंत संवेदनशील बना दिया । इससे उनमें भावात्मक असंतोष और छोटी-छोटी जिद्दें भी पूरी न हो पाने के कारण खिन्नता पैदा हुई । अभावों से उत्पन्न इस कल्पनाशीलता की भावुकता को प्रेमचंद ने महसूस किया । इसी भावुकता को याद करते हुए बाद में प्रेमचंद ने अपने बचपन की याद में आँसू बहाये हैं । इस कल्पनाशीलता को 'तिलस्म होशरुबा' और बंगाली की लोकप्रियता ने विस्तार दिया । एक तरफ उनके जीवन का कटु यथार्थ और दूसरी ओर तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों का यह मुग्ध संसार — इसने उनके चिंतन और जीवन-व्यवहार में एक बुनियादी अलगाव पैदा किया । चिंतन और कल्पना में सुन्दर राजकुमारियाँ होतीं, घोड़े पर सवार चतुर राजकुमार होते और

जीवन में अत्याचार से पीड़ित हिन्दू विधवा दिखाई देती, जेठ की दुपहरी में गट्ठर सिर पर लादे, नंगे पाँव चलते हुए किसान दिखाई देते । यहीं से एक बेचैनी की शुरुआत होती है । उनका साहित्य इस बेचैनी से शुरू होता है, समस्या की तह तक जाना चाहता है ; और ऐसा लगता है कि बार-बार अंधेरे से टकराकर लौट आता है । रूसी क्रांति (1917 ई०) तक उनकी कहानियों और उपन्यासों में यही बेचैनी मुख्य है । यहाँ तक वे अपनी जीवन दृष्टि की असंगतियों और कमियों को महसूस कर रहे थे, उनको दूर करने का प्रयास कर रहे थे । 1899 ई० तक अपनी शिक्षा समाप्त कर वे 18 रुपये मासिक के अध्यापक बन गये । एक तरह से यहाँ तक उनका बचपन भी खत्म हो जाता है । बीसवीं सदी में उनका जीवन नये कार्यक्षेत्र में आता है, इस सदी ने उनको नये दायित्व और नवीन संघर्ष के बीच खड़ा कर दिया । राष्ट्रीय राजनीति में चल रहे देशोद्धार के नारे के बीच प्रेमचंद ने सवाल उठाया कि सच्चा देशभक्त कौन है ? देशोद्धार का सही मार्ग क्या है ? इस उद्धार के बाधक तत्व कौन हैं ? और इस समकालीन अधःपतन का जिम्मेदार कौन है ? इन्हीं सवालों के साथ प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत की । वैसे तो प्रेमचंद ने सन् 1900 से ही अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत मानी है, पर उनकी रचनायें 1903 ई० से ही मिलती हैं । अतः यहीं से उनके साहित्यिक जीवन की शुरुआत माननी चाहिए ।

अंग्रेजी राज में किसान :

1757 ई० के प्लासी युद्ध के बाद अंग्रेज भारत में जम गये । 1764 के बक्सर युद्ध के बाद तो हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी उनका दबदबा हो गया । 1857 के विद्रोह के बाद तो सारे भारत में अंग्रेजों की ही तूती बोलने लगी । अंग्रेजों ने भारतीय राज्यव्यवस्था में कुछ नए परिवर्तन किये, जिनके दूरगामी परिणाम हुए । वारेन हेस्टिंग्स ने सबसे पहले इस धारणा को सामने रखा कि सारी जमीन सरकार की है । जमीन जोतने वाला किसान

तो सरकार से जमीन किराये पर लेता है । अतः जमीन की उपज का सरकारी हिस्सा 'टैक्स' नहीं, 'रेन्ट' है । दूसरे, 1793 में कार्नवालिस ने 'स्थायी बंदोबस्त' के अधीन बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जमीन जमींदारों को दे दी । शेष भारत के कुछ हिस्सों में रैयतवाड़ी और अन्य हिस्सों में जमींदारी व्यवस्था लागू हुई । इस स्थायी बंदोबस्त में सरकारी हिस्सा उपज का 90 फीसदी तय हुआ । उत्तरी भारत में 83 फीसदी लगान निश्चित हुआ । जब इसको उगाहने में कठिनाई हुई तब पहले 75 फीसदी, फिर 66 फीसदी और अंत में 1855 ई० में 50 फीसदी कर दिया गया ।[2]

इन कृषि संबंधों के कारण पुरानी पुश्तैनी जमींदार टूटे और नये व्यवसायी जमींदार वर्ग का उदय हुआ, जिसका हित ब्रिटिश साम्राज्य के साथ जुड़ा हुआ था । विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने जमींदारों और राजाओं के साथ मित्रता की । औद्योगिक नीति के कारण कृषि पर निर्भर आबादी बढ़ी । सरकार और किसान के बीच बिचौलियों की एक नयी फौज बनी जिसमें पटवारी, महाजन से लगाकर कारिंदा, जमींदार, पुलिस, वकील तक सम्मिलित थे । किसानों का सीधा संपर्क इन्हीं लोगों से था । अतः जब भी किसानों ने अन्याय के खिलाफ सर उठाया तो वे इन बिचोलियों से ही टकराये । बहुत दिनों तक किसान आन्दोलन सामंतवाद विरोधी संघर्ष का ही एक रूप हुआ करता था । जो मूलतः साम्राज्यवाद विरोधी भी होता था । 1920 तक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने जब किसानों को संगठित करना शुरू किया, तभी उनमें राजनीतिक चेतना पनपी । इसलिए गफ ने 1920 ई० के पहले के किसान-संघर्षों को 'प्री - पोलिटीकल' कहा है ।[3] किसान संघर्ष के स्थानीय और सामंत विरोध (मात्र) होने के कारण ही बहुत दिनों तक अंग्रेजों ने इस बात को बहुत उछाला कि भारत की विशाल मूक किसान जनता के वास्तविक हितैषी अंग्रेज ही हैं ।[4]

इसके बावजूद, कि किसानों ने अब तक राजनीतिक संघर्ष में सीधे भाग नहीं लिया था, फिर भी धीरे-धीरे बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों की दृष्टि किसानों की ओर जाने लगी थी । अपने सिद्धान्त

और व्यवहार को वे गाँधी की समस्याओं की कसौटी पर भी कसने लग गये थे । वास्तव में तत्कालीन भारतीय बुद्धिजीवी में एक भीतरी अलगाव था — यह अलगाव उसके जीवन व्यवहार और उसके चिंतन का था । वह जो कुछ सोचता था उसकी पृष्ठभूमि इंग्लैंड या यूरोपीय विचारों की होती थी, जबकि उसे हिन्दुस्तान में रहना होता था । वे यहाँ के अंग्रेजों और इंग्लैंड के अंग्रेजों को एक ही समझकर उनकी भी न्यायप्रियता और स्वाधीनता-प्रेम की प्रशंसा किया करता था । इस वर्ग ने इस संदर्भ में जो रचनात्मक भूमिका निभाई — यह यह थी कि इंग्लैंड और यूरोपीय इतिहास की प्रजातांत्रिक परंपराओं की पहचान और उनका प्रस्तुतीकरण था । हिन्दुस्तान में इंग्लैंड का साम्राज्यवादी रूप आया, इन बुद्धिजीवियों ने उसका दूसरा रूप भी सामने रखा ।

प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन की शुरुआत और किसान :

स्वयं प्रेमचंद ने राजतंत्र और प्रजातंत्र की आपसी लड़ाई को मद्देनजर रखते हुए 'आलिवर क्रामवेल'[5] पर जून 1903 में जीवनीपरक लेख लिखा है । इस लेख में प्रेमचंद की भावी रचनात्मक जिज्ञासा और जीवन-दृष्टि का बोध भी होता है । इसमें उन्होंने क्रामवेल के किसान जीवन पर लिखते हुए लिखा है कि "ऐसा बहुत कम संयोग हुआ है कि एक साधारण, शांतिप्रेमी किसान के रोजाना हालात विस्तार के साथ लिखे हुए मिल सकते हों या उनमें किसी को भी दिलचस्पी और अजब-अनोखी बातें पायी जाती हों । क्रामवेल की जिन्दगी यहाँ कुछ ऐसी सादगी और खामोशी से बसर होती थी कि उसके बारे में बहुत कम हालात मालूम होते हैं ।[6]

इस उद्धरण से रचनाकार प्रेमचंद की भीतरी लालसा का पता चलता है । यह तथ्य उनके लेखकीय व्यक्तित्व के लिए चुनौती भी बना, जिसका रचनाओं द्वारा उन्होंने जवाब भी दिया है । यहीं से प्रेमचंद के मन में एक संभावना पैदा हुई कि किसी- कहानी का नायक साधारण किसान क्यों नहीं हो सकता ? फिर भी इस दौर में उन्होंने जो रचनायें लिखी उनमें साधारण

किसान का साधारण जीवन नहीं आया ।

उनका पहला उपलब्ध उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान-रहस्य'[7] है, जो 1903 ई० में छपा । उपन्यास शिवाग्रह है । इसमें देवस्थानों में व्याप्त व्यभिचार की कलई खोली गई है । इसमें मंदिर के महंतों और पुजारियों द्वारा कुलीन घरानों की लड़कियों की किस चालाकी से इज्जत लूटी जाती है — उसका वर्णन है । इस उपन्यास की पीठि दृष्टि है कि इन लोगों ने धर्म की आड़ में पाप कर्म किये हैं, सच्चा धर्म लुप्त हो गया है और इन्द्रियों के गुलाम मठ्ठ उसके ठेकेदार बन बैठे हैं । लेकिन इसमें सारी माहौल और व्यभिचार - प्रसंग का वर्णन इतना मादक और रसीला है कि पाठक के मन में भी व्यभिचार के प्रति आकर्षण ही पैदा होता है । इस कारण यह उपन्यास अपने उद्देश्य में असफल है । उपन्यास के अधिकांश पात्र कुलीन हैं ; अंत रीति-नीति इसमें 'आजाद कथा' के जोड़ की चलक भी दिख जाती है । इस ऐशो-आराम के वर्णन के बाद प्रेमचंद ने यह भी दिखा दिया है कि इस मंदिर के पुजारियों के ठाट-बाट का स्थायी आधार यह इलाका है, जिससे जमीन से इतनी आमदनी होती है । रामलीला के गहने लूटने के लिए जो ढोंग रचा जाता है उसमें उसी इलाके के नीलाम हो जाने की मनगढ़न्त कहानी बतायी गयी है । उपन्यास के बीच में एक जगह दो पढ़े-लिखे सज्जन इस विषय पर बहस करते हैं, जिनमें से एक अंग्रेजी पढ़ा लिखा व्यक्ति कहता है कि ''जो लोग मुफ्त की चपौतियां करेंगे, दूसरे के सिर पर पुलौड़ियां खायेंगे, वे आखिर-कार ऐश पसन्द और आरामतलब हो जायेंगे ।[8]'' फिर उसी व्यक्ति ने किसान से ऐंठने में पोप और राजसत्ता के संघर्ष का इतिहास भी बताया है ।

कुल मिलाकर यह उपन्यास सुधारवादी दृष्टि का उपन्यास है । इसमें सामाजिक सुधार की आवाज धर्म-सुधार के रूप में की गयी है । किसानों पर सीधे न लिखते हुए भी किसानों की मेहनत से उत्पन्न धन के इसमें संकेत जोड़ा गया है । इसमें तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का नहीं,

बल्कि समाज-सुधार आन्दोलन का प्रभाव है ।

कांग्रेस, राष्ट्रीय राजनीति और प्रेमचंद :

कांग्रेस की स्थापना के बाद (1885 ई० से सन् 1905 तक देश में कोई बड़ा राजनीतिक आन्दोलन नहीं हुआ था । समकालीन अधःपतन के कारण-प्रक्रिया की खोज उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही शुरू हो गयी थी, लेकिन अभी तक बुद्धिजीवियों ने कांग्रेस को इस अधःपतन का कारण नहीं बताया था । उन्होंने अपनी परंपरा की पुनः परीक्षा की, धार्मिक रूढ़ियों को दोष दिया, मुस्लिम शासकों की कथित बर्बरता पर आंसू बहाये – पर कांग्रेस को अपना दुश्मन मानकर । कांग्रेस में अब तक गोखले आदि 'नरमदल वालों' का ही बहुमत था, जो उच्चकुलीन वर्ग के लोग थे । जिनका आर्थिक हित अंग्रेजों से संधि जुड़ा हुआ था । कांग्रेस का काम सिर्फ अर्जियां देना और प्रार्थना करना था । श्री पट्टाभिसीतारामय्या ने कांग्रेस की आरंभिक कार्यपद्धति के बारे में लिखा है कि ''कांग्रेस के प्रस्तावों के समर्थन में जो व्याख्यान होते थे और कांग्रेस के अध्यक्ष जो भाषण दिया करते थे उनमें दो बातें हुआ करती थीं – एक तो प्रभावकारी तथ्य और आंकड़े, दूसरे अकाट्य दलीलें । उनके उद्गारों में जिन बातों पर अक्सर जोर दिया जाता था वे ये थे – अंग्रेज लोग बड़े न्यायी हैं और अगर उन्हें ठीक तौर पर वास्तविक दशा ज्ञात हो तो वे सदा और एक के पक्ष से जुदा न होंगे; हमारे सामने असली मसला अंग्रेजों का नहीं बल्कि अधिकारियों का है; बुराई पद्धति में है, न कि व्यक्ति में; कांग्रेस बड़ी राजभक्त है, ब्रिटिश ताज से नहीं बल्कि हिन्दुस्तानी नौकरशाही से झगड़ा है; ब्रिटिश विधान ऐसा है जो लोगों की स्वाधीनता का सब तरह रक्षण करता है और ब्रिटिश- पार्लिमेंट प्रजातंत्र पद्धति की माता है; ब्रिटिश विधान संसार के सब विधानों से श्रेष्ठ है; कांग्रेस राष्ट्रीय करने वाली संस्था नहीं है; भारतीय राजनीतिक सरकार का भाव लोगों तक और लोगों का सरकार तक पहुंचाने का स्वाभाविक साधन है, हिन्दुस्तानियों की सरकारी

नौकरियाँ अधिकाधिक दी जानी चाहिए, ऊँचे पदों के योग्य बनाने के लिए उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए ; विश्वविद्यालय, स्थानिक संस्थायें और सरकारी नौकरियाँ ये हिन्दुस्तान के लिए तालीमगाह होनी चाहिए ; धारा सभाओं में चुने हुए प्रतिनिधि होने चाहिए और उन्हें पूछने तथा बजट पर चर्चा करने का अधिकार मिलना चाहिए ; प्रेस और जंगल कानून की कठोरता कम होनी चाहिए ; पुलिस लोगों की मित्र बनकर रहे ; कर कम होने चाहिए ; फौजी खर्च घटाया जाय ; कम से कम इंग्लैंड उसमें कुछ हिस्सा ले ; न्याय और शासन विभाग अलग-अलग हों ; प्रांत और केन्द्र कार्यकारिणियों और भारत मंत्री की कौंसिल में हिन्दुस्तानियों को जगह दी जाय ; भारतवर्ष को ब्रिटिश-पार्लमेन्ट में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व मिले और प्रत्येक प्रांत से दो प्रतिनिधि लिए जायं ; नान रेग्युलेटेड प्रांत रेग्युलेटेड प्रांतों की पंक्ति में लाये जायं ; सिविल सर्विस वालों के बजाय इंग्लैंड के सार्वजनिक जीवन के नामी नामी ब्रिटिश गवर्नर बनाकर भेजे जायं ; नौकरियों के लिए भारत और इंग्लैंड में एक साथ परीक्षायें ली जायं ; इंग्लैंड को प्रतिवर्ष भारत से जो रकम जाती है वह रोका जाय और देशी उद्योग-धंधों को तरक्की दी जाय ; लगान कम किया जाय और बंदोबस्त दायमी कर दिया जाय । कांग्रेस यहाँ तक आगे बढ़ी कि उसने नमक कर को अन्यायपूर्ण बतलाया, दूतीमाल पर की उपज को अनुचित बतलाया और सिविलियन लोगों को दिये जाने वाले विनिमय-दर-मुआवजे को गैरकानूनी बतलाया और 1893 में मालवीयजी महाराज की दृष्टि यहाँ तक पहुँच गई थी कि उन्होंने ग्राम-उद्योगों के पुनरुद्धार के लिए भी एक प्रस्ताव उपस्थित किया था ।"[9]

कांग्रेस की लगान संबंधी नीति की मुख्य माँग यह थी कि सारे भारतवर्ष में स्थायीबंदोबस्त लागू कर दिया जाय । यह माँग भारत के राजनीतिक आकाश में सबसे पहले 30 नवम्बर 1839 को उठी । जमींदारी एसोसिएशन' (सन् 1837), जिसने अप्रैल 1838 में अपना नाम 'भूस्वामी समाज' कर दिया, जब 1839 ई० में इंग्लैंड के 'ब्रिटिश

पीड़िया समाज' में विलीन हो गया, तब उसके चार उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी था कि 'ब्रिटिश भारत के सभी भागों में स्थायी बंदोबस्त या उसी की प्रकृति का प्रबंध किया जाय ।'[10] उसी संस्था ने जमींदारों और किसानों के समान हितों की चर्चा की और उनके बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया ।

राजनीतिक आन्दोलनों के साथ-साथ कुछ धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन भी देश में चलने लगे थे । इन लोगों ने भी गांवों में घूम-घूम कर जनता में आत्मबल, साहस और स्वाधीनता के भाव जगाने के प्रयास किये । स्वामी दयानंद सरस्वती के 'आर्य समाज' आन्दोलन का व्यापक प्रचार हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हुआ है । इसके अलावा स्वामी विवेकानंद ने एक पराजित जाति में आत्मगौरव पैदा करने का अथक प्रयास किया । 1893 में हुई विश्व धर्म कांग्रेस में उन्होंने भाग लिया । ब्रिस ब्रोपोत्किन से मुलाकात की । उन्होंने बहुत पहले कहा था कि ''मैं एक समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि यह व्यवस्था पूर्णतः परिपूर्ण है, बल्कि इसलिए कि एक भी रोटी न होने से, आधी रोटी ही भली है ।'' मजदूर वर्ग की अन्तर्निहित शक्ति को पहचानने से वह नहीं चूके । '' अगर मजदूर काम करना बंद कर दें, तो आपको रोटी और कपड़ा मिलना भी बंद हो जायगा । और, आप उन्हें नीच वर्ग के लोग समझते हैं और उनके सामने अपनी संस्कृति का ढोल पीटते हैं । अपने को जिंदा रखने के संघर्ष में उलझे रहने के कारण, उन्हें ज्ञान के जागरण का अवसर नहीं मिला । अब तक उन्होंने मानव बुद्धि द्वारा संचालित मशीनों की तरह एकचित्त, एकरस होकर काम किया है और चतुर, चालाक, शिक्षित लोगों ने उनके श्रम के फलों का अधिकांश भाग हड़पा है । हर देश में ठीक यही दशा रही है । किन्तु, अब जमाना बदल गया है । इस सचाई के प्रति निचले वर्ग जाग रहे हैं, और अपने वैध अधिकारों को हासिल करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होकर वे अपना एक संयुक्त मोर्चा बना रहे हैं । उच्च वर्ग अब कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, वह इस निचले वर्ग को

चुका नहीं सकता । उच्च वर्गों का कल्याण अब इसी में है कि वे निचले वर्गों के वैध अधिकारों को हासिल करने में उनकी सहायता करें ।''[11] विवेकानंद ने देश के उद्धार के लिए शूद्रों और निम्न वर्ग के लोगों को ही सक्षम माना । इन दोनों विचारकों का व्यापक प्रभाव भारतीय बुद्धिजीवियों पर पड़ा है । स्वयं प्रेमचंद पर इनका असर पड़ा है । आर्यसमाज के तो वे मेम्बर भी थे । विवेकानंद पर भी उन्होंने एक लेख कल्याण के लिए लिखा है ।

राजनीतिक स्तरों में ''नरम दल वालों'' ने सरकार की लगान नीति, और कर नीति की आलोचना शुरू कर दी थी । रमेशचन्द्र दत्त, दादा भाई नौरोजी, महादेवगोविंद रानडे, गोपालकृष्ण गोखले ने सरकार की लगान नीति सुधारने के लिए दबाव डाला । गोखले ने कौंसिल में सरकारी बजट की आलोचना करते हुए किसानों की ब्रिटिश भारत की आर्थिक स्थिति का आधार कहा और किसानों को कम ब्याज पर ऋण देने की व्यवस्था की माँग की ।[12] तिलक ने इससे आगे बढ़कर किसानों को राजनीतिक शिक्षा देने की हिमायत की । 'केसरी' 12 जनवरी 1897 में उन्होंने लिखा कि पिछले चार वर्षों से हम हिला रहे हैं कि सरकार हमारी नहीं सुनें, क्योंकि सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंगती । अब यह जरूरी हो गया है कि अपनी परेशानियों को दूर करने के लिए हम शक्तिशाली संवैधानिक आन्दोलन चलायें । हमें भोले-भाले गांव वालों को राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिए । हमें उनसे समानता के स्तर पर मिलना चाहिए, उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना चाहिए और संवैधानिक तरीके से संघर्ष करने की विधि समझानी चाहिए । तभी हम सरकार को यह विश्वास दिला सकते हैं कि ब्रिटिश भारतीय जनता की रक्षा है ।[13] तिलक इस बात को जानते थे कि भारत गांवों में बसता है, उनको राजनीतिक शिक्षा देने का माध्यम समाचार-पत्र आदि नहीं हो सकते । अतः जनसंपर्क के नये माध्यम ढूंढे जाने लगे । इस कार्य के लिए गणपति उत्सव का राजनीतिक रूपान्तरण किया गया, बंगाल में काली की पूजा शुरू की गई ।

इन सब बातों और विचारों के बावजूद कांग्रेस ने किसानों को संगठित करने का प्रयास नहीं किया । गोखले और तिलक के राजनीतिक संघर्ष ने भारतीय बुद्धिजीवियों की जीवनदृष्टि के निर्माण में अहम भूमिका निभाई । दोनों का सामाजिक आधार भी अलग नहीं था, बल्कि दोनों की कार्यपद्धति और प्रभावित करने के साधन और माध्यम भी अलग थे । गोखले और दूसरे नरमदल वाले नेता बहुत कुछ उच्चवर्ग के प्रतिनिधि थे । वे सरकार की शासनिक आर्थिक नीति से परिचित थे, पर आम जनता की शक्ति में उनका विश्वास नहीं था । अंग्रेजों की दयालुता में उनका विश्वास बना रहा । वे क्रांति के नहीं, बल्कि सुधार के हामी थे । उनके लिए सुधार क्रांति से बचाव का रास्ता था ।[14] इसके विपरीत तिलक और गरमदली नेताओं का सामाजिक आधार निम्न मध्यवर्गीय नौकरीपेशा और बुद्धिजीवी लोग थे । इन लोगों ने भी महसूस किया कि जनता में राजनीतिक चेतना, राजनीतिक संगठन और आन्दोलन का अभाव है । इसलिए इन्होंने धर्म का सहारा लिया, धर्म का राजनीतिक उपयोग किया । इससे यद्यपि जन आन्दोलन खड़ा हो गया, तो भी राजनीति में साम्प्रदायिक तत्वों की यह मिलावट आगे चलकर घातक सिद्ध हुई ।

गोखले का आन्दोलन नरमपंथी होते हुए भी अपने मूल चरित्र में असाम्प्रदायिक था, जबकि तिलक का आन्दोलन अर्द्ध क्रांतिकारी होते हुए भी मूलतः साम्प्रदायिक था । अतः उनके भाषणों के असर में भी फर्क था । नरमदल वालों को बुद्धि और तर्क की अद्भुत शक्ति में विश्वास था, इसलिए सबसे पहले इन्होंने राजनीतिक जीवन में आलोचना दृष्टि को सामान्य चेतना का अंग बनाना चाहा । तिलक ने भूमिका के इस आलोचनात्मक दृष्टि को कमजोर किया और भावना और आस्था के नाम पर 'बलिदान' की जनि की प्रेरणायें दी । अतः अपने प्रभाव में यह बुद्धि विरोधी आन्दोलन था । इसके अलावा गोखले और नरम दल वाले साम्राज्यवाद के प्रशंसक होते हुए भी

भारतीय सामंतवाद के कट्टर आलोचक थे । उन्होंने पुरानी रीति-रिवाजों और धार्मिक रूढ़ियों पर चोट की । तिलक उग्र साम्राज्यवाद विरोधी होते हुए भी सामंतवाद विरोध में उतने उग्र नहीं थे । उन्होंने प्राचीन परंपराओं, धार्मिक रूढ़ियों को गौरवान्वित किया और उनका ब्रिटिश विरोधी इस्तेमाल किया । साहित्यकारों पर दोनों का प्रभाव पड़ा । स्वयं प्रेमचंद के रचनाकार व्यक्तित्व पर कभी तिलक, कभी गोखले, और कभी दोनों का साथ-साथ प्रभाव पड़ा है । उनमें उग्र साम्राज्यवाद विरोध था, बाद में उग्र सामंतवाद विरोध भी पनपा ।

इसी बीच पहला बड़ा राजनीतिक आन्दोलन हुआ । सन् 1905 का बंग-भंग विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ, जो सन् 1911 तक चला । बीच में गरम और नरम दल सूरत कांग्रेस (1907 ई०) में अलग हो गये । प्रेमचंद उस समय 25 वर्ष के नौजवान थे । उन्होंने साहित्य-सृजन शुरू कर दिया था, वे अध्यापक थे और अब उनका तबादला बनारस हो गया था । मुंशी दया-नारायण निगम (संपादक, जमाना) से मित्रता तो हो ही गयी । देश में जो नयी इन राजनीतिक हलचलों का प्रेमचंद जी पर भी प्रभाव पड़ा । उन्होंने 'जमाना' में स्वदेशी के समर्थन में लेख लिखे । यहाँ यह सूचित करना आवश्यक है कि 'अगस्त 1905 के दिन कलकत्ता के टाउन हाल में बायकाट और स्वदेशी का नारा बुलंद किया गया । उससे पहले ही प्रेमचंद ने जून 1905 के 'जमाना' में लेख लिखा – 'देशी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है' । उसमें प्रेमचंद ने देश की व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति के लिए गांधी जी और गुजरातियों की सलाह दी – और पढ़े लिखों की सहानुभूति और संरक्षण मात्र को उन्नति का पूरा उपाय नहीं माना । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ''हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा देहातों में आबाद है, जिसमें बिना किसी अतिशयोक्ति के निन्यानवे फीसदी तो ऐसे हैं जो अलिफ के नाम से भी नहीं जानते और जिनको शहर में आने का बहुत कम अवसर मिलता है । लिहाजा शहरों में स्वदेशी दुकानों का खुलना, चाहे वह कैसे ही अच्छे उसूलों पर क्यों न हो, व्यापार को बहुत लाभ नहीं पहुँचा सकता ।'' फिर उन्होंने विलायतियों की अपनी चीजें बेचने के ढंग का परिचय दिया है कि कैसे उधार देने पर दाम

की तपत बढ़ती है । इसी लेख में देहातियों की चारित्रिक विशेषतायें भी बताई हैं । '' देहाती आम तौर पर ईमानदार होते हैं और सौदा तिया तो उसकी कीमत अदा करने में गड़बड़ी नहीं करते । अगर खुदा न खास्ता उनका ईमान जरा डगमगाया भी तो वह हाथोंहाथ ऐसे होते हैं कि दो चार घण्टों में सीधे रास्ते पर आ जाते हैं ।''[15] इसलिए उन्होंने व्यापारियों को देशी वस्तुओं के प्रचार के लिए देहात में जाने की अपील की । जब बकायदा 'स्वदेशी आन्दोलन' शुरू हो गया, तब प्रेमचंद ने 16 नवम्बर 1905 के 'जमाना' में 'स्वदेशी आन्दोलन' के समर्थन में लेख लिखा – दृष्टि वही देहात की ओर ।

भारतीय बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं ने जब यहाँ पर भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था और स्वाधीनता की मांग की, तब साम्राज्यवादी शासकों ने एक 'मिथक' को जन्म दिया कि 'आजादी का पौधा सिर्फ योरप की सरजमीन में ही फूल-फल सकता है ।' 'तुर्की में वैधानिक राज्य' (ज़माना, अगस्त, 1908) लेख लिखकर प्रेमचंद ने इस 'मिथक' को तोड़ा और प्रकारान्तर से एशिया और भारत में भी स्वाधीनता की मांग की । स्वाधीनता की चाह इस काल के बौद्धिक वातावरण में पैदा होने लगी थी ।

'ज़माना' अप्रैल 1904 में 'आईने कैसरी' की समीक्षा करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है कि ''अब्बासनामा और दूसरी किताबों और पैंट एंटिया कम्पनी की शुरू की रिपोर्टों को देखने से मालूम होता है कि पहले जमीन का टैक्स पैदावार पर एक तिहाई से एक चौथाई तक था । अब हजार जिलों में पचास फीसदी है और कभी-कभी तो इससे भी कहीं ज्यादा । मिस्टर गोखले ने अपनी बजट स्पीच में एक नक्शा पेश किया था जिसमें उन्होंने प्रामाणिक आंकड़ों और निस्सन्देह कर देने वाली युक्तियों के आधार पर दिखाया है कि तमाम सभ्य संसार में कहीं कुल पैदावार पर आठ फीसदी से ज्यादा टैक्स नहीं । हिन्दुस्तान में पन्द्रह फीसदी से पचास फीसदी है ।...

..... मौलवी साहब शायद दुआ करते हैं कि बंगाल का

इस्तमरारी बन्दोबस्त खत्म कर दिया जाय और हर सूबे में मद्रास का रैयतवारी तरीका जारी की जाय । सारा जमाना जानता है कि इस्तमरारी बन्दोबस्त रिआया के लिए अमृत है और वह दिन शुभ होगा जबकि हिन्दोस्तान के दूसरे सूबों में भी उसका प्रचलन हो जायेगा ।''16

इस बीच अंग्रेजों की लगान नीति की भी आलोचना शुरू हो गयी थी । अंग्रेजों ने यहाँ यह धारणा रखी कि जमीन की मालिक सरकार है । भारतीयों ने उसका विरोध किया । उन्होंने यह धारणा रखी कि जमीन की मालिक सरकार नहीं है, गवर्नमेंट जैसे प्रजा की और आमदनी पर कर निश्चित कर लेती है वैसे ही जमीन की आमदनी पर भी लेना चाहिए । जमीन पर किराया लेने का उसे अधिकार नहीं है । हिन्दी के साहित्यकारों ने भी किसानों की समस्या को सामने रखा । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1907 में 'संपत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार' — दोनों धरातलों पर किसानों की समस्याओं को केन्द्रीय महत्व दिया । किसानों की समस्या का कारण उन्होंने अतिरिक्त मालगुजारी को बताया । ''यदि मालगुजारी ज्यादह नहीं तो फिर क्या कारण है कि हजारों लाखों कृषकों के बैल - बधिये बिक जाते हैं और लाखों एकड़ जमीन नीलाम हो जाती है ? आप देहात में जाकर देखिए, सौ पचास किसानों में कहीं एक आध आपको ऐसा मिलेगा जिसे रोटी, कपड़े की तकलीफ न हो । यह हम समय सुकाल की बात कहते हैं । अकाल में तो जो दृश्य देहात में देख पड़ता है वह बहुत ही हृदय द्रावक होता है । यदि यह मान भी लिया जाय कि लगान की अधिकता अकाल की भीषणता का कारण नहीं तो यह प्रश्न उठता है कि अंगरेजी राज्य के पहले भी तो कभी-कभी अकाल पड़ता था । पर उस समय प्रजा में इतना हाहाकार क्यों न मचता था ? एक भी फसल मारी जाने या खराब होने से आजकल की तरह क्यों न उस समय लाखों आदमी दाने-दाने के लिए तड़पते मिलते थे ? सरकार कहती है कि प्रजा की कंगाली के कारणों में से महाजनों को अधिक सूद देना भी एक

कारण है । पर वह यह नहीं सोचती कि यदि किसानों को कृषि से उनकी आमदनी होती तो वे महाजनों से कर्ज लेते क्यों ? और न कर्ज लेते तो उन्हें अधिक सूद क्यों देना पड़ता ?..... ..... यदि कृषकों की दुर्दशा का कारण मालगुजारी की जियादती नहीं तो न सही, उनकी दरिद्रता और दुःख के जो कारण सरकार की समझ में ठीक जँचते हों उन्हीं को दूर करके उनको भूखों मरने से बचावे ।''[17] महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में कृषि संबंधी लेखों, विदेशी कृषि की हालत की यहाँ से तुलना, दूसरे देशों की खेती की तकनीक के परिचय संबंधी बहुत सारी सेवा दी । उनके चिंतन की एक सीमा यह है कि वे किसान और जमींदारों के परस्पर हित-विरोध को पहचान नहीं पाये । दूसरी, वे जमींदारी व्यवस्था के भीतर ही औद्योगिक उन्नति के फायदे भी लेना चाहते थे । फिर भी, कृषकों की समस्याओं पर गंभीरता से विचार करना अपने आप में एक उपलब्धि है । कुछ पिटपुट कविताएँ भी उन पर लिखी जाने लग गयी थीं ।[18]

'एम गुर्मा और एम सवाब' और अन्य रचनाएँ :

प्रेमचंद का अगला उपन्यास था —'एम गुर्मा व एम सवाब'[19] । इस उपन्यास की मूल चेतना सुधारवादी है और परिवेश ग्राम्य और कुलीन परिवार । यह उपन्यास प्रेमचंद का पहला राजनीतिक - सामाजिक उपन्यास है । इसका नायक एक समाज सुधारक है । बीसवीं शताब्दी में उठ रहे इस राजनीतिक व्यक्तित्व के प्रति प्रेमचंद की कलम ने बेश संभालते ही अपना आकर्षण दिखाया है । इस व्यक्ति की भीतरी - बाहरी कमजोरियों - खूबियों, उसकी शक्ति - परवशता को उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक रेखांकित किया है । यह है श्री अमृतराय जो वकालत पास करके 'बड़े खासे कौम बन बैठे' हैं । श्रीमती शिवा की नहीं 'श्रीमती तरन्नुम और उनके मुआशरत के दिलदादा' भी थे । पढ़-लिख कर बड़े होने के बाद उनके दिल में भी समाज-सुधार की भावना आती है और यह जोश से भर कर मानो घोषणा करता है कि ''... ए बकलम खेदी पुर्द कौम । से तेरी हालत पर रोने वाली

में एक और एलाफ्ल हुआ । जाया उससे तुझे कुछ फायदा होगा या नहीं, एक दो फैसला वक्त करेगा ।''[20]

उस युग में यह एक आम साहित्यिक रूढ़ि बन गयी थी जिसमें व्यक्तिगत जीवन में प्रेम-शादी और आनन्द लाभ या देश प्रेम के लिए आत्मबलिदान — में द्वन्द्व दिखाया जाता था । जयशंकर प्रसाद की बहुत - सारी कहानियों में प्रेम और कर्त्तव्य के बीच इसी किस्म का तनाव है । इस तनाव को अमृतराय भी महसूस करते हैं । इसीलिए जब उन्होंने सामाजिक जीवन में प्रवेश किया तो निजी प्रेम (प्रेमा नामक लड़की से) की बलि दे दी । जब कहने को तो उन्होंने प्रेम न करने की ठान ली, पर दिल ही तो है । प्रेमा नहीं, कोई और सही — उसे कैसे रोक सकता है, और कितना रोक सकता है ? लिहाजा आगे चलकर ये पूर्णा (विधवा ब्राह्मणी) से प्रेम कर बैठते हैं ।

जब अमृतराय ने समाज -सुधार की ठानी तो सहायकों की खोज में सबसे पहले शहर के रईसों से मिले, जिनमें सबसे पहले मिस्टर प्यारी लाल बी०ए० , एल०एल०बी०, दीनानाथ, मिस्टर आर०बी० शर्मा, एन० बी० अग्रवाला के यहाँ गये । गरज कि सब जातियों के सरदी पसंद रईसों के यहाँ समाज-सुधार का कार्यक्रम लेकर गये । सबने कार्यक्रम की खूब प्रशंसा की, अमृतराय को खूब पीठ ठोंकी, लेकिन जब तीन बजे सभा की पहली मीटिंग तय हुई तो कोई भी नहीं आया । इस प्रसंग से प्रेमचंद ने दिखा दिया कि समाज-सुधार के लिए रईसों पर निर्भर रहना गलत है । ये उच्चवर्ग के लोग जबानी जमाखर्च से ही सुधार करते हैं, वास्तविक सुधार लाने का सामर्थ्य इनमें नहीं है । विवेकानंद की धारणा की यहाँ पुष्टि होती दिखाई देती है कि भारतीय उच्चवर्ग में अब नैतिक साहस नहीं रहा है । फिर भी अमृतराय ने हिम्मत नहीं हारी, और एक्सेलसियर क्लब होने लगी, जिसमें दो तीन से ज्यादा आदमी कभी नहीं आये । तब अमृतराय ने नये ढंग की तलाश की । '' वकीलों के अलावा उन्होंने देशभक्तों में जान-पहचान पैदा

हिन्दी में तकरीर करना शुरू की और अखबारों में भी इसलिए तमद्दुन पर मजामीन लाना चाहिये ।''[21]

इस बीच प्रेमा की सहेली पूर्णा विधवा हो जाती है । उसके सहानुभूति जताते - जताते अमृतराय प्रेम कर बैठते हैं और विवाह करने पर उतारू हो जाते हैं । इस अवसर पर शहर के पुराणपंथी उन पर टीका-टिप्पणी करते हैं, जिससे इस नये व्यक्तित्व के क्रिया-कलापों का बोध होता है । श्री लक्ष्मनलाल कहते हैं, ''.... देखिए, इस अखबार में पांच एडीटर हैं जबकि उनके मजामीन छाप रहे हैं और उनके नयी रोशनी वाले दोस्त आसपास के देहातों में गुल मचाते फिरते हैं । ये मुमकिन नहीं है कि देखादेखी तमाम अखबार एकमत न हो जायें । क्या ताज्जुब है कि उनकी बातों पर अमल करने के लिए मुस्तैद हो जायें । बाबू अमृतराय ने चाहे किसी किस्म की हिमायत की हो या न की हो इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी वकालत बेशुबह चढ़ रही है । मुवक्किलों को तो वो शक्ल शक्ति में उतार लेता है ।''[22]

और आखिरकार विधवा पूर्णा से अमृतराय की शादी हो जाती है । शहर के तमाम शोहदे-बदमाश, शरीफ- रईस, सब पुराणपंथी इस शादी का विरोध करते हैं । यहीं पर अंग्रेजों की भूमिका पर भी प्रेमचंद की दृष्टि गयी है और उनकी सुधारों का समर्थक करार दिया है । शहर के पुराण-पंथियों के विरुद्ध मजिस्ट्रेट ने रोशन-खयाल अमृतराय का साथ दिया और शादी करवादी ।[23] निष्कर्ष यह कि पुलिस की देखरेख में शादी हो गयी ।

अब अमृतराय पर सामाजिक दबाव डाला गया, जिससे हीरू नौकर काम छोड़कर चले गये, बनियों ने सामान देना बंद कर दिया, मुव्वक्किल मिलने बंद हो गये । इन कठिनाईयों में भी जब ने उनकी मदद की । यहीं पर यह सूचित भी है कि बाबू अमृतराय मात्र वकील ही नहीं है, जमींदार भी हैं ।

उपन्यास का अंत होते-होते पूर्णा मर जाती है, दयानाथ (जो कि प्रेमा का पति है) भी मर जाता है । अतः एक बार फिर विधवा प्रेमा और अमृतराय की शादी हो जाती है । इस उपन्यास में शहरी मध्यवर्ग

की समस्या है, जिसकी पृष्ठभूमि में देहात को भी रखा गया है । देहात में किसान - जमींदार संबंध की जिज्ञासा अभी उनमें नहीं आई है । अमृतराय का राजनीतिक कर्म उपन्यास के अंत में कमजोर होता जाता है और वह फिर निजी जीवन की ओर झुकता दिखाई देता है ।

यही उपन्यास जब हिन्दी में छपा, तब उसके भाव और भाषा में काफी परिवर्तन कर दिया गया है । छिटपुट घटनाओं और विचारों के अलावा कुछ प्रसंगों को काफी बढ़ा दिया गया है । इसमें कलेक्टर मजिस्ट्रेट की भूमिका को ज्यादा विस्तार से बयान किया गया है । उसके निर्मल स्वभाव, प्रजा प्रेम की चर्चा है और अमृतराय से उसके दोस्ताना संबंध का जिक्र है । जब इनके पास मदद के लिए अमृतराय पहुँचते हैं, तब वह न केवल आश्वासन देता है, बल्कि साथ चलकर अनाथालय के लिए चंदा को वसूल करवाता है । उर्दू में अकेला अमृतराय ही चंदा लेने जाता है । इसके अलावा कचहरी में अमृतराय की मदद करने वाला जज उर्दू में मुसलमान था, हिन्दी में उसे बंगाली सज्जन बना दिया था ।

सुधारवादी चेतना के होते हुए भी उपन्यास में वास्तविक जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों का यथेष्ट चित्रण है । इस उपन्यास का सबसे बड़ा महत्त्व उसमें आया हुआ राजनीतिक जीवन है, राजनीतिक कार्यकर्ता हैं । इनकी गतिविधियों में इतनी गहरी रची प्रेमचंद की समसामयिक चेतना के व्यापक बोध का पता देती हैं । इस उपन्यास के बाद 1907 में 'रूठी रानी' उपन्यास छपा, जिसमें ऐतिहासिक आधार पर सामंती शौर्य का गुणगान है ।

प्रेमचंद का जमाना ज्ञान का भूखा था । लोग हर बात को जान लेना चाहते थे और पत्रकार भी जितना मुमकिन हो वे सारी ज्ञानवर्धक बातें पाठकों को बता देना चाहते थे । 'सरस्वती' के अंकों में विज्ञान, धर्म, कृषि, इतिहास, संस्कृति और साहित्य विषयक लेखों की भरमार है । 'उर्दू' पत्रों में 'जमाना' की भी यही स्थिति है । अपने समय तक कितने विविध

Thesis
0,152,3,M80:g(Y,31) TH-460
152M0

विषयों का जानकार हो सकता है — प्रेमचंद इसके उदाहरण हैं । निगम की लिखे पत्रों में पत्र-पत्रिकाओं, किताबों के लेन-देने के बारे में बहुत ज्यादा समाचार हैं । उन्होंने 'जमाना' में बिजली पर, भारतीय इतिहास पर, संस्कृत कवियों पर, उर्दू-हिन्दी शायरी पर, नये-पुराने जमाने पर कितने गवेषणात्मक लेख लिखे, जिनमें मुख्य प्रवृत्ति है — ज्ञान की पिपासा । सारी बातें मौलिक ही हों जरूरी नहीं, बल्कि कई बार यह देखने में आता है कि कोई अंग्रेजी पुस्तक पढ़ी, विचार अच्छे लगे और तर्जुमा करके प्रस्तुत किया । साहित्यकारों का व्यापक सामाजिक दायित्व का यह बोध उस युग की आम विशेषता है । ज्ञान अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि ज्ञान का प्रकाश जनता में फैलाना भी महत्त्वपूर्ण है ।

प्रेमचंद के सामने ज्यों ही कोई सामयिक समस्या आती है तो कसौटी के रूप में देशात मौजूद है । मई-जून 1909 के 'जमाना' में उन्होंने 'संयुक्त प्रांत में आरंभिक शिक्षा' शीर्षक लेखमाला लिखा । अमेरिका में शिक्षा का हाल बताकर लिखा है कि "अब एक तरफ तो उस देशाती मदरसे को देखिए और दूसरी तरफ एक हिन्दुस्तानी देशाती मदरसे का खयाल कीजिए । एक पेड़ के नीचे, जिसके इधर-उधर कूड़ाकरकट पड़ा हुआ है और जहाँ शायद कभी से झाड़ू नहीं दी गयी, एक फटे - पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लड़के बैठे ऊँघ रहे हैं । सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है । उस पर जनाब मास्टर साहब बैठे हुए हैं । लड़के गुमगुम का पहाड़ा रट रहे हैं । शायद किसी के बदन पर साबित कुर्ता न होगा । धोती कमर के ऊपर तक बँधी हुई, टोपी मैली-कुचैली, शक्लें भूखी, चेहरे बुझे हुए । यह आर्यावर्त का मदरसा है जहाँ किसी जमाने में तक्षशिला और नालंदा विद्यापीठ थे । कितना फर्क है । एम तरक्की की दौड़ में दूसरी दौड़ी से कितना पीछे है, कि शायद वहाँ तक पहुँचने का हौसला भी नहीं कर सकते ।"[24]

- जब कोई जाति पतित हो जाती है, तब उसके उद्धार के लिए उस जाति में आत्मविश्वास पैदा करने के लिए अतीत का सहारा लिया

जाता है । गौरवान्वित अतीत पतित वर्तमान को सांत्वना ही नहीं देता, सुखद भविष्य का स्वप्न भी देता है । तत्कालीन भारतीय बुद्धिजीवियों में समकालीन अधःपतन की कारण-प्रक्रिया के बीज की कैसेनी मुख्य थी । इस अधःपतन को दूर करने के लिए आर्यसमाज ने नारा दिया — वेदों की ओर चलो । वर्तमान अधःपतन का कारण है वैदिक आदर्शों का भ्रष्ट हो जाना या उनको भुला देना । अतः उन्नति का उपाय है वैदिक जीवन । इस क्रियाशील नारे को व्यापक समर्थन मिला, लेकिन इससे सामाजिक जीवन में साम्प्रदायिकता बढ़ी । जब वैदिक जीवन ही आदर्श है तो मुस्लिम जनता का क्या होगा ? निष्कर्ष निकला कि जबसे मुसलमान इस देश में आये हैं तभी से हिन्दू जाति पतित होती चली गयी । प्राच्य विद्या विद अंग्रेजों ने इस धारणा की पुष्टि की । हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में आर्यसमाज का बोलबाला हुआ और समाज-सुधार के नारे बुलन्द हुए । प्रेमचंद शीलित युवक थे, झट आर्यसमाज के समर्थक बन गये । 1910 में तो वे निश्चित रूप से उसके मेम्बर भी थे । इस आन्दोलन की प्रेरणा से ही उन्होंने अपनी दूसरी शादी बाल-विधवा शिवरानी देवी से की । यह शादी फागुन में सन् 1909 में हुई, परिवार और संबंधियों ने शादी का बहिष्कार किया ।

ऐसा लगता है कि प्रेमचंद ने आर्यसमाज से समाज सुधार की भावना ही ग्रहण की । उसके मुस्लिम विरोधी भावों के उबाल को मानवतावादी प्रेमचंद अपना नहीं सके । यूं भी आर्यसमाज से कई मामलों में उनका मतभेद भी था । 23 अप्रैल 1923 को मुंशी दयानारायण निगम को खत में लिखा है कि " मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर मजमून लिख रहा हूं । मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ है । तीन चार दिन में भेज सकूंगा । आर्यसमाज वाले भिन्नायेंगे लेकिन मुझे उम्मीद है आप जमाना में इस मजमून को जगह देंगे ।" लेकिन यह घटना कुछ बाद की है । आर्य के कुछ वर्षों में इसका इतना गहरा असर नहीं है । संभव है कि इस आर्यसमाज के दबाव से ही प्रेमचंद ने हिन्दी में लिखना शुरू किया हो । वैसे तो हिंदी लिखना-पढ़ना

उनको 1904 से ही आ गया था, पर साहित्य सेवा उन्होंने उर्दू से ही शुरू की । 1913 के लगभग से उन्होंने हिन्दी में भी लिखना शुरू किया, कारण चर्चा की थी, । सितम्बर 1915 के निगम को लिखे खत में उन्होंने बड़े दर्द भरे लफ्जों में लिखा कि ''अब हिंदी लिखने की मश्क भी कर रहा हूँ । उर्दू में अब गुजर नहीं है । यह मालूम होता है कि बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिंदी लिखने में जिन्दगी खर्च कर दूंगा । उर्दू नवीसी में किस हिन्दू को फैज हुआ जो मुझे हो जायेगा ।''[25] जो भी हो आर्यसमाज का प्रभाव प्रेमचंद के रचनाकार मानस पर पड़ा है । उसका प्रभाव साहित्य में ऐतिहासिक कहानियां हैं, जिनमें मुस्लिम शासकों के विरुद्ध हिन्दू साहसों की वीरता का चित्रण है ।

देश की राजनीति में कांग्रेस के नरम-गरम दल के अतिरिक्त क्रांतिकारियों का संघर्ष भी चल रहा था, जिनकी मांग पूर्ण स्वराज्य की थी । इन संघर्षों में भी धार्मिक आस्था काम कर रही थी । कई राजनीतिक हत्यायें इन लोगों ने की थीं, जिनके बदले इन लोगों को फांसी की सजा दे दी गयी थी । सन् 1907 में लन्दन की एक सभा में धींगरा ने सर कर्जन वाइली को गोली मार दी । इसके अपराध में धींगरा को और अभियुक्त को बचाने की कोशिश करने वाले डा० लाल काका नामक पारसी वकील को भी फांसी की सजा दे दी गयी । सन् 1908 में कलकत्ता में अलीपुर षडयंत्र केस में कई लोगों को फांसी दे दी गयी । इस केस की व्यापक चर्चा हुई । इस मुकदमे से संबंधित कई और राजनीतिक हत्यायें भी हुईं । कलकत्ते का पुलिस मजिस्ट्रेट रंग तबदील होकर मुजफ्फरपुर आया, तब 30 अप्रैल 1908 को 17 वर्षीय प्रफुल्ल चाकी और 15 वर्षीय बालक खुदीराम बोस ने उस पर बम फेंका, जिससे मिस और मिसेज कैनेडी नामक दो अंग्रेज औरतें मारी गयीं । चाकी ने तो वहीं अपने आपको गोली मार ली और खुदीराम को 11 अगस्त 1908 को फांसी दे दी गयी । देश में हुई इन घटनाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा । इसी तरह सन् 1912 में दिल्ली में एक बम फेंका गया, जिसमें अपराधी का पता न लगने पर भी,

इन्देए के कारण कुछ लोगों को फांसी दे दी गई । अपराधी की पकड़धनि के लिए इनाम की घोषणा भी की गयी, उसे द्विवेदी जी ने टिप्पणी सहित 'सरस्वती' में भी छापा था ।

इस बीच प्रेमचंद चुनार, बनारस, प्रतापगढ़, इलाहाबाद होते हुए सन् 1905 में कानपुर पहुंचे । वहां साहित्य-संसार के केन्द्र में आये । फिर वहां से 10 जून 1909 को कानपुर छोड़कर हमीरपुर पहुंचे । यह डिप्टी की जगह सब-डिप्टी इन्सपेक्टर का मिला । यहां उनको घूम-घूमकर स्कूलों की जांच करनी थी । फलतः घूम-घूम कर भारतीय जनता और विशेषतः किसानों को नजदीक से, प्रौढ़ पारखी आंखों से देखने का मौका मिला । विभिन्न ऋतुओं में, विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न स्थानों के किसानों को विभिन्न कोणों से देखा और उनके कई गुप्त क्लेशों के लिए उनके हिमायती बन गये ।

'सोज़े वतन' और उसके बाद :

इस बीच उन्होंने कहानियां लिखनी भी शुरू की, और पहली कहानी लिखी ज़माना 1907 में 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' । 1909 में उनका पहला कहानी संग्रह छपा 'सोज़े वतन' – जिसमें पांच कहानी के अलावा चार और कहानियां थीं — शेख मखमूर, यही मेरा वतन है, बीज का पुरस्कार, सांसारिक प्रेम और देश प्रेम । इसी बीच में सरकार ने जब्त कर लिया । अब तक प्रेमचंद नवाबराय के नाम से लिखा करते थे, वास्तविक नाम धनपतराय श्रीवास्तव था । इसी समय प्रेमचंद ने ज़माना में गैरीबाल्डी का भी जीवन परिचय लिखा । ये कहानियां देश प्रेम के भावुक आधार पर खड़ी हैं । इन कहानियों में एक खास तरह का आह्वान है, भावात्मक अपील है जो तर्क-बुद्धि पर आधारित नहीं है । उनकी पहली ही कहानी के अंत में लिखा हुआ है कि "खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज है ।" इस संग्रह को सरकार ने जब्त कर लिया । कलेक्टर ने प्रेमचंद को बुलाकर प्रत्येक कहानी का अर्थ पूछा

और फिर बोले, '' तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुआ है । अपने भाग्य को सराहो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो । मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारी दोनों बांह काट लिए जाते । तुम्हारी कहानियां एकांगी हैं, तुमने अंग्रेजी सरकार की तौहीन की है आदि ।'' और भविष्य में बिना कलेक्टर को दिखाये कुछ भी न लिखने की आज्ञा दे दी ।

प्रेमचंद की जीवनी लिखते हुए श्री अमृतराय ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ''जाहिर है कि उस किस्से की कोई गहरी छाया उनके मन पर न थी । एक झोंका था जो आया और निकल गया और उसके साथ ही कुछ खेल का-सा मजा, कुछ यह बात कि जो मैं खेल रहा हूँ उसमें यह सब तो होना ही है..... ''[27]

यह सही है कि प्रेमचंद ने इस घटना को बहुत बहादुरी से लिया और इसे का टालते रहे । लेकिन इस घटना का उनके रचनाकार मानस पर अमिट प्रभाव पड़ा है, जिसकी हल्की-सी झलक निगम को लिखे पत्रों में भी मिलती है । जब प्रेमचंद को प्रेमचंद नाम दिया गया (जो कि निगम ने ही सुझाया था) तो उन्होंने लिखा ''प्रेमचंद अच्छा नाम है । मुझे भी पसंद है । अफसोस सिर्फ यह है कि पांच ६: साल में 'नवाबराय' को खिताब देने में जो मेहनत की गयी, वह सब बेकार हो गयी । यह हजरत किस्मत के हमेशा लंडूरे ही रहे और शायद रहेंगे.... ।''

''मेरे लिए कलेक्टर को हर एक मजमून दिखाने की ऐसी पड़ लगी है कि एक मजमून महीनों में लौटकर आता है ।.... एजुकेशनल गजट में प्रेमचंद का नाम देना नहीं चाहता । मालूम नहीं यह हजरत पाठ्य पैर संभालने पर क्या लिख बैठें । इन्हें किस्सागो ही रहने दीजिए । बैठे-बैठे अब प्रेम और वीर रस के किस्से लिखा करें ।''

प्रेमचंद के उन्मुक्त रचनाकार को इस घटना से धक्का लगा । 'सोजे-वतन' की कहानियों में कहानी के घटना-प्रसंग पर लेखकीय व्यक्तित्व हावी-सा लगता है । ऐसा लगता है कि लेखक अपने विचारों के प्रचार पर

उतार है, उसे कोई रोक नहीं सकता । नया-नया साहित्य सृजन, युग चार्वतायें, राजनीति में उग्रवादियों की ओर स्वाभाविक झुकाव इस भावुक क्रांतिकारी राष्ट्र प्रेम के साहित्य के प्रेरक बने थे । प्रेमचंद ने लिखने की इस शैली पर पुनर्विचार किया । उन्होंने एक ऐसी शैली विकसित करने का प्रयास किया जिसमें सीधे-सीधे देश प्रेम का नारा न भी बुलन्द किया जाय, फिर भी कहानी या उपन्यास से पाठकों में देशोद्धार की भावना जगे । विचारों को गोपन रीति से अभिव्यक्त किया जाय, जिससे पढ़ने वाला समझ तो जाय, पर लिखने वाला पकड़ में न आए - कम-से-कम पुलिस के सामने फिर न जाना पड़े । इस शैली के परिवर्तन के साथ-साथ कहानी के विषयों में भी परिवर्तन हुए । भावुक देश प्रेम की कहानियों की जगह सामाजिक सुधार की कहानियां लिखी जायं । प्रेमचंद के नाम से जो पहली कहानी छपी, वह 'बड़े घर की बेटी' है । जब उनकी चेतना में आर्यसमाज गहराने लगा । दूसरे, इस घटना से बोध हुआ कि कहानी से विशाल ब्रिटिश साम्राज्य को भी हराया जा सकता है । अतः साहित्य की असीम शक्ति रहता है । साहित्य देश सेवा का साधन है, यह धारणा उनके मन में पक्की होती गयी ।

इस संग्रह के छप जाने के बाद प्रेमचंद के साहित्य ने दो दिशायें ग्रहण की, जिनमें एक तो ऐतिहासिक कहानियों की ओर, हिन्दू राष्ट्रवाद की ओर, धर्म-सुधार की ओर दृष्टि गयी । दूसरी तरफ सामाजिक जीवन, समकालीन परिवेश, सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों की ओर दृष्टि गयी । इन दोनों प्रवृत्तियों का साथ-साथ विकास देखने में आता है ।

पहले प्रकार की कहानियों में रानी सारंधा, पाप का अग्निकुंड, विक्रमादित्य का तेगा, राजा हरदौल, आल्हा, मर्यादा की वेदी आदि मुख्य है । इन कहानियों में पुराने राजपूत कालीन इतिहास को पुनः प्रस्तुत किया गया है । इसमें मुसलमानों की बर्बरता और राजपूतों के शौर्य का

विश्व है । 'तुम क्षत्रिय हो ?' यह सवाल जैसे किसी भी राजपूत को पतित होने से बचा सकता है । इन कहानियों में आन, लज्जत, मर्यादा, शौर्य और बलिदान आदि गुणों की प्रशंसा है । इसी दौर में बंकिमचन्द्र चटर्जी का भी प्रभाव पड़ा और वे हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक बन बैठे । मुंशी दयानारायण निगम को अनुमानतः 1911-12 में लिखा था कि '' मगर दरबार का नमूना कामरेड ही थे । पालिसी हिन्दू । अब मेरा हिन्दुस्तानी कौम पर एतबार नहीं रहा और उसकी वजहें फिजूल है ।''[28]

अंग्रेजों के भारत में आने से भारत की राजनीति में ही परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि उसके सामाजिक जीवन में भी बुनियादी परिवर्तन हुए । राजनीतिक और सामाजिक जीवन में एक अलगाव भारत में अंग्रेजों के राज्य के ही कारण हुआ । भारत के राज्य और राजनीतिक हलकों पर साम्राज्यवाद का और समाज और सामाजिक जीवन पर सामंतवाद का प्रभुत्व बना । ये दो मोर्चे एक साथ खुले । हिन्दुस्तान के बुद्धिजीवियों में से अधिकांश ने साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा तो जरूरी ही करार दिया, पर सामंतवाद विरोधी मूल्य इतनी आसानी से न अपना सके । राजनीतिक और सामाजिक जीवन के इस अलगाव से सामाजिक दृष्टि में भी परिवर्तन हुए । फलतः संयुक्त परिवार टूटा । संयुक्त परिवार के टूटने के पीछे नये और पुराने भारत का संघर्ष सन्निहित है । यह संघर्ष भिन्न-भिन्न रूपों में राजनीति और साहित्य में दिखाई पड़ता है । गाँव और शहर का संघर्ष भी इसी पुराने और नये भारत के संघर्ष का ही एक रूप है । जब समकालीन जीवन में पतनशीलता दिखाई देती है तो सुदूर अतीत का गौरव रूप अपनी ओर खींचता ही है । अप्रैल 1906 की 'सरस्वती' में मैथिलीशरण गुप्त की कविता 'शहर और गाँव' इस भाव बोध का उत्कृष्ट उदाहरण है । आर्यसमाज के प्रभाव से प्रेमचंद में भी यह भावबोध मिलता है । इसलिए 'बड़े घर की बेटी' में उन गुणों को रेखांकित किया गया है जिनसे संयुक्त परिवार बना रह सके । पंचपरमेश्वर (1916 ई०) में पुरानी

पंचायतों को जो गौरवान्वित किया गया है, उसके पीछे भी यही दृष्टि है ।

वरदान :

आर्यसमाज के प्रभाव का नमूना उनके 'जलवा संसार' (1912 ई०) नामक उपन्यास में मिल जाता है । हिन्दी में यह 'वरदान' के नाम से छपा । यह उपन्यास सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास नहीं है, बल्कि धार्मिक - सामाजिक उपन्यास है । उपन्यास की शुरुआत एक प्रौढ़ महिला द्वारा वट-सावित्री से एक ऐसे पुत्र का वरदान माँगने से होती है, 'जो देश का उपकार करे' । प्रतापचन्द्र नामक व्यक्ति इस वरदान का फल है, जो इस उपन्यास का नायक भी है । उपन्यास के अंत में यह व्यक्ति 'स्वामी दयालजी' के नाम से मशहूर होता है और गाँव-गाँव घूमकर प्रजा की सहायता करता दिखता है । इसमें बालाजी की देश सेवा एक राजनीतिक कर्म के रूप में न होकर धार्मिक कर्म के रूप में ही दिखाई गयी है । इस उपन्यास का मुख्य उपदेश यही है कि व्यक्तिगत जीवन के आराम को छोड़कर राष्ट्र की (यानि हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू जाति) की सेवा करो ।

इस उपन्यास के पात्र भी शहरी सभ्य मध्यवर्ग के ही है, जिनका एक दलाल है । विरजन, जिसे प्रताप प्रेम करता था लेकिन किसी गलतफहमी से दूर हो जाती है, एक बार गाँव जाती है । वह कमलाचरण को जो पत्र लिखती है उसमें देहात का वर्णन भी करती है । "टूटे-फूटे फूस के झोपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर, झोपड़ों में लिपटी हुई भैंसें, दुर्बल गायें, ये सब दृश्य देखकर जी चाहता है कि कहीं चली जाऊँ । मनुष्यों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा है । हड्डियाँ निकली हुई हैं । वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं । किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलती ।"[29]

इस उपन्यास में चित्रित ग्रामीण जीवन के पीछे एक दर्शन का मस्तिष्क उभरता है ; मूल संवेदना दर्शक की सहानुभूति की है, भोक्ता के दर्द की नहीं । एक ऐसा लगता है कि शहरी व्यक्ति जब पहली बार गाँव

में जाता है तो उसकी नजर उन अद्भुत अपूर्व दृश्यों पर ही टिकती है, जो शहर में नहीं होते । इसीलिए इसमें भूतों की कल्पित प्रचलित कहानियां, ओझियों के नाच, होली के हुड़दंग और गाली-गलौज का वर्णन है । इस उपन्यास में गांव के आर्थिक पक्ष की चर्चा कम है, उसके सांस्कृतिक-धार्मिक पक्ष पर ही ज्यादा विचार हुआ है । किसान और जमींदार के परस्पर हित-विरोध का भी संकेत नहीं है । उपन्यास में चित्रित गांव को पढ़ने से लगता है कि अंधविश्वासों को दूर करना ही इस समय गांव की भलाई के लिए प्रमुख काम है ।

किसान और बुद्धिजीवी :

प्रेमचंद के इस ओर झुकाव होने का एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य भी है । कांग्रेस के विभाजन (1907) के बाद उसका प्रभाव और चरित्र धीरे-धीरे घटा है । वह अभी तक शिक्षित उच्च-मध्य वर्ग की ही संस्था थी । स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि '' 1912 की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ । वह तब वह अंग्रेजी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था, जहां सुबह पहनने के कोट और सुन्दर ढंग से किए हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे । वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी ।''30

श्री पट्टाभिसीतारामय्या ने भी लिखा है कि '' पुराने जमाने में कांग्रेसी लोगों को अपनी राजभक्ति की परेड दिखाने का शौक था । 1914 में जब लार्ड पेण्ट लैंड (गवर्नर) मद्रास में कांग्रेस के पण्डाल में आये तब सब लोग उठ खड़े हुए और तालियों द्वारा उनका स्वागत किया । यहां तक कि श्री एम०पी०पेट्टो, जो कि उस समय एक प्रस्ताव पर बोल रहे थे, एकाएक रोक दिये गये और उनकी जगह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राजभक्ति का प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए कहा गया जिसे कि उन्होंने समृद्ध भाषा में पेश किया ।''

ऐसी ही घटना लखनऊ कांग्रेस (1916) के समय भी हुई थी, जबकि सर जेम्स मेस्टन कांग्रेस में आये थे और उपस्थित लोगों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया था।''[31]

प्रथम विश्वयुद्ध (1914 ई० में) शुरू हुआ, जिसमें भारतीय फौजें भी गयीं। किसान कांग्रेस से दूर होते जाने लगे। 1915 ई० में कांग्रेस ने चम्पारन जिले में किसानों की कठिनाईयों की जाँच करने के लिए कमीशन बैठाने की माँग का प्रस्ताव किया। अगले वर्ष इस माँग को जोरदार शब्दों में रखा गया, जिसके कारण ही किसानों के असंतोष का पता लगाने के लिए गाँधी जी बिहार गये। सन् 1917 में ही कांग्रेस के अब तक के कार्यकलापों की समीक्षा करते हुए बंगाल प्रोविंशियल कांग्रेस के अध्यक्षीय पद से भाषण देते हुए देशबंधु चितरंजनदास ने कहा कि –

''हम शिक्षित लोग अपनी आत्मा की गद्दारियों में कॉलोनियल के शिकार हो गये हैं।..... हमारी ओढ़ी हुई कॉलोनियल हमारी अलंकृत देशाती भाषाओं को हमसे घृणा करना सिखाती है।..... यदि हम इन्हें अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। क्या हम उन्हें अपनी सभाओं और सम्मेलनों में आमंत्रित करते हैं? शायद ऐसा हम तभी करते हैं जब हमें किसी दरख्वास्त पर उनके हस्ताक्षरों की जरूरत होती है। लेकिन क्या हम अपने किसी भी काम में उनके साथ हार्दिक सहयोग का रुख अपनाते हैं? क्या हम सचमुच उनके साथ ईमानदारीपूर्ण और सहयोगपूर्ण रवैया अपनाते हैं? क्या एक भी किसान हमारी समितियों और सम्मेलनों का सदस्य है? क्या हमारी किसी भी निर्णय में उनकी इच्छाएँ और उनकी आवाज शामिल होती है?.... क्या हम कभी इन बीस से तीसतर होती जा रही वीरान बस्तियों और उजाड़ गाँवों के बारे में सोचने का भी कष्ट करते हैं? क्या हम, एक जून आधे पेट खाकर जिन्दगी को घसीटने वाले भूखे और मलेरिया पीड़ित उन अस्थिपिंजरों की चिंता करते हैं, जो व्याधियों के सुनसान जंगल के मृतप्राय परिवेश में दम तोड़ देते हैं, जिनके घर देखने पर विस्मृत, धुंधली आदिम गुमशुदगी का भ्रम होता है और

जिनकी जिन्दगी निरन्तर लम्बी होती जंजीरों में सिमटी सिमट रही है ?...
..... हमारा राजनीतिक आन्दोलन एक गतिहीन, प्राणहीन शक्ति है — वास्तविकताओं से कोसों दूर.... अतः हमारी राजनीतिक आन्दोलन का आधार ही गायब है, वह जन सामान्य की मुख्यधारा से कटा हुआ है ।''[32]

गांधीजी ने 1917 में चम्पारन में नीलहे गोरे जमींदारों के खिलाफ किसानों के आन्दोलन को संगठित किया, और 1918 में खेड़ा में लगानबंदी का आन्दोलन चलाया । इन दोनों आन्दोलनों में मुख्य बात यह है कि इनमें देशी जमींदारों और रजवाड़ों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा गया। ये दोनों ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी आन्दोलन हैं । ये आन्दोलन किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के मिलनबिन्दु हैं । इनके जरिये से राष्ट्रीय नेताओं में राष्ट्रीय समस्या को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि मिली । जवाहरलाल नेहरू ने किसानों की इस प्रभावशाली भूमिका को इन शब्दों में व्यक्त किया है । ''नई शक्तियों ने सिर उठाया और उन्होंने हमें गांवों की जनता की तरफ धकेला और पहली बार हमारी नौजवान पढ़े-लिखों के सामने एक नये और दूसरे ही हिन्दुस्तान की तस्वीर आई, जिसकी मौजूदगी को वे करीब-करीब भुला चुके थे या जिसे वे ज्यादा अहमियत नहीं देते थे । वह एक परीशान कर देने वाला नज्जारा था, न सिर्फ इस सवाल से कि हमें इस दर्जे की गरीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी कि उसने हमारी मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिन पर हम अब तक पहुंचे थे, बिलकुल पलट दिया था ।''[33]

चम्पारन आन्दोलन के बाद ही मालवीय जी और कुछ अन्य व्यक्तियों ने मिलकर इलाहाबाद में संयुक्त प्रांत की किसान सभा का संगठन किया । इस संगठन का मुख्य उद्देश्य था — किसानों और जमींदारों में निरंतर बढ़ती हुई वैमनस्य भावना को कम करना, उनमें सद्भावपूर्ण संबंध बनाना, किसानों को उनके राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के प्रति जागरूक करना, उनको गैरकानूनी तरीकों से रोकना और संवैधानिक

संघर्ष के लिए प्रेरित करना । उस संगठन की शाखायें अनेक गांवों और तहसीलों में खोली गयी और दूसरे प्रांतों में भी उसकी शाखा खोलने का प्रयास करके उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जोड़ने का प्रयास किया गया । इसी कारण 1918 और 1919 की कांग्रेस में बहुत सारे किसान सम्मिलित हुए । 1919 के कांग्रेस अधिवेशन में इस किसान सभा ने एक क्रांतिकारी प्रस्ताव पास किया कि और सरकार से कहा गया कि सारे भारत में किसान ही जमीन का असली मालिक है । कांग्रेस ने इस संदर्भ में और कुछ न करके भारत में लगान व्यवस्था के विभिन्न तरीकों की जांच करने और किसानों की हालतों का पता लगाने के लिए असिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को कहा गया ।[34]

1918 के कांग्रेस अधिवेशन में किसान नेता पीर० सिंह ने कहा कि यह कहा जा रहा है कि सिर्फ शिक्षित जनता ही एकजुट होकर स्वराज्य की मांग करती है । ऐसा नहीं है । हम भी इसकी मांग करते हैं ।

"But you will never get swaraj till you carry the cultivators with you".[35]

वास्तव में भारत की राष्ट्रीय राजनीति में किसानों का प्रवेश गांधीजी के साथ हुआ, और राजनीतिक गतिरोध को दूर करके उन्होंने संघर्ष की नवीन मंजिल तय की । पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है कि '' गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया । वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में बैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से पर्दे को हटा दिया । वह उस बवंडर की तरह थे, जिसने बहुत-सी चीजों को, खासतौर से मजदूरों के दिमाग को उलट-पुलट दिया ।''[36] और इन सारी घटनाओं के साथ 1917 की रूसी क्रांति हुई, जिसने दुनियाभर के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं को एकओर दिया । आम जनता की संगठित शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण रूसी क्रांति था । साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के सामने नयी दुनिया का स्वरूप स्पष्ट होने लगा । ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपनी नीतियों में बोल्शेविक खतरे को मद्देनजर

किया । भारतीय बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर उत्साहपूर्वक रूसी क्रांति का स्वागत किया और अपनी अपनी दृष्टि से उस क्रांति की व्याख्या देने लगी । लेकिन सब व्याख्याओं में एक बात पर जोर था कि शोषण को सत्म करने के लिए जनशक्ति का उपयोग करनी है । 21 दिसम्बर 1919 को प्रेमचंद ने निगम को लिखा कि '' मैं अब काफी बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूं ।''[37]

राजनीतिक प्रगति के समानान्तर साहित्यिक प्रगति की दिशा भी जनवादी होती जा रही थी । मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में हिन्दुस्तान में कृषि और किसानों की हालत पर विचार दे दिया । फिर उन्होंने 'किसान' नामक काव्य लिखा । सियारामशरण गुप्त का 'अनाथ' और गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' का 'कृषक-क्रन्दन'(सन् 1916) भी इसी समय निकला । इन कवियों की कविताओं में भी 'उद्धार' भावना की ही प्रमुखता है । देश का उद्धार, समाज का उद्धार, भारत का उद्धार, व्यापार का उद्धार, वेश्या का उद्धार के जब नारे लगने लगे तब भावुक हृदय कवियों की दृष्टि किसानों की ओर भी गयी और उनके उद्धार का भी नारा लगा । इन कविताओं में किसानों की वास्तविक पीड़ाओं का चित्रण है, उनके आर्थिक - सामाजिक शोषण का जिक्र है, पर सर्वत्र दया भाव से । इसीलिए सनेही की पुस्तक का समर्पण है —

हे भारत के जमींदारगण ! ऐ श्रीमानो !
दया धर्म धर हृदय धर्म अपना पहचानो ।
बेसुध ऐसे रहो न अब यों लम्बी तानो ।
निज कृषकों को निज उन्नति की जड़, बल, जानो ।
इस कृषक ने किया अश्रुजल से तर्पण है
इसीलिए यह भेंट आप ही को अर्पण है ।

प्रेमचंद के रचनाकार मानस का यह संक्रमण काल है । यह समय उनकी जीवन दृष्टि और रचना शैली के निर्माण की दृष्टि से ही संक्रमण कालीन नहीं है, बल्कि उनके विषय-क्षेत्र की दृष्टि से भी संक्रमण काल है ।

बाहरी रचनाकारों के प्रभाव को आत्मसात करके नवीन रचनादृष्टि का निर्माण करना इस दौर के रचनाकार प्रेमचंद का मुख्य संघर्ष रहा है। 4 मार्च 1914 को एक पत्र में इस संघर्ष को स्वयं उन्होंने रेखांकित किया है। "मुझे अभी तक यह इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन सा तर्ज तहरीर अख्तियार करूं। कभी तो बंकिम की नकल करता हूं, कभी आजाद के पीछे चलता हूं। आजकल काउण्ट टालस्टाय के किस्से पढ़ चुका हूं। तबसे कुछ उसी रंग की तबीयत मायल है। यह अपनी कमजोरी है और क्या।"[38] प्रेमचंद के विकास-क्रम के निर्माण की दृष्टि से भी यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन पर टालस्टाय का सीधा असर पड़ा है।

वास्तव में 1918 तक के प्रेमचंद के साहित्य में, अपवाद एक बड़ा भारी अलगाव है; — उनकी रचनादृष्टि और जीवनदृष्टि में, यथार्थ और जीवन मूल्य में। इस अलगाव के बीज उनकी आरंभिक रचनाओं में भी मिलते हैं, लेकिन दूसरे रूप में। प्रेमचंद की रचनादृष्टि में यथार्थ - बोध की प्रधानता है लेकिन जीवनदृष्टि समाज-सुधार की ओर लगी है। सत्य और आदर्श में विरोध है। इसलिए इस दौर की कहानियां एक सशक्त यथार्थवादी आधार पर खड़ी होती हैं, लेकिन समाज-सुधार की आदर्शवादी उन्हें भाववादी बना देती है। उनकी रचनादृष्टि यथार्थवादी और जीवनदृष्टि सुधारवादी है। 'नमक का दरोगा' (1914 से पूर्व) इस तरह की सर्वोत्तम कहानी है। वे जीवन को वांछित रूप में रखना चाहते हैं और जीवन अपने आपको वैसा रखने नहीं देना चाहता। तथ्य सत्य, से प्रबल होता है अतः बावजूद सुधार-वादी समाधान के उनकी कहानियां पाठकीय चेतना को झकझोरती हैं।

वास्तव में प्रेमचंद के जीवन और चिंतन में एक अन्तर्विरोध था। वे जिस समाज में जी रहे थे, वह परम्परागत नैतिकता और सामंती मूल्यों से परिचालित होता था — या ज्यादा से ज्यादा सामंती मूल्यों में ही संभावित मानवीयता के परिवेश में उनका जीवन बीत रहा था। लेकिन

उन्होंने जिन रचनाकारों को पढ़कर साहित्यिक प्रेरणाएँ ली वे शिकेस, टालस्टाय, बाल्टर स्काट, विक्टर ह्यूगो आदि प्राजातांत्रिक संसार के साहित्यकार थे। उनकी रचनाओं में उन्होंने जिस जीवन को देखा, उसे अपने यहाँ पाया नहीं। इस खाई को पाटने के लिए यहाँ के ही जीवन को फिर से देखने परखने का उन्होंने प्रयास किया। आर्थिक सुधारवादी चेतना इस अन्तर्विरोध से पैदा होती है कि हमारे यहाँ भी ऐसा ही हो क्यों नहीं जाता।

प्रेमचंद ने बचपन में कई तिलस्मी और जासूसी उपन्यास पढ़े थे। उन उपन्यासों की संरचना, भावभूमि और रचना शैली का गहरा असर प्रेमचंद के साहित्य पर दिखाई देता है। उनकी कहानियों की आरंभिक 'समस्या' और आखिरी 'हल' निश्चयतः जासूसी उपन्यासों की तरह का ही होता है। उन्होंने मानव जीवन को भी एक बड़े भारी तिलस्म के रूप में माना और उसी की चाबियाँ खोजने में लगे रहे। आखिर मानव जीवन में ऐसी कौन सी शक्ति है जो उसे चलाये चलती है और जो विरोधी परिस्थितियों में भी जिंदा रख सकती है। इसलिए 'अद्भुत' चरित्र खोजने में उनकी रुचि रही है। चरित्र 'टिपिकल' ही नहीं होता, विशिष्ट भी होता है। 'बाँका जमींदार' (अक्टूबर 1913) और 'मंदिर का पुतला' (अगस्त 1916) कहानियाँ इसी संरचना की हैं। इसी संरचना का हल्का आभास तो बाद तक की कहानियों में और उपन्यासों में मिलता है। 'बूढ़ी काकी', में भी नहीं 'रंगभूमि' और 'गोदान' में भी यह मिलता है।

'सोजे वतन' के जब्त होने के बाद जब 'प्रेमचंद' का जन्म हुआ तब उनकी साहित्यिक समस्यायें राष्ट्रीय की जगह सामाजिक होती गयी। भावुकता की जगह वास्तविकता ने ली और अब सीधे देश प्रेम के लिए मर मिटने का आह्वान देने के बदले जिंदगी की छोटी-छोटी सच्चाइयों के संदर्भ में मानवीय भावनाओं को उभारने का प्रयास होने लगा। अब वे उनके मन में कुछ धार्मिकता का रंग भी गहराता चला गया। इस धार्मिकता के साथ मानवीयता, सत्य, न्यायप्रियता, दया, सहानुभूति में भी उनकी आस्था जमने लगी, जो फिर कभी हटी नहीं। प्रेमचंद की आदर्श की

दुनियादी मूल्यनिष्ठता में गहरी आस्था थी । 'नमक का दरोगा' के पंडित अलोपीदीन, जिनको अपनी लक्ष्मी की शक्ति में असीम विश्वास था, न्याय विभाग जिनके इशारे से चला करता था, रिश्वत लौरी और चोर बाजारी में ये उस्ताद थे — थी अंत में दरोगा वंशीधर की धर्मनिष्ठता और ईमानदारी के कायल हो गये और उनको अपनी लाखों की सम्पत्ति का स्थायी मैनेजर बना दिया । अदालत में धर्म और धन का संघर्ष हुआ और धर्म पराजित हुआ, लेकिन दुनिया और मानवता अदालत के बाहर भी बसी हुई है — अतः यहाँ आकर धन को धर्म के आगे सर झुकानी ही पड़ी । आखिर हृदय-परिवर्तन भी तो कोई चीज है । जब मानव ईश्वर का अंश है तो हमारा (लेखक का) काम सिर्फ उस कर्म बुद्धि को जाग्रत करना मात्र है । प्रेमचंद का यह भावबोध गांधीजी के राजनीति में आने से पहले का है ।

प्रेमचंद का साहित्य स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ विकसित हुआ है । उनमें देश भक्ति और देशोद्धार की लालसा है, देशोन्नति के न हो पाने से उत्पन्न क्षोभ है और देशोद्धार में बाधक तत्वों के प्रति गहरा आक्रोश है । आरंभ से ही प्रेमचंद ने सवाल उठाया कि सच्चा देशभक्त कौन है ? और इसकी कसौटी रखी — कथनी और करनी की एकता । उपदेश (मई 1917) के पंडित देवरत्न शर्मा जैसे लोग सच्चे देश भक्त नहीं हैं, क्योंकि अक्सर तो ये किसानों की भलाई की बातें हैं, समाचारपत्रों के अवलोकन आदि में उनका जाति सेवा का ही सारा समय बीतता था, लेकिन शहर में जब प्लेग का दौर होता है, तो ये भाग खड़े होते हैं और अपनी जमींदारी में रहने लगते हैं । ये तो किसानों के उच्च मानवीय गुणों पर लिखते हैं, लेकिन उनसे बात करना अपनी हेठी समझते हैं । उपदेश तो दूसरों को देते हैं लेकिन जीवन व्यवहार में खुद उसका पालन नहीं करते । इन छद्मवेशी देशभक्तों की प्रेमचंद ने खूब आलोचना की है ।

'सिर्फ एक आवाज' (1913) कहानी में गंगा के किनारे पढ़े लिखे लोगों की जमात में एक वक्ता भाषण दे रहे थे । भाषण के बाद

वक्ता ने कहा कि हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि '' अछूतों के साथ भाई चारे का सलूक करेंगे ।'' वक्ता ने बहुत जोश दिलाया, खूब फटकार सुनाई, लेकिन 'देशभक्तों' के दल में से कोई व्यक्ति खड़ा नहीं हुआ । अपने जीवन में उन आदर्शों को ढालना कितना कठिन काम है, और हमारे शिक्षित बंधु कितने समझदार बुजदिल हैं – यह इस कहानी से स्पष्ट होता है । इनका वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है '' वहाँ कौम पर जान देने वालों की कमी न थी ; स्टेजों पर कौमी तमाशे खेलने वाले कालिजों के होनहार नौजवान, कौम के नाम पर मिटने वाले पत्रकार, कौमी संस्थाओं के मेम्बर, सेक्रेटरी और प्रेसिडेण्ट, राम और कृष्ण के सामने सिर झुकाने वाले सेठ और साहूकार, कौमी कालिजों के ऊँचे वेतन वाले प्रोफेसर और अखबारों में कौमी तरक्कियों की खबरें पढ़कर खुश होने वाले दफ्तरों के कर्मचारी हजारों की तादाद में मौजूद थे । आँखों पर सुनहरी ऐनकें लगाये, मोटे-मोटे वकीलों की एक पूरी फौज जमा थी मगर सन्यासी के उस गर्म भाषण से एक दिल भी न पिघला क्योंकि वह पत्थर के दिल थे जिनमें दर्द और घुलावट न थी, जिनमें सदिच्छा थी मगर कार्यशक्ति न थी, जिनमें हृदयों की-सी एकता थी मगर मर्दों का-सा इरादा न था ।''[39]

इन देश भक्तों की मजलिस से आखिर ''सिर्फ एक आवाज'' ठाकुर दर्शन सिंह की ही निकली, जो कथित देशभक्तों की कतार में से नहीं था। सीधा-सादा गाँव का 'पुराने वक्तों का आदमी' था । यह कहानी प्रेमचंद को देहाती दर्शन सिंह की ओर जानने की लालसा पैदा करती है । 'प्रेमा' में अमृतराय भी रईसों से निराश होकर देहात में ही पदार्पण करता है ।

इस तरह प्रेमचंद ने सच्चे देशभक्तों की तलाश में झूठे देशभक्तों का पर्दाफाश किया । प्रेमचंद ने निष्कर्ष निकाला कि सच्चा देशभक्त तो किसान है । लेकिन चिंतन के इस धरातल पर पहुँचने से पहले तत्कालीन सामाजिक कार्यकर्ताओं की पड़ताल जरूरी थी । इसके लिए प्रेमचंद की नजर सबसे पहले वकीलों पर गयी । इस वर्ग के क्रियाकलापों को प्रेमचंद ने बहुत गौर

से देखा और उनके सवाल को राष्ट्रीय सवाल से जोड़ा । वकील वास्तव में ब्रिटिश न्यायव्यवस्था के अंग थे । जहाँ प्रजा के खून से संचित धन को लूटने के हवकंडे होते थे, रिश्वतखोरी आम थी, सच्चा न्याय मिलना मुश्किल या असंभव था । अब यह वर्ग जब देशभक्ति का नेता बन जाये, तो इसे राष्ट्र की विडंबना ही कहिए । लेकिन अच्छे-बुरे के बावजूद यह तथ्य है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व इसी पेशे के लोगों ने किया । प्रेमचंद ने जगह-जगह बताया है कि यह वर्ग पुराने जमींदार वर्ग से पैदा हुआ है, अब भी उनके पास इलाके की स्थायी आमदनी है, जिसकी ओर ये कभी ध्यान नहीं देते अतः मुख्तार, पटवारी और थानेदार किसानों को स्वच्छंदतापूर्वक लूटते हैं ('उपदेश' में) । इस नए वर्ग के पास ज्ञान है और वह अपनी पीलरी कमजोरियों को सिद्धान्तों की आड़ में छिपा लेने में माहिर है । देशभक्ति के नाम पर अखबार पढ़ने और लेख लिखने तक ही सीमित है । लेकिन प्रेमचंद ने इस वर्ग को तिरस्कार योग्य नहीं समझा है । इसी में उनको भावुकतापरक मानवतावादी दृष्टि के व्यक्ति भी मिले हैं । सच्चे जाति के सेवक भी हैं । इनकी अकर्मण्यता अगर हट जाये तो ये देश का बहुत कुछ भला कर सकते हैं । इनकी कायरता और अकर्मण्यता ही इनके दोष हैं ।

कुछ ऐसे देशभक्त भी इनकी यहाँ दिखाई दिये हैं । पटना के नौजवान वकील पंडित श्यामसुन्दर ('दोनों तरफ से' 1911) इन्हीं में से एक हैं । ये ''जबान से कम और दिले-दिमाग, हाथ और पैर से ज्यादा काम लेते थे ।''[40] ये अछूतों के उद्धार के लिए लेख नहीं लिखते थे, बल्कि उनके बीच उठते-बैठते थे, उनकी परेशानियों के भागीदार थे । सब पंडित आदमी ठहरे और वह भी हिन्दुस्तान के । फलतः उन पर टीका - टिप्पणियाँ होने लगीं । ये तो नहीं लेकिन उनकी बीवी बेबिलारी देवी एक दिन व्यंग्य बाणों से घायल हो ही गयीं । सच्चे इन्सान थे, पत्नी से मुहब्बत करते थे । एक दिन पत्नी ने उनको अछूतों से मिलने-जुलने से मना कर दिया । फिर प्रेम और कर्त्तव्य में कुछ देर संघर्ष चला और अंत में प्रेम जीत गया । पति के इस प्रेम ने पत्नी के मन में भी देश सेवा की भावना पैदा की और वह भी तैयार हुईं । अंत में दोनों तरफ से देश

सेवायें होने लगीं । देहातों में ऋण देने के लिए बैंक की स्थापना की योजनाएँ बनीं । निष्कर्ष यह कि प्रेमचंद ने स्वार्थ से ऊपर उठे हुए ईमानदार वकीलों की भी पहचाना था और यह भी पहचान लिया था कि कुछ वकीलों की देशभक्ति मुवक्किल बढ़ाने का एक साधन थी ।

प्रेमचंद ने किसानों की वास्तविक समस्याओं से जुड़े हुए लोगों की ओर ध्यान दिया है । शुरू में ही उनकी दृष्टि संपूर्ण समाज में किसानों की स्थिति की तरफ थी । अतः जमींदार से लेकर नये-पुराने जमींदारों तक की उन्होंने जाँच है । अत्याचार और शोषण के वास्तविक आधार को पकड़ा कि जब 30 रुपये महावार की नौकरी छोड़कर 8 रुपये महावार में लोग जमींदारी करते हैं या सिपाही बनते हैं तो लूट-खसोट के अलावा और होगा क्या । इसलिए प्रेमचंद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तत्कालीन समाज-व्यवस्था में ईमानदार और सज्जन व्यक्ति का निर्वाह नहीं हो सकता । उसे तो डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सरदार शिवसिंह की तरह 'सज्जनता का दंड' भुगतना ही पड़ेगा । न्याय-व्यवस्था और प्रशासन में व्याप्त इन बुराईयों को दूर करने के लिए प्रेमचंद ने ग्रामीण पंचायत को उपयुक्त माध्यम माना । पंच परमेश्वर (1916) की पृष्ठभूमि में प्रचलित न्यायव्यवस्था के विरुद्ध यही आक्रोश है । ये कहानियाँ उनकी साम्राज्यवाद विरोधी देश प्रेम की कहानियों का अगला विकास है । विचारों के गोपन के बावजूद विचारों की कैसे सशक्त अभिव्यक्ति हो सकती है – 'नमक का दरोगा' इसका उदाहरण है ।

प्रेमचंद की इन आरंभिक कहानियों में कुछ कहानियाँ पुरानी जमींदारों पर भी हैं । जिनमें 'धर्म का पुतला' और 'बाँका जमींदार' महत्त्वपूर्ण हैं । प्रेमचंद ने यह महसूस किया है कि पुराने जमींदारों में अक्खड़ता और उद्दंडता के साथ-साथ रैयत के साथ आत्मीयता के भाव भी थे । व्यक्तिगत जीवन में भी उनमें वचन के लिए मर मिटने का साहस था । अतः एक स्तर पर प्रेमचंद उनको आदर्श की दृष्टि से भी देखते हैं । लेकिन नये जमींदार ज्यादा शोषक और ज्यादा घातक हैं । इन कहानियों में नये

शिक्षित जमींदारों की सोई हुई मानवीयता और धर्म बुद्धि को जाग्रत करने का प्रयास है । यहाँ तक वे जमींदारी प्रथा के खिलाफ नहीं हो पाये हैं, बल्कि उस व्यवस्था में निहित अव्यवस्था को दूर करना चाहते थे । अभी उन्होंने वकीलों और जमींदारों को किसानों का वर्ग शत्रु घोषित नहीं किया था ।

ग्रामीण जीवन संबंधी कुछ कहानियाँ भी इस बीच लिखी गयी थीं जिनमें गरीब की हाय (1911), अमावस की रात (1913), अँधेर (1913), बेटी का धन (1915) मुख्य हैं । लेकिन उनके साहित्य का पक्का किसान चरित्र 'पंच परमेश्वर' (जून 1916) में ही हमें मिलता है । इससे पहले प्रेमचंद ने देहात की सामान्य परिस्थितियों और सामान्य चरित्रों को ही प्रस्तुत किया है । यहाँ तक देहात स्वयं एक चरित्र है । उस चरित्र को पकड़ने - समझने का प्रयास यहाँ मिलता है । इस चरित्र की आम परेशानियों और शोषण के आम हथकंडों की ही चर्चा है । इस अँधेर-गर्दी के खिलाफ किसान के मन में गुस्सा भी आता है । अँधेर (1913) का गोपाल पहली बार धर्म और समाज के नाम पर चल रहे शोषण के खिलाफ बोलता है । ''गोपाल ने ओगढ़ाई लेकर कहा – सत्यनारायण की महिमा नहीं, यह अँधेर है ।''[41] प्रेमचंद की रुचि इस बीच गाँव के सांस्कृतिक जीवन की ओर ज्यादा रही है, आर्थिक कम । 'सेवासदन' के उमानाथ सुमन के लिए वर खोजने देहात में जाते हैं । देहात वालों की इस अवसर पर व्यक्त होने वाली मानसिकता को प्रेमचंद ने बड़ी बारीकी से पकड़ा है । ''ज्यों ही वह किसी गाँव में पहुँचते, वहाँ हलचल मच जाती । युवक गठरियों से वह कपड़े निकालते, जिन्हें वह बारातों में पहना करते थे । अँगूठियाँ और मोहनमाले माँगनी माँगकर पहन लेते । माताएँ अपने बालकों को नहला-धुलाकर आँखों में काजल लगा देतीं और धुले हुए कपड़े पहनाकर खेलने भेजतीं । विवाह के इच्छुक बूढ़े नाइयों से मोंछ कटवाते और पके हुए बाल चुनवाने लगते । गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिये

जाति, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती फटवाता । जब तक उमानाथ वहाँ रहते स्त्रियाँ घरों से न निकलती, कोई अपने हाथ से पानी न भरता, कोई खेत में न जाता ।''[42] इस तरह उन्होंने देहात का एक सामूहिक चरित्र ही खड़ा कर पाया है । 'सेवासदन' उपन्यास में भी देहात की पृष्ठभूमि और परिवेश के साथ शहरी जीवन की ही एक समस्या — वेश्या जीवन — को ही स्थान मिला है । यह उपन्यास पहले उर्दू में गया, पर छपा हिन्दी में । इस उपन्यास की हिन्दी में व्यापक चर्चा हुई और कुछ आलोचकों ने तो इसे ही प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है । उपन्यास में समस्या के वास्तविक कारणों और सुधारवादी आकांक्षा की अभिव्यक्ति हुई है ।

प्रेमचंद की जीवनदृष्टि में यह अगला विकास है । प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, रूस में क्रांति हुई और प्रेमचंद की जीवनदृष्टि ज्यादा साफ हुई । किसानों के प्रति आरंभ से ही उनके मन में सहानुभूति और जिज्ञासा का भाव था । शिवरानी देवी ने प्रेमचंद के सस्ती प्रकाशन की एक घटना बयान की है —

'' 4 साल की बात है । बच्चों पर वोटिंग का प्रश्न था । वे चाहते थे कि कांग्रेस वोट पाये । उन लोगों ने कहा कि हमें एक कुर्सी की जरूरत है । बोले, 'मैं कुर्सी तुम्हारे लिए बनवा दूंगा । वोट उन्हीं को देना । उनके राजी तुम्हारा भला होगा ।' बच्चों पर ज्यादती उसी जमींदार की है । बस्तीपुर से एक वोटर कुरमी था, जो मेम्बरी के लिए खड़ा था । इनके कहने पर भी बच्चों के सारे वोट उस कांग्रेसी को नहीं मिले । जब गाँव वालों को मालूम हुआ तो कायस्थ लोग बौखला गये । ठाकुर बोले — इन आदमियों को आप जहाँ तक, जहाँ से निकाल पड़े वहीं से । यह आपका अपमान हुआ ।

आप बोले — 'तुम लोग क्या बकते हो ? मेरे जीवन का यही ध्येय है, जमींदारों को सुधारना । मेरी एक बात की कीमत दो दो, सिर्फ पाँच में सबको तबाह कर दूं । लोगों ने न माना तो अपनी ओर

थी, न कि मेरी । मैं उन्हें सताए का हूँ, यह शराफत नहीं है । किंतु मैं तो चाहता हूँ वे अपने पैरों पर खड़े हों । आज मैं उनको भला चलता रहा हूँ । कल शायद उन्हें कोई धोखा दे । भेड़ों की तरह किसी के इशारों पर पब्लिक का चलना कहाँ तक ठीक है ? मैं ऐसे मुनासिब नहीं समझता । उन्होंने खुद समझकर जो भी किया अच्छा किया.... ।''[43]

इसी तरह निगम साहब ने प्रेमचंद को सरकारी अखबारनवीस बनने की सलाह दी, इस पर प्रेमचंद ने 6 जुलाई 1918 को लिखा कि '' अब मैं सरकारी अखबार नवीस क्या बनूँगा । अगर अखबारनवीस बनना तकदीर में है तो गैर सरकारी, आजाद अखबार नवीस होऊँगा । जंग के मुतालिक मजामीन लिखने की भी इस वक्त मुझे फुर्सत नहीं है । मैं तो अपनी रफ्तारी कदीम पर चलूँगा । बी०ए० करके किसी प्राइवेट स्कूल की हेडमास्टरी और एक अदने अखबार की एडिटरी और कुछ और पब्लिक काम । यही मेरी जिन्दगी है । अखबार मजदूरों - किसानों का हामी और मुआविन होगा ।''[44]

1918 से प्रेमचंद की जीवन दृष्टि और रचना दृष्टि में परिवर्तन दिखाई देता है । एक तरफ तो वे रूसी क्रांति के तरफदार होते हैं, उनमें वर्ग दृष्टि का विकास होता है, वे किसान - मजदूरों के समर्थक बनते हैं और सभ्यता के प्रति उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बढ़ती है । दूसरी ओर गांधी जी का राजनीति में प्रवेश होता है और उनके प्रभाव से प्रेमचंद भी अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर असहयोग आन्दोलन के हामी बन जाते हैं । प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन का अगला दौर (1918 से 1930 तक) इन दो प्रवृत्तियों के संघर्ष, सामंजस्य और तनाव का दौर है ।

कुल मिलाकर प्रेमचंद और किसान – दोनों एक दूसरे के निकट आ चुके थे – पर पर्याप्त परिचय आपस में नहीं हो पाया था । प्रेमचंद हालांकि किसान के बुनियादी सहपन और दृढ़ता के प्रति आस्थावान थे ; किंतु भी अब तक का किसान एक आदर्श ग्रामीण जीवन के ही किसान के रूप में सामने आया । झंगुरी चौधरी और झुम्मन शेख – इस किसान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं । इस संदर्भ में गोदान शीर्षक की बात

को प्रेमचंद ने उठाया और शहरी पूंजी के खिलाफ देहाती किसान की लड़ाई किया ।

गांव और शहर के आपसी संघर्ष का एक निश्चित भौतिक आधार है । लेनिन ने लिखा है कि '' एक ओर बड़े शहर बढ़ते जा रहे हैं । विशाल गोदाम, विशाल मकान और घर बनते जा रहे हैं । रेलें तैयार की जा रही हैं । कारखानों और खेती में सुधार किया जा रहा है । नयी मशीनों का उपयोग किया जा रहा है । दूसरी तरफ करोड़ों आदमी गरीबी के कारण घुल-घुल कर मरते हैं । अपने बाल बच्चों की भूख मिटाने के लिए वे जिन्दगी भर दिन रात एक करके काम करते हैं । इतना ही नहीं, अधिकाधिक लोग बेकार हो जाते हैं । शहर और देहात, दोनों में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है, जिन्हें काम बिलकुल ही नहीं मिलता । गांवों में वे भूखे रहते हैं, शहरों में वे आवारों में शामिल हो जाते हैं ।''[45]

भारत में ब्रिटिश नीति के कारण खेती पर निर्भर आबादी बढ़ी और फलतः उनकी परेशानियां भी । गांवों की इस हालत की जिम्मेदारी को कुछ भावुक मानवतावादियों ने शहरों पर थोपा और शहर और गांव के संघर्ष का नारा दिया । इस नारे में एक ओर तो शहरी मजदूरों और गांव के किसानों को दूर ही नहीं, परस्पर विरोधी बताया गया । दूसरी तरफ गांव में चल रहे किसी भी तरह के वर्ग-संघर्ष पर परदा डाला गया । इस तरह यह धारणा निकली कि सारे देहाती चाहे वह जमींदार हों या किसान या खेतिहर मजदूर – शहरी उद्योगपति और मजदूरों से सरल हृदय, भले-भले और मानवीय हैं। शहर रोग की जड़ और कपट का गढ़ है । इसलिए देहात के किसानों, जमींदारों और खेत-मजदूरों को एक ग्राम पंचायत का शक्तिशाली सामूहिक संगठन बनाना चाहिए, जिससे शहरी जीवन के चैलेंज का सामना किया जा सके । इसमें परस्पर भाईचारा, मानवीयता, पर अतिरिक्त बल दिया गया है और किसानों और जमींदारों के वर्ग-संघर्ष को नजरअंदाज किया गया है । वास्तव में इस धारणा की पृष्ठभूमि में बड़े किसानों और जमींदारों के वर्ग-हित की ही अभिव्यक्ति होती है क्योंकि इन ग्राम संगठनों में उन्हीं का प्रभुत्व होता है ।

बहुत दिनों तक प्रेमचंद ने इस धारणा के भीतर निहित इस सामंती तत्व को नहीं पहचाना । 'पंच परमेश्वर' में इस धारणा की अभिव्यक्ति हुई है । 'गोदान' में इस धारणा का खंडन है । होरी के शोषण में पंचायत की भी एक भूमिका होती है ।

किसानों के क्रांतिकारी स्वरूप से अब तक प्रेमचंद परिचित नहीं थे । हालांकि दूसरे वर्गों की नपुंसकता का उन्हें एहसास हो गया था, पर किसान पर पक्की आस्था जम नहीं पाई थी । किसानों की संगठनशक्ति से भी वे अनभिज्ञ थे – अतः स्वाधीनता संघर्ष में किसान की भूमिका निर्णायक है, इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँचे थे । कुल मिलाकर इस दौर का साहित्य किसानों के प्रति दया और ममता भाव से भरा हुआ है । इसमें शिक्षित भारतीयों — विशेषतः जमींदारों, कारिंदों और धनिकों को किसानों के लिए सदय होने की प्रेरणा और प्रोत्साहन है । यह सारा प्रयास व्यक्ति के निजी विवेक पर ही आधारित है । जमींदारों, पुलिस और महाजनों के अत्याचारों के वर्णन के बावजूद अभी तक उनकी अमानवीय जीवन दृष्टि को ही इसका कारण बताया गया है, जिसका उपचार उनमें मानवता और धर्म-बुद्धि के भाव जगाना मात्र है । जमींदारों के अत्याचार का कारण जमींदारी व्यवस्था के भीतर न बताकर जमींदारी व्यवस्था की अव्यवस्था को बताया गया है । किसान और जमींदारों के परस्पर हित-विरोध के बुनियादी आधार तक अभी वे नहीं पहुँच पाये थे — अतः यह साहित्य शिक्षित जमींदारों को संबोधित साहित्य है ।

'प्रेमाश्रय' प्रेमचंद ने 1918 में लिखना शुरू किया । इस बीच उन्होंने एक लेख लिखा — 'पुराना जमाना : नया जमाना' । यह फरवरी 1919 के जमाना में छपा । इसमें उन्होंने पुरानी विचारों को खंडित करके नए चिंतन का स्वरूप स्पष्ट किया है । इस लेख में पुरानी और नयी पीढ़ी की तुलना की गई है । कहीं पुरानी का गुणगान है तो कहीं नयी का । पुरानी के गुणगान में वर्तमान की विषैली बोलती है और नयी के सम्बन्ध

में भविष्य के प्रति आस्था । उन्होंने लिखा है कि '' इस नये जमाने में एक ऐसा रोशन पहलू भी है जो उन काले दागों को किसी हद तक ढँक देता है और वह है 'बेजबानों की ताकत का जाहिर होना ।' खास के इस यौरोपीय युद्ध ने इस पहलू को और भी उजागर कर दिया है । स्वार्थपरता के तूफान ने बड़े-बड़े गगनचुंबी पेड़ों को ही नहीं सोए हुए और छुटे हुए खेत भी मैदानों को भी जगा दिया है । अब एक मामूली मजदूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसंद नहीं करता । उसे अपने कर्त्तव्य चाहे न मालूम हों लेकिन अपने अधिकारों का पूरा - पूरा ज्ञान है । वह जानता है कि यह सारी राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूँ । अब वह मूक संतोष और सिर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लेने में विश्वास नहीं रखता ।''

'' जनता की यह उच्छृंखलता और मर्यादा चाहे नाजुक कानों को कितनी ही नागवार मालूम हो लेकिन वह उस निस्तब्ध मौन की तुलना में कहीं अधिक जीवनदायक है जो पुराने युग की अपनी विशेषता थी और अभी तक कुछ पिछड़ी हुई देशों में चल रही है, जो आग में जलकर, तलवार की चोट खाकर भी उफ नहीं करती, सहना और तड़पना जिसकी विशेषता है । नये जमाने के इस सबसे ताजा पहलू ने यूरोप और अमेरिका वगैरह देशों में शूद्रों का अन्त्य कर दिया है । अब वहाँ कोई ऐसा नहीं जो वर्त्तियों के अत्याचार की फरियाद करे, जो वैश्यों के स्वर्ण - सिंहासन को हिलाने वाला बने ।'' इसके बाद प्रेमचंद ने रूसी क्रांति की सुनहरी आभा का जिक्र किया है, लेकिन उसके प्रति उनके मन में एक बौद्धिक संदेह भी था । उन्होंने लिखा कि '' बहुत संभव है कि 'उ-राष्ट्रों' पर यह जनतंत्र (सोवियत रूस) का अत्याचार पूँजीपतियों से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो । जब कुछ थैली के पूँजीपतियों की स्वार्थपरता दुनिया को उलट-पलट कर रख दे सकती है तो एक पूरे राष्ट्र की सम्मिलित स्वार्थपरता क्या कुछ न कर दिखायेगी । वह भी जनोदंडी की एक सूरत है, ज्यादा ठोस । वह अपने देश के व्यक्तिगत प्रभुत्व को मिटाकर उसके बदले जनता के प्रभुत्व का डंका बजायेगी । मगर यह स्पष्ट है कि उसका आधार भी स्वार्थपरता

है और जब तक उसके पैरों से यह जंजीर दूर न होगी वह एक पैसानी मार्ग की मंजिल से एक डग भी और करीब न होगी, जो संस्कृति का लक्ष्य है ।''[46]

इसके बाद हिन्दुस्तान की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ''हमारी स्वराज्य के नेताओं में वकील और जमींदार ही सबसे ज्यादा हैं । हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे - आगे दिखाई पड़ते हैं । मगर कितने शर्म और अफसोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं । वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं ।.... जो रैयत अत्याचारी और लालची जमींदार के बूट में दबी हुई है, जिन अधिकार संपन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है, उसको वाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती ।''[47]

किसानों की स्थिति पर विचार करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है कि '' क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यक्तिगत प्रयत्न न हो ।..... मगर नये जमाने ने एक नया पन्ना पलटा है । आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है । दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है । हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता । हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकती । जल्दी या देर है, शायद जल्दी ही, हम जनता को केवल मुखर ही नहीं अपने अधिकारों की मांग करने वालों के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी किस्मतों की मालिक होगी । ..... हमारी कौंसिलों और राजनीतिक नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने प्रस्तावों की परिधि को फैलायें और जनता (यानी काश्तकारों) की हिमायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्यप्रणाली बना लें । स्वराज्य की ठेकेदार और बेमतलब सदाओं पर तालियां करके बैठने का वक्त अब नहीं होगा आने वाला जमाना अब जनता का है और वह लोग पछतायेंगे जो जमाने के कदम से कदम मिलाकर न चलेंगे ।''[48]

टिप्पणियाँ

1- ''..... धनपतराय और उनके पिता किसान नहीं थे, लेकिन किसानों से दूर भी नहीं थे । वे किसानों के दुःख-दर्द, कठिनाइयों, विवशताओं और छोटी-छोटी अभिलाषाओं से भलीभाँति परिचित थे, बल्कि यह संपूर्ण पीड़ित वर्ग विवशता और रस्मो-रिवाज का किसानों से कुछ अधिक घनिष्ठ नाता है । इसी अनुपात में उसकी कठिनाइयाँ और दुःख-दर्द भी अधिक होते हैं और अतृप्त अभिलाषायें, दरिद्रता के कीचड़ में कुलबुलाती रहती हैं ।'' प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व, पृ० 9, लेखक -शिवरानी देवी, आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली, 1962

2- 'संपत्तिशास्त्र' , मणीन्द्र प्रसाद द्विवेदी, पृ० 138, पंडियन प्रेस, प्रयाग, 1908

3- ''..... they were not addressed to the future of the nation state and thus were doomed to failure when they aimed at revolution. These revolts were, however, politically progressive in that they sought a new state of peasant society which would combine freedom from alien rule together with some traditional virtues and modern technology and popular government, rather than merely reverting to pre-British social structures - "Economic and Political Weekly", August 1974, Vol. IX, Nos.32,33 and 34 Special Number ; pp. 1403.
(Indian Peasant Uprisings - by Kathleen Gough).

4- लार्ड कर्जन ने कहा कि "It is the Indian poor, the Indian peasant, the patient, humble, silent millions, the 80 percent who subsist by agriculture, who know very little of politics, but who profit or suffer by their results, and whose eyes even the eyes of their countrymen, too often forget. He has been in the background of every policy for which I have been responsible, of every surplus of which I have assisted in the disposition." सुधीर चौधरी की पुस्तक 'Peasant and

Congress Movements in India'- 1905-1929" से उद्धृत, पृ06
Peoples Publishing House, Delhi,1971.

5- यह लेख बनारस के 'आवाजे खल्क' नामक उर्दू अखबार में । मई 1903 से 24 सितंबर 1903 तक क्रमशः प्रकाशित हुआ है । यह संपूर्ण ही उपलब्ध है ।

6- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ0 7, संकलन और संपादन, अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

7- यह उपन्यास 8 अक्टूबर 1903 से । फरवरी 1905 तक बनारस से उर्दू साप्ताहिक 'आवाज़ ए खल्क' में क्रमशः प्रकाशित हुआ है ।

8- मंगलाचरण, पृ0 45 , प्रस्तुतकर्त्ता - अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

9- कांग्रेस का इतिहास, पृ0 57, लेखक - पट्टाभिसीतारामैया, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

10- 'Indian Political Associations and Reform of Legislation (1818-1917)', pp. 25-26 by Binay Behari Majumder, Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta,1965.

11- विवेकानंद ने यह भी लिखा कि ''मानव समाज पर बारी-बारी से चार जातियों का राज्य होता है - पुरोहितों, सैनिकों, व्यापारियों और मजदूरों का । सबसे आखीर में मजदूरों (शूद्रों) का राज्य आयेगा..... । पहली तीन जातियों के शासन के दिन अब लद चुके हैं । अब इस आखिरी वर्ग का समय आया है । उसे शासन मिलना ही चाहिए । कोई इस बात को रोक भी नहीं सकता ।''''भारतीय चिंतन परंपरा' से उद्धृत, पृ0 378-79, लेखक - दे0 दामोदरन, अनुवादक -जी0धीरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1968 ।

12- "Unless the Government takes in hand some schemes for the better organisation of rural credit - even with some risk of failure at the outset — the agrarian problem in this country will never be properly faced", 'Tilak and Gokhale : Revolution and Reform in the making of Modern India', pp. 140-141 से उद्धृत, by- Stanley A. Wolpert, University of California Press, Berkeley, 1962.

13- Indian National Liberation Movement and Russia (1905-1917) से उद्धृत, pp. 22, by -P.B. Sinha, Sterling Publishers Pvt.Ltd., New Delhi, 1975.

14- 1895 की पूना कांग्रेस में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि " We are advocates of reform and not of revolution, and of reform as a safeguard against revolution."

15- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ0 20

16- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ0 36

17- सम्पत्तिशास्त्र, पृ0 146-147

18- श्री बालमुकुन्द गुप्त की कविता है -

"जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका चीथा सब जन खावें,
हाय ! हाय ! उनके बालक नित, भूखों के मारे बिलखें ।
काल सर्प की सी फुफकारें, लुएं भयानक चलती हैं,
धरती की सातों परतें, जिसमें तावा सी जलती है ।
तभी मुलि मैदानों में, वे कठिन किसानी करते हैं ।

× × × ×

जब अनाज उत्पन्न होय, सब तब उठा ले जाय लगान ।

19- श्री अमृतराय ने इसका प्रकाशन सन् 1906 माना है । अगले इस उपन्यास का हिन्दी रूपांतरण 'प्रेमा' शीर्षक से हुआ । ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह उपन्यास 1905 से पहले ही लिखा जा चुका था, क्योंकि इस उपन्यास पर बंग-भंग आन्दोलन का बिलकुल असर नहीं है ।

20- मंगलाचरण, पृ० 106

21- मंगलाचरण, पृ० 129

22- मंगलाचरण, पृ० 156-157

23- ''चुनांचि वो उस वक्त कपड़े पहन बाइसिकल पर सवार हो चटपट मजिस्ट्रेट की खिदमत में हाजिर हुए और उससे तमामी - कमाल वाकया बयान किया । अंग्रेजों में उनका अच्छा रसूख था । न इसलिए कि वो खुशामदी थे बल्कि इसलिए कि वो रौशन खयाल और साफगो थे । मजिस्ट्रेट साहब उनके साथ बड़े अखलाक से पेश आये । उनसे हमदर्दी जतायी और उसी वक्त सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस को तहरीर किया कि आप बाबू अमृतराय का मुहाफिजत के लिए पुलिस का एक गारद खाना करें और तावक्ते कि शादी न हो जाय सवार लेते रहें ताकि मारपीट और खून-खराबा न हो जाये ।'' मंगलाचरण, पृ० 190

24- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ० 113

25- चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ046, संकलन - लिपिका - शब्दार्थ -वदन गोपाल और अमृतराय, ऐस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982

26- कलम का सिपाही, पृ० 111, लेखक - अमृतराय, ऐस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

27- कलम का सिपाही, पृ० 112

28- चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ० 13

29- वारदान, पृ० 68-69, ऐस प्रकाशन, एलाहाबाद, 1974

30- मेरी कहानी, पृ० 52, लेखक - पंडित जवाहरलाल नेहरू, संपादक - पंडित उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971

31- कांग्रेस का इतिहास, पृ० 59

32- "Down in the depths of our mind, we, the educated people, have become Anglicised ..... our borrowed Anglicism repels our unsophisticated countrymen ..... Beside we seem to look upon them with contempt. Do we invite them to our assemblies and our conferences ? Perhaps we do when we want their signatures to some petition to be submitted before the government ; but do we associate with them heartily in any of our endeavours ! Do we co-operate with them indeed and truth ? In the peasant a member of any of our committees or conferences ? Do we consult his voice in arriving at any of our decisions ? .... Do we think of our ravaged and depopulated villages ? Do we think of the hungry, half-starved, malaria - stricken skeletons who drag out the lingering chain of life in the dim and forgotten recesses of those dreary haunts of disease ... our political agitation is a lifeless and soulless force a thing without reality and truth ... Hence our political agitation is unsubstantial - divorced from all intimate touch with the soul of our people", 'Peasants and Workers' Movement in India', pp.1

33- हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 63, लेखक पंडित जवाहरलाल नेहरू, संपादक- रामचन्द्र टण्डन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977

34- Jawaharlal Nehru A Biography, Volume One, pp.42, by - S. Gopal, Jonathan Cape, 30 Bedford Square, London, 1975.

35- Peasant and Workers Movements in India, pp.40

36- हिन्दुस्तान की कहानी, पृ0 489

37- चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ0 93

38- चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ0 29

39- गुप्तधन, भाग 1, पृ0 145, प्रस्तुतकर्ता – अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

40- नया प्रतीक, वर्ष 3 अंक 10, अक्टूबर 1976, पृ0 16, संपादकीय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

41- गुप्तधन, भाग 1, पृ0 140

42- सेवासदन, पृ0 15, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

43- प्रेमचंद घर में , पृ0 32, लेखिका – शिवरानी देवी प्रेमचंद, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1956

44- चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ0 70

45- गाँव के गरीबों से, पृ0 9, लेखक – लेनिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, हिन्दी संस्करण, 1971

46- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ0 266

47- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ0 267

48- विविध प्रसंग, भाग 1, पृ0 268-269

दूसरा अध्याय

सर्जनात्मक विकास और विज्ञान के वर्गीय संबंधों के उद्घाटन का प्रयास

(1919 -1929 ई०)

प्रथम विश्व युद्ध, रूसी क्रांति और प्रेमचंद :

'सेवासदन' की रचना तक प्रेमचंद के रचनाकार मानस का निर्माण हो रहा था । साहित्य का विषय, स्वरूप, सार्थकता और उद्देश्य से संबंधित कई रचनात्मक सवाल उनके मानस में गूंज रहे थे । रचना-प्रक्रिया के स्तर पर एक बेचैनी का एहसास प्रथम दौर की रचनाओं में मिलता है । हालांकि प्रेमचंद ने हमेशा अपने साहित्य को आलोचना की नजर से देखा और वह उसके परिष्कार और उसमें परिवर्तन के प्रयास करते रहे, फिर भी विषय-वस्तु के चुनाव संबंधी आंतरिक संकट लगभग खत्म हो गया । भारतीय विज्ञान और स्वाधीनता - आन्दोलन के रूप में उनके पास विषयों का खजाना एकट्ठा हो गया था । समकालीन अधःपतन के कारणों की जो खोज भारतीय बुद्धिजीवियों ने उन्नीसवी शताब्दी में शुरू की थी, 1920 में आकर उन्हें कुछ निर्णायक कारण मिल गये । असहयोग आन्दोलन का भारत में सिर्फ राजनीतिक महत्त्व ही नहीं है, बल्कि साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी है । इसके बाद राष्ट्रीय बुद्धिजीवी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि समकालीन अधःपतन का कारण अंग्रेजी राज है और इससे उबरने के लिए राष्ट्रीय मुक्ति या स्वराज्य ही एकमात्र उपाय है । पुराना देशोद्धार का नारा यहाँ आकर देश मुक्ति के नारे में बदल गया और यह निष्कर्ष निकाला गया कि देश की मुक्ति के बिना देश का उद्धार असंभव है । प्रेमचंद का अगला साहित्य इसी

धारणाओं पर आधारित है ।

दुनिया के इतिहास में इस बीच दो नयी घटनाएँ घटी थीं – एक प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918) और दूसरा, रूसी क्रांति (1917 ई०) । इन दोनों घटनाओं ने दुनिया भर की राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्थितियों को क्रांतिकारी ढंग से बदल दिया । सजग साहित्यकार प्रेमचंद पर भी इनका प्रभाव पड़ा । इस युद्ध के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए प्रेमचंद ने 'स्वदेश' के प्रवेशांक में लिखा है कि ''संयुक्त जनता का इतना गौरव इस युद्ध के पहले कभी न था । वास्तव में इस युद्ध में अगर किसी की जीत हुई है तो वह है जनता की जीत । इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है जो फ्रांस की राज्य क्रांति ने भी न किया था ।''[1] और रूस की क्रांति ने तो 'जेजवानी' की लाज को जारि कर ही दिया और किसान - मजदूरों का वर्ग राज्य कायम हो गया । इसीलिए प्रेमचंद ने घोषित किया कि ''हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है ।''[2] जनता से उनका तात्पर्य किसान - मजदूर से है । जब किसान - मजदूर (रूस में) राज्य करने की शक्ति रख सकते हैं, तब साहित्य में उन्हें क्यों न स्थान दिया जाए । भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन भी इन्हीं की शक्ति से विजयी हो सकता है । इन निष्कर्षों से प्रेमचंद ने किसान जीवन पर साहित्य लिखा और उन्हें ही अपनी रचनाओं में नायक का गौरवशाली पद भी प्रदान किया ।

प्रेमचंद पर गांधीजी का प्रभाव असहयोग आन्दोलन के बाद ही पड़ा था । प्रेमचंद पर ही नहीं, संपूर्ण हिंदी साहित्य पर असहयोग के बाद ही उनका प्रभाव पड़ा था क्योंकि राष्ट्र ने नेता के रूप में गांधीजी को इसी आन्दोलन में पहली बार देखा था । इसलिए जो लोग 'प्रेमाश्रम' पर गांधीवादी प्रभाव देखते हैं, वे ऐतिहासिक रूप से गलती करते हैं । प्रेमचंद ने 1918-20 तक 'प्रेमाश्रम' की रचना कर डाली थी, उसका प्रकाशन अवश्य 1921 ई० में ही हुआ था ।[3] गांधी जी से पहले तो

उन पर रूसी क्रांति का प्रभाव था । उन्होंने श्री दयानारायण निगम को 21 दिसम्बर 1919 को गोरखपुर से लिखा कि "मैं अब कार्ल-मार्क्स वैज्ञानिक उसूलों का कायल हो गया हूँ ।" असहयोग आन्दोलन के बाद प्रेमचंद ने कहीं भी इस तरह के स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं किए । रूस की सामाजिक - आर्थिक - सांस्कृतिक उन्नति के समाचार तो उन्होंने बहुत उत्साह से छापे हैं, लेकिन अपने को 'समाजवादी' घोषित नहीं किया है । सत्रीस से मोहभंग के काल में अंतिम दिनों में प्रेमचंद फिर इस ओर झुके भी थे । बीच में उनकी समाजवादी भावधारा दबी ही रही । प्रेमचंद ने असहयोग पूर्व के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं पर कहानियाँ लिखी हैं । 'ब्रह्म का स्वांग' और 'त्यागी का प्रेम' इसी तरह की कहानियाँ हैं । स्वाधीनता आन्दोलन पर बाद में जो कहानियाँ लिखी हैं, उनसे ये अलग हैं । इनमें राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं पर 'व्यंग्य' किया गया है ।

'ब्रह्म का स्वांग' कहानी में एक ब्राह्मण-परिवार है । पति वकील होने के साथ-साथ राष्ट्रीय नेता भी है ; पत्नी पुराने विश्वासों की धार्मिक महिला है । पति - पत्नी के आत्म-चिंतन या चिंतन के रूप में कहानी चलती है । वृन्दा इस बात से दुखती रहती है कि उसका वकील पति स्नान-ध्यान नहीं करते, कायस्थों, बनियों और यहाँ तक कि मुसलमानों के साथ बैठकर खाना खा लेते हैं । एक दिन वकील साहब उसे समझाते हैं कि यह सारी सृष्टि ब्रह्म की ही बनाई हुई है, अतः सभी प्राणी समान हैं । "जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग-अलग घरों में जाकर भिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान आत्मा पृथक-पृथक जीवों में प्रविष्ट होकर विभिन्न नहीं होती ।"[5] अब 'नासमझ' वृन्दा 'विद्वान' पति की धारणा के अनुसार ही आचरण करने लग जाती है । मेहरी की मदद करती है, चमारिनों को भी घर के अन्दर ब्राह्मणियों के साथ बिठा देती है — क्योंकि सभी ब्रह्म की ही संतानें हैं । अंत में, वकील साहब फिर ब्रह्म का ही सहारा लेकर कहते हैं कि ब्रह्म ने ही

सृष्टि - निर्माण के साथ ही यह ऊँच-नीच की स्थिति भी बनायी है । इस प्रसंग में वकील साहब अपनी राजनीति भी स्पष्ट करते हैं । '' मैं भी राष्ट्रीय स्वप्न का अनुरागी हूँ । समस्त शिक्षित - समुदाय राष्ट्रीयता पर ध्यान देता है । किन्तु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरों या सेवाव्रतधारियों को समता का स्थान देंगे । हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं । उनकी दीनावस्था से उठाना चाहते हैं । यह एक संसार भर में फैली हुई है पर इसका मर्म क्या है ; यह दिल में सभी समझते हैं, चाहे कोई तोलकर न कहे । इसका अभिप्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्त्व बढ़े, हमारा प्रभुत्व उदय हो, हमारी राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव अधिक हो, हमें यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वनि केवल मुट्ठी भर शिक्षित वर्ग की ही नहीं, वरन् समस्त जाति की संयुक्त ध्वनि है, पर कृपा की यह रत्न कौन समझाये ।''[6]... असहयोग आन्दोलन के बाद प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आन्दोलन को गरीबों - विशेषकर मजूर - किसानों का आन्दोलन मानकर उसकी हिमायत की है और कार्यकर्त्ताओं की निजी कमजोरियों को उभार कर सामने रखा है ।

'त्यागी का प्रेम' के लाला गोपीनाथ असहयोग से पहले के छुटभैया नेता हैं । युवावस्था में उन्हें दर्शन से प्रेम था, घंटों चिंतन में लीन रहते ; इसके साथ ही उनमें राष्ट्र प्रेम भी था । विद्या समाप्ति के बाद उनके सामने सवाल आया — देश सेवा या दार्शनिक चिंतन ? अंत में देश सेवा की ठानी गयी । '' नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में कूद पड़े । देखा तो मैदान खाली था । जिधर आँख उठती, सन्नाटा दिखाई देता । ध्वजाधारियों की कमी न थी ; पर सच्चे हृदय कहीं नजर न आते थे । चारों ओर से उनकी खींच होने लगी । किसी संस्था के मन्त्री बने, किसी के प्रधान, किसी के कुछ, किसी के कुछ ।''[7] थे धन के धनी थे अतः खाने कमाने की समस्या नहीं आयी । जी जान से जब वह इस काम में लगे तब उन्हें पता चला कि ''जाति सेवा बड़े धीरज और त्याग से केवल चंदे माँगना है ।''[8]

इसके बाद उन्होंने विवाह न करने की ठानी और देश सेवा में अपने को पूरी तरह डुबा दिया । कुछ दिनों बाद एक कन्या पाठशाला खोली गयी, उसमें एक शिक्षित गुजराती महिला (विधवा) को बम्बई से हिन्दी पढ़ाने के लिए बुलाया गया । धीरे-धीरे आनंदी के मन में लाला के प्रति श्रद्धाभाव और गोपीनाथ के मन में प्रेम भाव का उदय होने लगता है । यह प्रेम कुछ दिनों तक तो गुप्त रहा, फिर जब यह रहस्य खुला तो पता चला कि आनंदी बाई को पुत्र-लाभ हुआ है । इस मौके पर गोपीनाथ की कायरता ने सिद्धान्त की आड़ में बचाव लिया और दो महीने तक वह आनंदी से मिले भी नहीं । बाद में आधी रात को नियमित रूप से मिलने जाने लगे । इन दोनों कहानियों से प्रेमचंद की रचना-दृष्टि का पता चलता है ।

देश में स्वाधीनता - आन्दोलन नये नेता और नये कार्यक्रम की तलाश कर रही थी । गांधीजी का प्रवेश राष्ट्रीय राजनीति में हो चुका था, फिर भी अभी उनको सर्वमान्य स्थिति नहीं मिल पायी थी । विश्व युद्ध के दिनों में ब्रिटेन ने भारतीयों का साथ दिया था और बदले में वह भी कुछ पाना चाहती थी । 1918 के भारत की स्थिति पर विचार करते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है : " महायुद्ध के बाद भारतवासी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते रहे कि देखें अब हमें क्या मिलता है । उनके मन में क्रोध था, वे लड़ने की उतावली दिखाई देते थे, उन्हें कुछ आशा भी नहीं थी, फिर भी वे प्रतीक्षा में थे । कुछ ही महीनों में नयी ब्रिटिश नीति का पहला फूल, जिसका कि इतनी उत्सुकता के साथ इन्तजार किया जा रहा था, एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में दिखाई दिया, जिसमें क्रांतिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए खास कानून पास करने की व्यवस्था की गयी थी । अधिक स्वतंत्रता के बदले अधिक दमन होने वाला था । इन कानूनों का प्रस्ताव एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर तैयार किया गया था और वे 'रौलट बिल' कहलाते थे । कुछ ही दिनों में ये बिल देश

के दौरान 'काले-बिल' कह कर पुकारी जाने लगी और सब जगह हर वर्गों के भारतवासियों ने, जिनमें नरम-से-नरम विचार वाले भी शामिल थे, उनकी निन्दा की । इन बिलों में सरकार को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये थे और पुलिस को लोगों को गिरफ्तार करने, अदालत में पेश किये बिना ही जेल में रखने या जिस किसी को वह पसन्द नहीं करती थी या शक की नजर से देखती थी, उस पर गुप्त अदालती कार्रवाई करने का हक दिया गया था । उन दिनों इन बिलों का वर्णन आमतौर पर इन शब्दों में किया जाता था: 'न वकील, न अपील, न दलील '।''[9]

रौलट बिल के बाद 13 अप्रैल 1919 को जलियां वाला बाग (अमृतसर) में पुलिस ने जनता पर गोलियां चलाईं, जिसमें सरकारी आंकड़ों के अनुसार 379 लोग मारे गये और 1200 लोग घायल हुए । इस हत्याकांड का उद्देश्य समस्त भारतीय जनता को आतंकित करना था । रजनीपामदत्त ने लिखा है कि ''भारत में उस समय दमन का कितना जबरदस्त सिलसिला चल रहा था इसका पता इसी से लगाया जा सकता है कि कांग्रेस कमेटी के नेताओं को भी इस हत्याकांड की जानकारी घटना के चार महीने बाद हुई और लगभग आठ महीनों तक इस हत्याकांड के किसी भी समाचार को सरकार ने न तो अखबारों में छपने दिया और न उसे ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा ब्रिटिश जनता के सामने आने दिया ।''[10] साम्राज्यवादियों के इस दमन के बावजूद कांग्रेस सरकार से सहयोग के ही पक्ष में थी । यद्यपि 1918 की मोंटागू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट को कांग्रेस ने 'निराशाजनक और असन्तोषजनक' ही बताया था । फिर भी 31 दिसम्बर 1919 को गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में लिखा : '' सरकारी घोषणा के साथ सुधारों से संबंधित जो कानून पारित हुआ है उससे पता चलता है कि अंगरेज लोग भारत के साथ न्याय करना चाहते हैं और इस बारे में अब हमारे संदेह दूर हो जाने चाहिएं ।.... इसलिए हमारा कर्तव्य यह है कि सुधारों की अकारण आलोचना न करके चुपचाप उनके अनुसार काम करना शुरू करें ताकि इन सुधारों को सफलता मिल सके ।''[11] इस घोषणा से पता चलता

है कि गांधीजी भी सरकार से निर्णायक लड़ाई छेड़ने में झिझक रहे थे, साथ ही जन आक्रोश का भी पता चलता है जो इन सुधारों के विरोध में प्रकट हो रही थी।

प्रेमचंद इन दिनों गोरखपुर के नार्मल स्कूल में अध्यापक थे। 'सेवासदन' की तरह 'प्रेमाश्रम' की रचना भी उन्होंने यहीं रहकर की थी। यहाँ उनका परिचय हिन्दी के दो प्रमुख साहित्यकारों से हुआ, जिन्होंने प्रेमचंद को हिन्दी साहित्य में लाने और उन्हें प्रतिष्ठित करने के आरम्भिक प्रयास किये। इनमें एक देशरत्नप्रसाद द्विवेदी और दूसरे, मदनवीरप्रसाद पोद्दार थे। पोद्दार जी ने 'हिन्दी पुस्तक एजेंसी' से प्रेमचंद का पहला हिन्दी गल्पसंग्रह — 'सप्त सरोज' (1917 ई०) प्रकाशित किया।

प्रेमचंद का गोरखपुर वास उनके निजी जीवन के स्थायी और सुखद दिनों में से थे। प्रेमचंद के इन दिनों के संस्मरणों में से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षक के रूप में प्रेमचंद का व्यवहार छात्रों के साथ तो हमेशा ही स्नेहपूर्ण रहा है, पर वह अधिकारियों से कभी भी दबे नहीं। एक बार एक इन्सपेक्टर स्कूल का मुआयना करने आया। दूसरे दिन छुट्टी के कारण प्रेमचंद घर पर ही थे। "आराम कुर्सी पर लेटे दरवाजे पर आप अखबार पढ़ रहे थे। सामने से ही इन्सपेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे। लेकिन आप उठे भी नहीं। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इन्सपेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा।

अर्दली जब आया, तो आप गये।

'कहिए क्या है?'

इन्सपेक्टर — 'तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है, उठकर सलाम भी नहीं करते।'

'मैं जब स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ।'"[12]

इसी तरह एक दिन प्रेमचंद की गाय कलेक्टर के खेत में घुस गई । उसने प्रेमचंद को बुलाया । इस घटना का चित्र भी शिवरानी देवी ने किया है ।

'' साहब के पास आकर आप बोले – 'आपने मुझे क्यों याद किया?'

'तुम्हारी गाय मेरे खेत में आई। मैं उसे गोली मार देता । एम ऑनरेबल हैं ।'

'साहब, आपको गोली मारनी थी तो मुझे क्यों बुलाया ? आप जो चाहें सो करते । या आप मेरे खड़े रहते गोली मारते ?'

'हाँ, एम ऑनरेबल हैं, कलेक्टर हैं । हमारी पास ताकत है । एम गोली मार सकता है ।'

'आप ऑनरेबल हैं । कलेक्टर हैं । सब कुछ हैं, पर पब्लिक भी तो कोई चीज है ।'

'मैं आज छोड़ देता हूं । आइन्दा आई तो एम गोली मार देगा।'

'आप गोली मार दीजिएगा । ठीक है, पर मुझे याद न कीजिएगा ।'

यह कहते हुए आप बाहर चले आये ।''[13]

इसके अलावा युद्ध समाप्ति के बाद गोरखपुर में भी एक विजय के उपलक्ष में जलसा मनाया गया । जिलाधीश स्वयं उसमें मौजूद थे, पर प्रेमचंद उसमें नहीं गये । इस पर प्रधानाध्यापक केवलराम से स्पष्ट मांगा गया, प्रेमचंद ने उसका लिखित उत्तर दिया, जिसे केवलराम ने भी अधिकारियों के पास नहीं भेजा । यह सारी घटनाएँ प्रेमचंद के निर्भीक और देश प्रेमी व्यक्तित्व को स्पष्ट करती हैं । प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की जीत होने पर कांग्रेस ने बधाई दी थी, युद्ध में हर तरह से मदद की थी, स्वयं गांधीजी ने गुजरात के किसानों में रंगरूट भरती करवाये, पर साहित्यकार प्रेमचंद ने इस विजय-उत्सव में भाग नहीं लिया ।

कालक्रम के इस दौर में हिंदी साहित्य की स्थिति पर भी एक नजर डाल देना जरूरी है । हिंदी साहित्य में इस समय मुख्यतः दो धाराएँ

धूमधाम से निकल रही थी । एक तो 'सरस्वती' और दूसरी 'मर्यादा' थी । 'मर्यादा' घोषित रूप से राजनीतिक पत्रिका थी । रूसी क्रांति के बाद 'मर्यादा' ने खुलकर उसका समर्थन किया और समाजवादी विचारधारा के प्रचार के लिए लेख छपे । किसान सभा, ट्रेड यूनियन, राजनीतिक आंदोलन संबंधी लेख उसमें प्रायः छपा करते थे । जून 1917 की 'मर्यादा' में श्रीयुत देवीलाल दीक्षित ने 'हमारा राजनीतिक जीवन' शीर्षक लेख लिखा । उसमें उन्होंने साफ लिखा कि ''इससे यह भाव टपका पड़ता है कि कृषक वर्ग ही समाज का प्रधान अंग है, राजे, महाराजे, डयूक, अर्ल, बाबू और अपने को जेन्टलमेन कहलाने वाले तो एक मिनट में बन और बिगड़ सकते हैं परन्तु कृषकों को सुधारने से देश की अवस्था सुधरती और उनके बिगड़ने से सब बिगड़ जाता है । जो समाज के प्रधान अंग हैं उनकी ही अवहेलना भारत वर्ष में अधिक होती है । इन्हीं के सुधार और शिक्षा के लिए हम लोगों को कटिबद्ध होना चाहिए ।''[14] सन् 1915 से 1918-19 तक की 'मर्यादा' में होमरूल, लाला लाजपतराय, एनीबीसेंट, मोतीलाल नेहरू तथा कांग्रेस की गतिविधियों से संबंधित विस्तृत सामग्री है । आगे चलकर उसमें रूसी क्रांति और असहयोग आन्दोलन का भी समावेश हो जाता है । उस समय के प्रसिद्ध लेखक रमाशंकर अवस्थी के इस संबंधी अधिकतर लेख इसी पत्रिका में छपे हैं । किसानों के कष्ट, जमींदारों के अत्याचार, सरकारी शोषण और धार्मिक अंधविश्वासों की जकड़ का आत्मीय चित्रण उस युग की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है । उस समय की प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' में भी ऐसे लेख पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं । इन लेखों में अनुभवपरक व्याख्या और विश्लेषण किया गया है । ये लेख शिक्षित और प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों को संबोधित हैं । किसानों की वास्तविक परेशानियों का इनमें वास्तविक वर्णन है, उनकी परेशानियों को दूर करने के व्यावहारिक और सुधारवादी सुझाव भी दिये गये हैं । इनमें 'शिक्षित जनता' को किसानों के बीच मिशनरी

कार्य करने की प्रेरणा दी गयी है । किसान जीवन पर लिखे गये इन मौलिक लेखों की परंपरा बहुत बाद तक चलती है ।[15] 'प्रेमाश्रम' में किसान-जीवन की जो समस्याएँ वर्णित हैं, और उनके जो समाधान बताये गये हैं, उनकी परंपरा इन्हीं लेखों में मिलेगी । प्रेमचंद की मौलिकता और साहस इस बात में है कि इस जीवन को उन्होंने लेखों का नहीं, उपन्यासों और कहानियों का विषय बनाया । स्वयं प्रेमचंद ने भी कुछ दिनों तक 'मर्यादा' का सम्पादन किया था ।

इस काल की दूसरी महत्वपूर्ण पत्रिका 'सरस्वती' थी । यह राजनीतिक पत्रिका नहीं थी, बल्कि जैसा कि डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है 'सरस्वती' ज्ञान की पत्रिका'[16] थी । सरस्वती ने हिन्दी - भाषा का और हिंदी लेखकों का निर्माण किया । यद्यपि 'सरस्वती' का राजनैतिक स्वर हमेशा ही दबा-दबा रहा, फिर भी उसने हिंदी साहित्य की नींव मजबूत की । इस पत्रिका में 'काव्य-भाषा' के संबंध में बहस चली । उस युग तक गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जाने लगा था, परन्तु कविता पर अभी तक ब्रजभाषा का ही आधिपत्य था । 'सरस्वती' ने खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया, कविताएँ छापीं और खड़ी बोली के विरोधियों के तर्कों का जवाब दिया । इस संदर्भ में 'सरस्वती' का प्रमुख तर्क था नवीनता नए युग के अनुरूप नयी भाषा, नये छंद, नया साहित्य । साहित्य में 'परंपरा' का नहीं 'नवीनता' का महत्व है — 'सरस्वती' ने इसे प्रतिष्ठित किया । गद्य के क्षेत्र में भी यही मूल्य सामने आया । अभी तक हिंदी में उपन्यास और कहानियाँ अधिकतर अनुवादित ही थीं — बंगला और अंग्रेजी के अनुवाद धड़ल्ले से निकल रहे थे— या फिर देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों की धूम थी । 'शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति' में परिवर्तन करने वाले मौलिक गद्य-लेखकों की कमी का एहसास 'सरस्वती' को था । इसकी पूर्ति का प्रयास भी उसने किया और नए लेखकों को प्रोत्साहन भी दिया । प्रेमचंद की मौलिकता का महत्व इस अभाव के

बीच प्रकट होता है । अक्टूबर 1922 की 'सरस्वती' में मणवीर प्रसाद द्विवेदी ने 'उपन्यास-रहस्य' शीर्षक निबंध लिखा । इसमें उन्होंने 'सौन्दर्या' का मूल्य घोषित करते हुए लिखा है कि ''..... हिंदी के सौभाग्य से इस प्रांतों में एक ऐसे भी उपन्यास-लेखक (प्रेमचंद - से०) प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास सुनते हैं, उन्हीं की उपज है । ''सुनते हैं'' इसलिए, कोंकि हमको उनकी उपज का स्वतः कुछ भी ज्ञान नहीं । उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों की धूम, कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आये । उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ । दूसरा अभी हाल ही में निकला है ।''[17] ये उपन्यास 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' थे ।

इस सुखद आश्चर्य को प्रकट करने के बाद उपन्यास का जो आदर्श सामने रखा गया है, वह प्रेमचंद के आदर्श से हूबहू मिलता है - ''उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए । उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्यायें, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म्म, कर्म्म, किसान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं । उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती । काव्यों और नाटकों की भी पहुँच वहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं । स्त्रियों और बच्चों के भी ये शिक्षक बन सकते हैं । मिहनत - मजदूरी करने वालों को भी ये घण्टे भर सदुपदेश दे सकते हैं । लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता । अतएव - ऐसे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याण-कारक है।''[18]

ऐसे साहित्यिक और राजनीतिक माहौल में प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' लिखा और बाजार में अति की चर्चा का केन्द्र बन गया । पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा किये जाने लगे और हजारों की तादाद में 'प्रेमाश्रम' पढ़ा जाने लगा ।

यह विवाद और उसमें दिये गये तर्क भी तत्कालीन साहित्यिक माहौल को समझने में मददगार होंगे । डा0 रामविलास शर्मा ने 'प्रेमाश्रम' के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि —''..... एक तो किसानों पर लिखना ही सुराज का अपमान करना था । उस पर किसी खास आदमी को नायक न बनाना और भी अनोखा प्रयोग था । प्रेमचंद ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे । उन्होंने उस धड़कन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी । उन्होंने उस अदृश्य शक्ति को अपना कथा- विषय बनाया जिसे भरपूर निगाह देखने का विवेक भी बड़ों बड़ों को न था । .... ''प्रेमाश्रम'' लिखना एक अद्भुत साहस का काम था । साहित्य का घोड़ा लिए हुए प्रेमचंद ऐसे मार्ग पर चल पड़े, जिसे पहले किसी ने तै न किया था । उनकी प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उन्होंने जो साहस किया, वह दुस्साहस साबित नहीं हुआ । 'प्रेमाश्रम' एक अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास के रूप में आज भी जीवित है ।''[9] —

'प्रेमाश्रम' की शुरुआत लखनपुर गाँव की चौपाल से होती है । चार-पाँच किसान इतमीनान से बैठकर, खुले दिल से बातचीत कर रहे हैं ; ऐसा लगता है मानो आपस में बड़ा भाईचारा है । सबने मिलकर अंग्रेज हाकिमों की कार्यकुशलता और न्यायपरायणता की दाद दी, देशी हाकिमों की घामड़ और घूसखोर प्रवृत्ति की भर्त्सना की, देश और अपने दुर्भाग्य का रोना रोया, पढ़ी - लिखी जमात की स्वार्थपरता पर आँसू बहाये, पुरानी जमाने को याद करके आहें भरी और नये जमाने को गालियाँ दी । यहाँ तक आपस में किसी प्रकार के मनमुटाव व ईर्ष्या - द्वेष के दर्शन नहीं होते । इतने में बाहर से — जमींदार का चपरासी गिरधर महाराज आता है । चपरासी के साथ गाँव में विपत्ति और फूट साथ-साथ आती है । बड़े सरकार की खेती के लिए जमींदार को घी चाहिए । बाजार भाव रुपये का ढाई है पर जमींदार रुपये सेर के भाव से लेगा । सब लोग परिस्थिति के अनुसार

रुपये पेशगी ले लेते हैं, पर मनोहर साफ इन्कार कर देता है । उपन्यास की इस शुरुआत पर तत्कालीन आलोचक रघुपति सहाय ने बहुत मार्मिक टिप्पणी की है । ''..... कितना रोचक परन्तु कितने सजधज का उठान था । बात की बात में आँखों के सामने हिन्दुस्तान के ग्राम्य जीवन की एक झलक फिर गई । इन किसानों की बातचीत में देहात की सैर का मजा भरा हुआ था । मालूम होता था कि हम स्वयं लखनपुर में अलाव के पास बैठे हुए दुखरन, सुक्खू और मनोहर की बातें सुन रहे हैं और ग्रामीण राजनीति में हिस्सा ले रहे हैं । हमें उस तरो-ताजगी का, उस विराम का और उस इत्मीनान का जो इन दुखियों को दिन भर की दौड़-धूप और बेगार के बाद नसीब हुआ था तथा उस विराम का जो दिन भर के थके माँदे बैलों को शाम के वक्त नसीब हुआ था अनुभव होने लगा । उसके साथ-साथ दुखियों की पददलित दशा, उनकी व्यथा, उनकी बेबसी, इस विराम में भी, इस शांत दशा में भी किसी भूली हुई चिन्ता और किसी बीती हुई मुसीबत की याद की तरह दिल को तड़पा गई । लेखक ने अपनी तरफ से इस विराम, इस चिन्ता और दुःख की कोई लम्बी - चौड़ी व्याख्या नहीं की । उसने किसानों की बातचीत ज्यों की त्यों लेखबद्ध कर दी और जिस तरह फूल से सुगन्ध अपने आप निकलती है, उसी तरह हमें यह चिन्तामय विराम और विरामयुक्त चिन्ता भी शाम की धीमी हवा के साथ - साथ बहती हुई नजर आती है । शाम के सन्नाटे में लखनपुर के चन्द किसानों की अलाव के किनारे ये सीधी सादी बातें, यद्यपि स्वयं एक साधारण घटना मालूम होती है, लेकिन एक अज्ञात रूप से वे हमें यह कहती हुई मालूम होती है कि आगे - आगे देखिये होता है क्या । जिस तरह किसी आघात के समय दम का रुक जाना फूट-फूट कर रोने की भूमिका है उसी तरह शांत बातचीत, यह सन्नाटा किसी आने वाले तूफान का पता देता है ।''[20] इस उठान के बाद लखनपुर के किसान और जमींदार जानशंकर के आपसी संबंध और संघर्ष की कहानी गई है । इस उपन्यास का मुख्य विषय है - किसान और जमींदार का संबंध ; और प्रेमचंद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जमींदारी - प्रथा ऐ

खत्म होने से ही किसान सुशहाल हो सकता है । किसान का अगर कोई सबसे बड़ा शत्रु है — तो वह है जमींदार और उसके कारिंदे ।

प्रेमचंद 'प्रेमाश्रम' में वह सब कुछ कह देना चाहते हैं जो वे सोचते - समझते हैं ; या जिसका उन्हें अनुभव है । वे समाज की बुनियादी और गैर बुनियादी समस्याओं पर अपनी राय देते हैं, सभी वर्गों के आपसी संबंधों, उनके रहन-सहन, आचार-विचार की विस्तृत और सूक्ष्म जानकारी पाठक को देते चलते हैं । जिस समय प्रेमचंद ने यह उपन्यास लिखना शुरू किया उस समय उनकी उम्र 36 वर्ष की थी, फिर भी एक युवकोचित उत्साह उपन्यास में दिखाई देता है । प्रेमचंद लाला प्रभाशंकर की पाक कला का वर्णन करते हैं तो करते ही चले जाते हैं । एक बार ज्ञानशंकर को राधास्वामी के साथ नैनीताल भेज दिया — वहाँ बड़े विस्तार से प्रेमचंद ने उच्च अधिकारियों की जीवन पद्धति का वर्णन कर डाला, कहीं राधास्वामी की योग साधना और मण्डली का वर्णन है, कहीं गायत्री और ज्ञानशंकर के प्रेम का वर्णन है, तो कहीं वकीलों और डाक्टरों के कारनामों का वर्णन है । सर्वत्र वही उत्साह है जिस लगन से बालक अपने एमजोलियों को नए खिलौने दिखाता है उसी उत्साह से प्रेमचंद पात्रों और परिस्थितियों का वर्णन करते चले जाते हैं । क्या जीव में छूट जाती है, प्रवाह खंडित हो जाता है, अप्रासंगिक घटनाएँ आती चली जाती हैं — पर प्रेमचंद की युवा कलम ठहरने का नाम नहीं लेती । उसे ऐसा अदृश्य खजाना मिल गया है जिसे निकालकर ही वह दम लेगी । प्रेमचंद के उपन्यास बन्द मुट्ठी के खुलने के समान धीरे-धीरे खुलते हैं और पूरी मुट्ठी खुल जाने के बाद वे उसे एकदम बन्द कर देते हैं । 'प्रेमाश्रम' का 'उत्थान' जितना जबर्दस्त है अंत में उतना ही कमजोर है, क्योंकि शुरुआत में धैर्य है और खत्म करने में जल्दबाजी ।

'प्रेमाश्रम' में किसानों के जीवन का वर्णन कम है और दूसरे वर्ग के लोगों के साथ उनके संबंध कैसे हैं ? इसका वर्णन ज्यादा है । कहीं वह अपने घर में कैसे रहता है, दुकान कैसे चलाता है, खाना कैसे बनता

है, किसान चलता कैसे है — किसान जीवन के इस दीर्घ पक्ष का प्रस्तुतीकरण प्रेमचंद ने प्रसंगात् यदा-कदा ही किया है । उनकी नजर इस बात पर रहती है कि डिप्टी ज्वालासिंह के दौरे के समय किसानों की क्या हालत होती है, गौस खाँ के सामने सुक्खू चौधरी कैसे खड़ा है, पुलिस से बलदेव मियाँ कैसे बात करता है, बजाफ्ता लगान का दावा कैसे चलता है — ऐसे विषय और समस्याएँ 'प्रेमाश्रम' में ज्यादा महत्त्वपूर्ण है ।

वास्तव में 'प्रेमाश्रम' के केन्द्र में 'किसान' के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने की भावना है । प्रेमचंद बलराज के मुँह से उपन्यास की मुख्य भावभूमि को इस तरह रखते है । '' तुम लोग तो ऐसी ऐसी उड़ाते हो, मानो बास्तकार कुछ होता ही नहीं । वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है; लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि इस देश में बास्तकारों का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं । उसी के पास कोई और देश बलगारी है । वहाँ अभी हाल की बात है, बास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है ।''[21] सारा उपन्यास इस वक्तव्य के इर्द-गिर्द घूमता है और इसी को पुष्ट करता है कि किसान ही सब कुछ है, उसमें बड़ी ताकत है ।

किसान की इस वास्तविक शक्ति की स्थापना के साथ ही प्रेमचंद ने यह सवाल उठाया है कि किसानों के दोस्त कौन हैं और दुश्मन कौन हैं ? इस सारे सवाल को प्रेमचंद ने अनुभवजन्य धरातल से उठाया है । किसान के दुश्मन कौन हैं — यह किसान से ज्यादा सही और कौन बता सकता है । प्रेमचंद ने बौद्धिक ऊँचाई से यह सिद्ध नहीं किया है कि 'राजसत्ता' ही शोषण का रूप है । उन्होंने शोषण की ऊँची मीनार से नहीं, उसकी जड़ से देखा है । 'प्रेमाश्रम' में किसान का पहला शोषक चपरासी गिरधर महाराज है । चपरासी राज्य व्यवस्था का छोटा हिस्सा है परन्तु उसके सेवा देखिए । डिप्टी ज्वाला सिंह जैसे

सज्जन पुरुष का चपरासी गाँव वालों से कहता है —'' मैंने तुमसे साफ़ साफ़ कह दिया, दूध तो हमारा चपरासी निकालता है । हम पत्थर से दूध निकाल लें । चोरों के पेट तक की बात निकाल लेते हैं, भैंस तो फिर भैंस है । इस चपरासी में बड़ा जादू है कि चाहे तो जंगल में मंगल कर दे । लाओ, भैंस वहाँ बाँधो ।''[22]

अधिकारियों के जब दौरे होते हैं तब यही चपरासी गाँव के एकमात्र भाग्य विधाता बन जाते हैं । किसी की लकड़ियाँ उठा लाये, किसी का चारा उठा लाये, दूध-दही घी मुफ़्त में ले आये, चाहे जितने बेगारी को पकड़ लाये, किसी की गाड़ी ले आये, दूकान से मुफ़्त सामान खरीद लाये, कोई पूछने वाला नहीं । प्रेमचंद ने अक्सर जगह ही इन चपरासियों के अत्याचारों का वर्णन किया है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इनको तनख्वाह इतनी कम मिलती है जिसमें गुजारा ही नहीं होता । इसी कारण ये अत्याचार करने पर मजबूर हो जाते हैं ।

चपरासियों से किसानों का सीधा-संबंध है । इसी तरह दूसरा पद है कारिंदा । लखनपुर का कारिंदा गौस खाँ भी वहाँ का जमींदार है । शानशौकत भी गौस खाँ की आँखों से ही गाँव को देखता है । चाहे किसके जूते लगवा दे, बेगार तो उसका अधिकार है ही । गौस खाँ चतुर है । वह गाँव के बड़े किसानों को मिलाकर — अन्य किसानों पर अत्याचार करता है । वह लगान लेता है पर सभी किसानों को रसीद नहीं देता । किसी से डाँट, किसी पर बेदखली, तो किसी पर एजाफ़ा लगान का दावा — यह सब महत्त्वपूर्ण निर्णय कारिंदा ही करता है । किसान इसी की पूजा करके अपना मतलब निकालने की कोशिश करते हैं । गौस खाँ ने ही लखनपुर के सामूहिक चारागाह में पशुओं के चरने की मनाही कर दी थी और उसी के इशारे से फैजुल्लाह ने मनोहर की पत्नी बिलासी को धक्का दिया था । स्वाभिमानी मनोहर उसका बदला लेता है और गौस खाँ की हत्या कर देता है । इस हत्या के आरोप में सारे लखनपुर को सजा दिलायी जाती है । स्वाधीनता आन्दोलन के राजनीतिक नेताओं ने यूँ तो किसानों और जमींदारों के आपसी संघर्ष पर ही परदा डालने का प्रयास किया है — पर जमींदार के कर्ज़दारों

के अत्याचार की ओर तो उनकी दृष्टि कभी गयी ही नहीं । यह रचनाकार प्रेमचंद की यथार्थवादी दृष्टि है जिसने शोषण के इस चक्र में सबसे छोटी कड़ी — कारिंदा और चपरासी — को भी देख लिया था ।

प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में जमींदारी की पारिवारिक स्थिति का चित्रण भी विस्तार से किया है । लाला जटाशंकर और प्रभाशंकर — दोनों भाई पुराने जमींदार थे । जटाशंकर की मृत्यु के बाद उपन्यास की शुरुआत होती है । जटाशंकर के प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर दो पुत्र हुए । प्रेमशंकर अमेरिका गया था । ज्ञानशंकर बी०ए० पास करके जमींदारी के धंधे में जुटता है । लखनपुर गाँव का मालिक यही ज्ञानशंकर बनता है, यही उपन्यास का मुख्य पात्र है ।

प्रेमचंद ने एक धूर्त व्यक्ति के रूप में ज्ञानशंकर को चित्रित किया है । उन्होंने ज्ञानशंकर में सभी सम्भावित दुर्गुण दिखाये हैं । प्रेमचंद साहित्य के अध्येताओं ने भी उसे इसी रूप में ग्रहण किया है । वास्तव में उसके जीवन में एक बड़ा भारी अन्तर्विरोध है । वह प्रवृत्तियों से पूँजीवादी व्यक्ति है, लेकिन उसे सामंती (जमींदारी) जीवन जीना पड़ता है । वह जायदाद को शान की दृष्टि से नहीं देखता बल्कि लाभ की दृष्टि से देखता है । वह अपनी जमीन को बीघों के रूप में नहीं गिनता, बल्कि आमदनी को रुपयों के रूप में गिनता है । रायसाहब (उसके ससुर) और गायत्री (साली) की जायदाद को भी वह रुपयों के रूप में ही गिनता है । प्रेमचंद ने दिखाया है कि अपनी स्वार्थी मनोवृत्तियों के कारण उसमें पारिवारिक प्रेम भी नहीं बचा है । वास्तव में इसका कारण उसकी सीमित आमदनी भी थी । वह नये जमाने का जमींदार था और इस कारण प्रभाशंकर के समान 'उदारता' बरत ही नहीं सकता था ; क्योंकि यह 'उदारता' अपने अस्तित्व की कीमत पर होती । प्रेमचंद किसानों की तरह ही बीघरी थे कि पुराना जमींदार नये जमींदार से अच्छा होता है क्योंकि शोषण के बावजूद पुराने जमींदार में किसानों के लिए आत्मीयता की भावना थी

होती है । वह किसान का शोषण तो करता है, लेकिन उन्हें तबाह नहीं करता । इसी दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर की तुलनात्मक रूप में उपस्थित किया है । ज्ञानशंकर अपने एकांत क्षणों में सोचता है कि '' इस जमींदारी का बुरा हो । इसने मुझे कहीं का नहीं रखा ।''[23] वह उद्योगपति तो नहीं बन पाता लेकिन वह जमींदारी को ही 'उद्योग' बना देने का प्रयास करता है और ज्यादा लगान का दावा भी करता है । प्रेमचंद अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ऐसे लोग जमींदारी भी करते हैं । भारत में औद्योगीकरण का अंग्रेज विरोध कर रहे थे अतः मानसिक परिवर्तन के बावजूद भी ज्ञानशंकर में वास्तविक परिवर्तन नहीं हो पाता ।

'प्रेमाश्रम' का सबसे कमजोर हिस्सा वह है, जहाँ प्रेमचंद ने ज्ञानशंकर और गायत्री की प्रेम-कहानी लिखी है । यह प्रसंग ज्ञानशेखर के चरित्र की मूल प्रवृत्तियों से अलग है । ज्ञानशंकर का नैतिक पतन दिखाने के लिए ही इस प्रसंग को इतना खींचा गया है । यह प्रसंग उपन्यास की मूल कथा से भटका हुआ है । पूरी प्रेम-कहानी सामान्य मनोवैज्ञानिक जानकारियों के आधार पर गढ़ी हुई और कृत्रिम जान पड़ती है ।

इस उपन्यास के आदर्श पात्र प्रेमशंकर और खल पात्र ज्ञानशंकर का नामकरण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है । दोनों पात्रों में विरोधी मनोवृत्तियाँ हैं । इस स्तर पर उपन्यास का सारा संघर्ष ज्ञान बनाम प्रेम में बदल जाता है । इस संघर्ष में लेखक प्रेम का पक्षधर है । यह ज्ञान और प्रेम की बुद्धि और भावना है और मोटे तौर पर यही पश्चिम (साम्राज्यवाद) और पूर्व (सामंतवाद) के मूल भाव हैं । लेखक का ज्ञान के विरोध में प्रेम का पक्ष लेना अंग्रेजी सभ्यता का विरोध है । ज्ञानशंकर की तुलना में प्रभाशंकर को भला बताना भी इसी दृष्टि की अभिव्यक्ति है ।

ज्ञानशंकर छोटा जमींदार है । रायसाहब और गायत्री बड़े जमींदार हैं । उनका किसानों से सीधा सम्पर्क नहीं है । विलासिता और अकर्मण्यता उनके जीवन की आम स्थिति है । किसानों का जीवन जमींदारों की दया पर निर्भर है । इसलिए उन्होंने उनके व्यक्तिगत सद्गुणों का वर्णन

करते हुए भी उनके अत्याचारों का विरोध किया है । गायित्री कहती है कि '' यह संबंध ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारों को अभिमानी, निर्दय और निरंकुश बना देता है ।''[24] इसलिए प्रश्न सिर्फ उदार प्रशासक या क्रूर शासक का ही नहीं, पूरी व्यवस्था का है, जिसमें किसानों को जीवन बिताना पड़ रहा है ।

जमींदार के बाद किसानों का शोषण ब्रिटिश नौकरशाही करती है । जमींदार एजाफा लगान का दावा डिप्टी की अदालत में ही करता है । डिप्टी अधिकतर सूद जमींदार लेते हैं अतः ऐसे मौके पर वह जमींदारों का ही पक्ष लेते हैं । लखनपुर के किसान भी इससे वंचित हैं । फिर 'प्रेमाश्रम' में डिप्टी ज्वालासिंह तो अपवाद का सदृश्य है । गाँव में अधिकारियों के दौरे के समय भी किसानों पर अत्याचार होता है । प्रेमचंद ने इस उपन्यास में दिखाया है कि जमींदार की तुलना में राज्याधिकारियों में फिर भी दया और न्यायप्रियता बची हुई है । यहाँ डिप्टी ज्वालासिंह एजाफा लगान का जमींदार का दावा खारिज कर देते हैं । असहयोग आन्दोलन के बाद ही प्रेमचंद इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अधिकारी वर्ग किसानों का हमदर्द कभी नहीं होता । अंग्रेजी राज्य किसानों का सबसे बड़ा और प्रधान दुश्मन है, इसे 'प्रेमाश्रम' का लेखक नहीं देख पाता ।

इसके अलावा पुलिस बचती है । पुलिस के दरोगा दयाशंकर ज्ञानशंकर के चचेरे भाई हैं, न भी हों तो पुलिस तो पैसों से खरीदी जा सकती है । गोस साँ की हत्या के मामले की छानबीन में पुलिस की कलई खोली गयी है । इस पुलिस की सहायता करते हैं — शिक्षित मध्यवर्ग ; जिनमें डा० प्रियनाथ पुलिस के अनुसार जाँच करते हैं, फिर वकील मुख्तार और सारी कचहरी । इन सब लोगों का अन्तःसंबंध 'प्रेमाश्रम' में है । सामाजिक संबंधों के इस तानेबाने में प्रेमचंद भूल गये हैं कि इस कड़ी में

ब्रिटिश सरकार से भी जोड़ा जाय । राज्यसत्ता की भूमिका इस सारी प्रक्रिया में साफ नहीं है, अतः कहना पड़ता है कि यह उपन्यास साम्राज्यवाद विरोधी उतना नहीं है जितना सामंतवाद विरोधी है ।

उपन्यास में किसानों के सब शत्रु ही शत्रु नहीं हैं, उनके मित्र भी हैं और सबसे बड़ा मित्र तो इस उपन्यास का रचयिता है । उसने मनोहर, बलराज और कादिर मियाँ के चरित्र को जिन मानवीय ऊँचाईयों पर उठाया है, वह किसी भी अन्य चरित्र के लिए ईर्ष्या की वस्तु है । प्रेमचंद ने किसानों को इन परेशानियों से निकालने का एक तरीका बताया है वह प्रेमशंकर के 'प्रेमाश्रम' का है । मानवतावादी लोग एकट्ठे हों, उनमें धर्मबुद्धि जगे और वे किसानों के बीच मिशनरी कार्य करें । प्रेमशंकर 'प्रेमाश्रम' का सबसे कमजोर और अकर्मण्य पात्र है, पर उसकी उपस्थिति रचना को बहुत शक्ति देती है । वास्तव में 'आश्रम' में समाधान ढूँढना तत्कालीन समाज और प्रेमचंद की सीमा है । हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े बुद्धिजीवी बाहर से आये और एक-एक आश्रम बना कर बैठ गये । गाँधीजी ने साबरमती में आश्रम खोला, अरविंद पांडिचेरी चले ही गये थे और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी शांति-निकेतन बसाया था । इसी तरह प्रेमशंकर भी गाजीपुर चले गए । उस समय प्रेमचंद को यही व्यावहारिक हल मिला था । उन्होंने मायाशंकर को पढ़ाया और माया ने जमींदारी छोड़ दी । अब किसान सुशासन में हैं । प्रेमचंद ने अंत में लखनपुर का जो चित्र खींचा है वह क्रांति के बाद का गाँव नहीं है, (जैसा कि अधिकतर आलोचकों ने मान लिया है) बल्कि बिना जमींदारी का गाँव है । यह सुशासन प्रेमचंद के अनुसार ब्रिटिश राज्य में भी मिल सकती थी ।

प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' की ही भावभूमि पर एक कहानी भी लिखी है — 'पशु से मनुष्य' — (फरवरी 1920) । इसमें भी 'प्रेमाश्रम' की महिमा बतायी गयी है । इसके अलावा प्रेमचंद ने लगभग इसी समस्या पर उस समय 'संग्राम' (1922 ई०) नामक नाटक भी लिखा । श्री मदन गोपाल ने इस नाटक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है " यह उनके उपन्यास

'प्रेमाश्रम' से इतना मिलता-जुलता है कि पाठक को हैरानी होती है कि इस नाटक को लिखा ही क्यों ?''[25] यह सही है कि 'संग्राम' में भी मुख्य समस्या किसान - जमींदार का संबंध ही है, लेकिन इस नाटक में प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में की गई गलतियों को सुधारा है । इसलिए यह 'प्रेमाश्रम' के चिंतन की ही अगली कड़ी है ।

'प्रेमाश्रम' में किसानों पर अत्याचार जमींदार करता है जबकि इस नाटक का जमींदार संग्रामसिंह बहुत लोकप्रियतावादी, प्रजातांत्रिक, समाजयोगी और भला आदमी है । (जमींदार के चरित्र का यह परिवर्तन आवश्यक नहीं है) ज्ञानशंकर जमींदारों की कुत्सित वृत्तियों का प्रतीक है तो संग्रामसिंह सद्वृत्तियों का । ज्ञानशंकर छल के जोर से राज करता है तो संग्रामसिंह कृपा के जोर से । दोनों अंततः किसानों को परेशान करते हैं । वहाँ भी एलधर को जेल भिजवाया जाता है । लेकिन इस नाटक में अत्याचारी के रूप में अंततः सरकार और सरकारी पुलिस ही आती है, जमींदार तो भोलाभाला है । पुलिस जब संग्रामसिंह को गिरफ्तार करने आती है तो वह कहता है ''..... जमींदारों की बदौलत सरकार का राज कायम है । जब-जब सरकार पर कोई संकट पड़ा है जमींदारों ने ही उसकी मदद की है । अगर आपका खयाल है कि जमींदारों को मिटाकर आप राज्य कर सकते हैं तो भूल है । आपकी अपनी जमींदारों पर निर्भर है ।''[25]

'प्रेमाश्रम' के केन्द्र में मनोहर की पत्नी का अपमान है । मनोहर और बलराज इस अपमान का बदला लेने के लिए कादिर गौस खाँ की हत्या कर देते हैं । इस नाटक में भी एलधर की पत्नी राजेश्वरी को संग्रामसिंह अपने यहाँ रखता है और एलधर भी उसी शौर्य भाव से बदला लेना चाहता है । यह नैतिक समस्या दोनों कृतियों में मौजूद है जो पुरुष को कमजोर बनाती है । यह सवाल सामंतवाद का परिणाम है, कारण नहीं ।

नाटक के अंत में दिखाया गया है कि जमींदारी खत्म कर दी गई है — किसी संघर्ष से नहीं बल्कि जमींदार के हृदय-परिवर्तन से । निष्कर्ष यह कि जमींदारी के रहते हुए — चाहे वह जमींदार कितने ही भले और न्यायप्रिय क्यों न हो — किसानों की दशा में सुधार नहीं हो सकता । प्रेमचंद ने इस ऐतिहासिक सत्य को देख लिया कि जमींदार अतिरिक्त बोझ हैं और उनको किसी न किसी तरह से नष्ट होना ही है । 'प्रेमाश्रम' में मायाशंकर का भाषण प्रेमचंद के इन विचारों को स्पष्ट रूप से सामने रखता है ।

'प्रेमाश्रम' के प्रकाशन के बाद तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में खूब बहस चली । मार्च 1923 की 'प्रभा' में श्री ऐमचन्द्र जोशी ने 'साहित्य कला और प्रेमाश्रम' शीर्षक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने कला की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' को कमजोर रचना साबित किया । रघुपति सहाय ने विश्व के महान उपन्यासकारों से प्रेमचंद की तुलना की थी, जोशी ने प्रेमचंद को सबसे कमजोर बताया । 'प्रेमाश्रम' की प्रस्तावना में बाबू रामदास गौड़ ने लिख दिया था कि 'शरत् बाबू प्रेमचंद जी की तुलना दबी जबान से रवीन्द्रनाथ ठाकुर से कर गए' । अब मामला इस वाक्य के सत्यासत्य पर आ टिका । रामदास गौड़ ने जोशी का जवाब लिखा, फिर 'माधुरी' में जनार्दन प्रसाद झा ने प्रेमचंद के पक्ष में लिखा, जोशी ने फिर उसका खंडन किया । यह पूरी बहस बहुत महत्त्वपूर्ण है और हिंदी आलोचना के विकास की दृष्टि से अब भी इसका महत्त्व है । अंत में जुलाई 1923 की 'प्रभा' में एक लेख छपा 'साहित्य कला और प्रेमाश्रम' — लेखक साहित्य । इस लेख की भाषा और उसमें दिये गये तर्कों से लगता है कि यह टिप्पणी स्वयं प्रेमचंद ने ही लिखी होगी ।

''जब किसी जाति या राष्ट्र का अधःपतन हो जाता है तो उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं रहता । उसे अपनी सभी चीजें दूसरों की तुलना में तुच्छ - हीन जान पड़ती हैं । यदि यूरोप वालों ने उपनिषदों का इतना आदर न किया होता तो अब तक हम उनको पुरानी जर्मनी के गपोड़े

समझने लगते । हम अपने शिल्पादि से कितने उदासीन हो गये थे । पश्चिमी नमूनों की इमारतों पर लट्टू हो जाते थे । जबसे कई यूरोपियनों ने हमारी गृह-शिल्प की प्रशंसा करनी शुरू की है तब से हमें भी उनमें कुछ खूबियाँ नजर आने लगी हैं । शेर का बच्चा गीदड़ों के साथ पलकर अपने को गीदड़ समझने लगता है । बंगाली अंगरेजी बोलने लिखने में निपुण होते ही हैं । उनमें राष्ट्रीयता का विकास हमसे पहले होने लगा था । राष्ट्रीयता के साथ आत्म-विश्वास भी जागृत होता है, आत्मगौरव की मात्रा बढ़ती है । बंगालियों ने अपनी भाषा को आसमान पर उछालना शुरू किया, यहाँ अभी जातीयता के भाव जागृत न हुए थे । लोगों पर बंगाली साहित्य का रौब छा गया । साहित्य सेवियों का समूह बंगला किताबों पर टूट पड़ा और उनके अनुवादों के ढेर लगा दिये । अपनी रचनाशक्ति से काम लेना ही छोड़ दिया । और अब तक वही धाक हमारे दिलों पर बैठी हुई है ।''[27] इस परिप्रेक्ष्य में 'प्रेमाश्रम' कितने 'सोज' का काम कर पाया होगा – इसका थोड़ा-सा अंदाज लगाया जा सकता है ।

प्रेमचंद ने इस काल में कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं । इनमें बूढ़ी काकी (अक्टूबर 1921), आत्माराम (जनवरी 1920), त्यागी का प्रेम (नवम्बर 1921), ब्रह्म का स्वांग (1921), दफ्तरी (जनवरी 1920), विश्वास-समस्या (मार्च 1921), पुत्र-प्रेम (जून 1920) और मनुष्य का परम धर्म (मार्च 1920) आदि कहानियाँ मुख्य हैं । ये सारी कहानियाँ वर्तमान स्थितियों पर व्यंग्य हैं । किसी स्पष्ट राजनीतिक प्रतिबद्धता के अभाव में सारी कहानियाँ एक एकांगी चुटकी लेकर रह जाती हैं । 'जीवन में क्या ही विडम्बना है' का भाव उनको पढ़कर पैदा होता है । 'मनुष्य का परम धर्म' में ब्राह्मणों के पेटूपन को हास्य का आलंबन बनाया गया है । 'विश्वास-समस्या' में एक ऐसे चपरासी के चारित्रिक परिवर्तन को दिखाया गया है जो अपना स्वाभाविक ग्रामीण भोलापन छोड़कर शहरी कौशलपन ग्रहण करता है । आत्माराम का मवेशी सौदा भी भाग्य परिवर्तन से जुड़ा

गया और 'बूढ़ी काकी' तो वर्तमान वास्तविकता का ट्रेजिक उदाहरण है ही। एनीमेचरित्र की दृष्टि से सबसे सरा और ठोस चरित्र बूढ़ी काकी और मणदेव सोनार (आत्माराम) का है। 'दफ्तरी' और 'पुत्र-प्रेम' पारिवारिक जीवन की कहानियां हैं। चले आ रही पारिवारिक - परंपरा में पूंजीवादी मूल्यों ने जो ट्रेजिक तनाव पैदा किया है -- वह इन दोनों कहानियों में है। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि इस दौर तक गांधीजी और स्वाधीनता आन्दोलन का प्रभाव प्रेमचंद की रचना-दृष्टि पर नहीं पड़ा था। उनमें देश-दशा के सुधार की स्वाभाविक आकांक्षा थी और उन्होंने उसी के अनुसार साहित्य लिखा।

असहयोग आन्दोलन और रंगभूमि :

'स्वदेशी आन्दोलन' की समाप्ति के करीब दस वर्षों के बाद कांग्रेस ने फिर एक निर्णायक लड़ाई छेड़ी। इसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। सितम्बर 1920 में कांग्रेस के कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में अहिंसात्मक असहयोग का नया कार्यक्रम मंजूर किया। इस अधिवेशन में सी० आर० दास, एनीबीसेंट, लाला लाजपत राय जैसे नेताओं ने इस कार्यक्रम का विरोध भी किया था। दिसम्बर 1920 के नागपुर अधिवेशन में इसका समर्थन इन लोगों ने भी किया। गांधीजी ने कहा कि सरकार का राज्य हमारी 'सहयोग' पर निर्भर है अतः किसी भी सरकारी - संस्था से सहयोग बन्द कर दो तो बारह महीने के अन्दर ही स्वराज्य मिल जायेगा। सरकारी नौकरियां, कचहरी, स्कूल का बहिष्कार इसका मुख्य अंग था। इस कार्यक्रम का भारतीय जनता पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। इसी आन्दोलन से गांधी जी बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों और राजनेताओं के निर्विरोध नेता बन गये। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राजनीति में गांधीजी के प्रवेश पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ''गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फेलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से पर्दे को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह

से थे, जिसने बहुत-सी चीजों को, खासतौर से मजदूरों के दिमाग को उलट-पुलट दिया । गांधीजी ऊपर से आये हुए नहीं थे, बल्कि हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे । उनकी भाषा वही थी, जो आम लोगों की थी और वह बराबर उस जनता की और और उसकी डरावनी हालत की ओर ध्यान आकर्षित करते थे । उन्होंने कहा कि तुम लोग, जो किसानों और मजदूरों के शोषण पर गुजर करते हो, उनके ऊपर से हट जाओ ; उस व्यवस्था को, जो गरीबी और तकलीफ की जड़ है, दूर करो । तब राजनैतिक आजादी की एक नई शक्ल सामने आई और उसमें एक नया अर्थ पैदा हुआ । उनकी ब्यादातर बातों को हमने आंशिक रूप में माना और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं माना । लेकिन यह सब एक गौण बात थी ।..... लेकिन ब्रिटिश राज्य के अन्दर हिन्दुस्तान में जो सबसे अहम लहर थी, उसमें डर — कुचलने वाला, दम घोंटने वाला, मिटा देने वाला — डर था — फौज का, पुलिस का, चारों तरफ फैले हुए गुप्तचर दिमाग का डर था ; अफसरों की जमात का डर था ; कुचलने वाले कानूनों और जेल का डर था ; जमींदार के कारिंदे का डर था ; साहूकार का डर था ; बेकारी और भूखे मरने का डर था, जो हमेशा ही नजदीक बने रहते थे । चारों तरफ समाये हुए इस डर के ही खिलाफ गांधी की शांत, किंतु दृढ आवाज उठी — ''डरो मत ।'' क्या यह ऐसी आसान बात थी ? नहीं । फिर भी डर के अपने कल्पना - चित्र होते हैं और वे असलियत से भी ज्यादा डरावने रहते हैं और अगर ठंडे दिमाग से असलियत का विश्लेषण किया जाय और उसके नतीजों को खुशी से भुगतने को तैयार रहा जाय, तो उसका अधिकांश आतंक अपने-आप खत्म हो जाता है ।''[26]

यह 'बवंडर' गोरखपुर भी पहुंचा और प्रेमचंद ने अपनी 25 वर्ष पुरानी नौकरी छोड़ दी । नौकरी के साथ उनका नौ साल पुराना रोग — पेचिश्स भी खत्म हो गया । इस अनुभव से प्रेमचंद भाग्यवादी बने ।[27] यह नौकरी छोड़कर कुछ दिन गोरखपुर में ही रहे, वहीं पीछे का

जी के साथ उन्होंने चर्खा संघ चलाया और बाद में वह लमही चले आये। 21 जून 1922 को प्रेमचंद मारवाड़ी स्कूल कानपुर चले आये। साल भर यहाँ काम किया, पर यहाँ प्रेमचंद को निभी नहीं। अतः बनारस से निकलने वाली पत्रिका 'मर्यादा' में काम किया। वहाँ से काशी विद्यापीठ में नियुक्त हुए। थोड़े दिनों बाद इस नौकरी को भी छोड़ दिया। 1923 में 'सरस्वती' प्रेस की स्थापना की। प्रेस की परेशानियों और आमदनी के अभाव के कारण 'गंगा पुस्तक माला' लखनऊ में लिटरेरी असिस्टेंट का पद संभाला। कुछ दिनों यहाँ रहकर फिर बनारस आ गये। इस तरह प्रेमचंद के जीवन का यह काल अस्थायी रहा है। पर इस दौर में प्रेमचंद ने अपने श्रेष्ठ साहित्य का एक बड़ा भाग लिखा है। प्रेमचंद की 16 फरवरी 1921 को सरकारी नौकरी खत्म हो गयी। '' कई वर्ष बाद प्रेमचंद ने एक प्रशंसक को बताया — '' मैं भली-भाँति समझ गया था कि सरकारी नौकरी में डी-एजुरी और पीसिपन के सिवा कुछ नहीं है। आत्मसम्मान, आत्मज्ञान, आत्म-निर्भरता और आत्मविश्वास का तो यहाँ चूरे - बिल्ली का संदेश है। परिस्थिति से लाचार होकर पहले तो मैं इस विच्छू की पीछा झड़ी की ज्वाला दबाता रहा, पर असहयोग आन्दोलन की हवा लगते ही वह एकाएक भभक उठी। मैंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और असहयोग का सैनिक बना।''[28]

'रंगभूमि', कर्बला' के अलावा उन्होंने तीन कहानियाँ लिखी-जिनमें शतरंज के खिलाड़ी, मुक्तिमार्ग, सवा सेर गेहूँ आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इस युग के साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है आशावाद। असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि में लिखी हुई कहानियाँ और उपन्यास इस आशावाद से ओतप्रोत है। इस दौर के साहित्य का केन्द्रीय भाव है — स्वाधीनता। छायावाद और प्रेमचंद का साहित्य इस जमीन पर एक जगह मिलता है। 'परिमल' की भूमिका में निराला ने घोषित किया था कि ''मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।

जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों के प्रसन्न करने के लिए होते हैं — फिर भी स्वतंत्र, उसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।"[29] यहाँ आकर साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं ने निष्कर्ष निकाला कि हम मात्र देश का उद्धार करना नहीं चाहते — मात्र उसकी उन्नति नहीं चाहते, बल्कि देश को आजाद कराना चाहते हैं, क्योंकि 'सुराज' के बिना देश की उन्नति नहीं हो सकती। पराधीनता में देशोत्थान की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः हमारा मुख्य शत्रु अंग्रेजी साम्राज्यवाद है। अब तक यह साम्राज्यवाद राजाओं, जमींदारों, अधिकारियों की ओट में था, असहयोग आन्दोलन ने इस पर्दे को हटा दिया। प्रेमचंद के संदर्भ में दूसरी जो महत्वपूर्ण चीज आई — वह थी सामाजिकता। 'सोजेवतन' प्रकाशित हो जाने के बाद रचनाकार प्रेमचंद को एक धक्का लगा और इसके साथ 'साफ्ट कार्नर' भी आई। इस कारण उन्होंने अपने साहित्य की धारा को मोड़ दिया और राजनीतिक भावनाओं की जगह सामाजिक समस्याएँ प्रमुख रूप से उनके साहित्य में आने लगीं। असहयोग ने उस पुराने 'साफ्ट' को वापस लौटाया और उन्होंने सीधे-सीधे राजनीतिक साहित्य लिखा। 'रंगभूमि' में मि० क्लार्क की उपस्थिति उसी साफ्ट का प्रतिफलन है। उनकी कई कहानियों में यह साफ्ट देखने को मिलता है। 'राज्य भक्त', 'अधिकार-चिंता', 'चकमा' और 'सत्याग्रह' जैसी कहानियों में साम्राज्यवाद को नंगे रूप में चित्रित किया गया है। इसके साथ ही उनके आदर्श चरित्रों में भी पुनः शक्ति आई। लाला गोपीनाथ की जगह 'बोलम' और 'सूरदास' जैसे सशक्त चरित्र आने लगे।

इस आन्दोलन की लहर गाँव में भी पहुँची और चौपाल की गप-शप में राजनीतिक चर्चाएँ शामिल होने लगीं। गाँव के परम्परागत संघर्ष और मनमुटाव पर राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रभाव डाला। इस प्रसंग पर

प्रेमचंद ने 'लाग-डाँट' (जुलाई १९२।) कहानी लिखी । 'जोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चली आती थी ।' इस वाक्य से कहानी शुरू होती है । इन दोनों की यह अदावत इनके खान-पान, रहन-सहन और यहाँ तक कि व्यापारिक, सामाजिक और धार्मिक मामलों में भी प्रतिबिंबित होती है । भगत सनातन धर्मी बने, तो चौधरी ने आर्यसमाज का झंडा उठाया ; एक वैद्यक का पक्षपाती था तो दूसरा होम्योपैथी का । इस कारण गाँव में दो अलग दल भी बन गये थे । '' जब देश में राजनैतिक आंदोलन शुरू हुआ, तो उसकी भनक उस गाँव में भी आ पहुँची । चौधरी ने आन्दोलन का पक्ष लिया, भगत उसके विरोधी हो गये ।'' [30]

चौधरी ने स्वराज्य के पक्ष में भाषण दिये, भगत ने राजभक्ति के पक्ष में दलीलें दीं ; चौधरी का मान बढ़ा, भगत अपमानित होने लगे । अंत में भगत ने चौधरी को पराजित करने की ठानी, वे स्वयं भी असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े । भगत ने आत्मसंयम पर भाषण दिया और पुरानी अदावत को छोड़कर चौधरी के मित्र बने और असहयोग का प्रचार करने लगे । कहानी साधारण लगते हुए भी असहयोग आन्दोलन के व्यापक प्रभाव की सूचना देती है और यह भी कि गाँवों में असहयोग का प्रभाव किस रूप में पड़ रहा है इसका भी संकेत देती है ।

प्रेमचंद की कहानियों में अधिकांश पात्रों को एक चिंता सताती रहती है — कुल मर्यादा की रक्षा । भगत जब राज्यभक्त हुए तब लोगों ने उनकी बड़ी भर्त्सना की । इस प्रसंग में उनके दिमाग में जो पहली बात आयी वह यह थी कि '' चिरकाल से जिस कुल-मर्यादा की रक्षा करते आये थे और जिस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे, वह धूल में मिल गई।''[31] यह कुलमर्यादा की चिंता अपढ़ ग्रामीणों में ही नहीं, 'हार की जीत' के शिक्षित समुदाय को भी है, 'ब्रह्म का स्वांग' के वकील साहब को भी है । एक नष्ट होती हुई कुल-मर्यादा का गहरा एहसास और उसकी पीड़ा इन कहानियों में व्यक्त हुई है । जाति-प्रथा के टूटते आधार, और नये सामाजिक संबंधों के रूप से यह समस्या सामने आई । प्रेमचंद ने बड़ी आत्मिक पीड़ा

है दिखाया है कि उस युग में कुल-मर्यादा की रक्षा करना कितना कठिन काम हो गया है, उसको बढ़ाना तो बहुत दूर की बात है । कुल-मर्यादा की चिंता पुरानी पुश्तैनी जमींदारी, ब्राह्मणों और पौराणपंथी सभाओं में ही नहीं थी बल्कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त नवयुवकों, वकीलों, अध्यापकों और छात्रों तक में है । सेवा और राष्ट्रीय कार्यों के बावजूद फूल की निंदा सुनना कितना असह्य है, यह 'आदर्श विरोध' के बालकृष्ण मेहता की आत्मपीड़ा से देखा जा सकता है ।

इस दौर में प्रेमचंद ने एक कहानी लिखी — 'अधिकार चिंता' (अगस्त 1922) । इसमें उन्होंने टामी नामक एक कुत्ते की कहानी लिखी है कहानी अंग्रेजों के भारत-प्रवेश, भारत पर अधिकार करने और अंत में उसी अधिकार की रक्षा की चिंता में मरते हुए दिखाया गया है । कहानी साम्राज्यवाद के पतन की घोषणा करती है । असहयोग आन्दोलन के दौरान व्यापारियों की भूमिका पर उन्होंने 'चकमा' (नवम्बर 1922) नामक मार्मिक कहानी लिखी । विदेशी माल बेचने वाली दुकानों पर धरना दिया जा रहा है, सेठ चंदूमल पिछले तीन महीने से परेशान है । ''..... कठिन समस्या थी । इस संकट से निकलने का कोई उपाय न था । वे देखते थे कि जिन लोगों ने प्रतिज्ञा - पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, वे चोरी - छिपे कुछ - न -कुछ विदेशी माल बेच ही लेते हैं । उनकी दुकानों पर पहरा नहीं बैठता ।''[32] तब सेठजी की वणिक बुद्धि ने एक ऐसी योजना बनाई कि कांग्रेस के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर भी न करना पड़े और पहरा भी उठा दिया जाय । एक दिन उन्होंने कांग्रेस के वालिंटियरों को डांटा, पुलिस वालों ने सेठ की शह पाकर धक्के देना शुरू किया । शोर-गुल मचा तो सेठ कांग्रेस के पक्ष में बोलने लगे । पुलिस उन वालिंटियरों को पकड़ कर ले गयी और सेठ जी से गवाह देने को कहा । सेठ ने इन्कार किया उससे कांग्रेस वाले 'चकमे' में आ गये और पहरा उठा दिया । दूसरे दिन से उन्होंने विदेशी माल बेचना शुरू कर दिया । इसी तरह उन्होंने 'स्वराज्य' नामक असहयोगी

धोबी की कहानी लिखी, जिसने रविवार को काम करने से इन्कार कर दिया था । वैसे वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अड़ गया और उसे मालिक की शर्त माननी पड़ी ।

असहयोग आन्दोलन जब जन चेतना का अंग बनने लगा, तब एक तो सरकारी अत्याचार बढ़ा, साथ ही एक ऐसे नये नेतृत्व कारी वर्ग का उदय हुआ, जिसको सरकारी अत्याचार के साथ आम जनता के उपहास और व्यंग्य का भी सामना करना पड़ रहा था । ये ईमानदार कार्यकर्त्ता स्वार्थी दुनियादारों के बीच 'बौड़म' के रूप में जाने गये । 'बौड़म'(अप्रैल 1923) का नायक मुहम्मद खलील अपना दर्द कहता है ''..... लोगों को कारखाने के सिवा न दीन से गरज है ; न दुनिया से । न मुल्क से, न कौम से । मैं अखबार मँगाता हूँ, स्मर्ना फंड में कुछ रुपये भेजना चाहता हूँ । खिलाफत-फंड की मदद करना भी अपना फर्ज समझता हूँ । सबसे बड़ा सितम है कि खिलाफत का रजाकार भी हूँ ।..... इसीलिए घर और बाहर मुझे बौड़म का लकब दिया गया है ।''[33] वह सबके साथ सहानुभूति का बर्ताव करता है, मजदूरों से सहानुभूति रखता है, अपने चचा के चमारिन से पैदा हुए लड़कों को अपने साथ खिलाता है, कुर्बानी विरोध करता है और सबसे बड़ी बात सत्य और न्याय के लिए लड़ता है । कहानी का सार यह है कि आज के युग में ''..... जो स्वार्थ पर आत्मा की भेंट कर देता है, वह चतुर है, बुद्धिमान है । जो आत्मा के सामने, सच्चे सिद्धांत के सामने, सत्य के सामने स्वार्थ की, निन्दा की परवाह नहीं करता, वह बौड़म है, निर्बुद्धि है ।''[34]

अभी असहयोग आन्दोलन चल ही रहा था कि प्रेमचंद ने एक लेख लिखा – 'वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावट' (दिसम्बर 1921) । इस लेख में उन्होंने असहयोग आन्दोलन के सामूहिक और नैतिक प्रभाव को रेखांकित किया, उसकी शक्ति को स्पष्ट किया, साथ ही आगे आने वाली उन कठिनाईयों का भी जिक्र किया, जिससे असहयोग आन्दोलन बन्द करना पड़ा । इस दृष्टि से पहली रुकावट उन्होंने बतायी शान्ति-भंग होने की आशंका , क्योंकि

एसे अंततः राज्यसत्ता को ही फायदा पहुंचने वाला था । दूसरी रुकावट 'बुद्धि और अंतरात्मा का फेर' बताई । इसमें नये जमाने और पुराने जमाने का संघर्ष निहित है । गांधी जी और स्वयं प्रेमचंद का चिंतन इस संदर्भ में प्रतिबिंबित होता है । बुद्धिवादियों के कारण जीवन-संग्राम इतना भीषण हो गया है, औद्योगीकरण से गरीबी बढ़ी है, अमानवीयता बढ़ी है, सरलता की जगह कृत्रिमता आया है '' सरल जीवन के समर्थक फिर उसी प्राचीन प्राकृतिक जीवन का दृश्य देखना चाहते हैं जब मनुष्य को अपनी वृत्तियों के संस्कार और अपने आचार को परिष्कृत करने के अवसर मिलते थे और वक्त कौड़ी - दमड़ी में न जाता था, जब वह प्राकृतिक भोजन करता था, प्राकृतिक पानी पीता था, प्राकृतिक कपड़े पहनता था, जब धन-ऐश्वर्य का विभाजन इतना विषम न था, जब व्यापार का नशा इतना जान लेवा न था, जब मनुष्य इतना स्वार्थी न था ।''[35] तीसरी आशंका प्रेमचंद ने यह प्रकट की थी कि ज्यों - ज्यों आन्दोलन आगे बढ़ेगा जमींदार और पूंजीपति कांग्रेस से दूर ही नहीं हटेंगे — उसके विरोधी भी बनते चले जायेंगे । यह आशंका कांग्रेस के सामने भी थी — अतः बार-बार गांधीजी ने जमींदारों के पक्ष में बयान दिये और जब आन्दोलन बन्द किया तब अलग से जमींदारों को आश्वासन दिया गया कि वह जमींदारों का अहित नहीं होने देंगे ।[36] इसके अलावा प्रेमचंद ने एक नाजुक मसले के रूप में हिन्दू - मुस्लिम एकता को रखा । उन्होंने चेतावनी दी कि '' हिन्दू - मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और वक्त और होशियारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में बड़ी रुकावट साबित होगा ।''[37] प्रेमचंद की चेतावनी के दो महीने बाद चौरा-चौरी में भिषण घटना घटती है । वहां किसानों की उत्तेजित भीड़ ने थाने में आग लगा दी । इस घटना के तुरन्त बाद 12 फरवरी 1922 को गांधी जी ने आन्दोलन रोक दिया ।

इस राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद ने । जनवरी 1922 से 'रंगभूमि' लिखना शुरू किया, 12 अगस्त 1924 तक पूरा लिख दिया ।

पुस्तक जनवरी 1925 में प्रकाशित हो गयी । यह उपन्यास भी पहले उर्दू में लिखा गया, लेकिन छपा हिंदी में पहले । इस दृष्टि से यह उनका अंतिम उपन्यास है जो पहले उर्दू में लिखा गया है । इस उपन्यास के बीज प्रेमचंद को एक अधि भिखारी में मिले । '' वाराणसी में उस समय एक और विवाद भी चल रहा था । उसकी पृष्ठभूमि थी सरकार द्वारा सिगरा के पास सेती की जमीन को टकों के दाम लेकर उद्योगपतियों को देना । जिन लोगों की जमीन छीनियाई गई थी उन्हें बड़ा क्रोध आया था । उसका प्रभाव जनता पर भी पड़ा । कुछ समालोचकों का विचार है कि इस वाद-विवाद को लेकर ही प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' लिखा ।''[38]

जो भी हो, प्रेमाश्रम के बाद प्रेमचंद ने साहित्य के नये धरातल की खोज और नये चरित्रों की जाँच का साक्ष्य दिखाया । देश में पहला संगठित राजनीतिक आन्दोलन हुआ, संघर्ष हुआ । लोग जेल गये, जुलूस निकले, लाठी चार्ज हुए, पिटाई हुई । कुल मिलाकर प्रजापक्ष एक तरफ, राजसत्ता दूसरी तरफ हुई । जीवन खेल का (युद्ध का) मैदान बना । ऐसी हालत में 'प्रेमाश्रम' में कब तक बैठा जा सकता है । मायाशंकर विनय बनकर आया । इस तरह उपन्यास का नामकरण हुआ – रंगभूमि । 'प्रेमाश्रम' में युवकोचित उत्साह था, यह उत्साह कम हुआ । अब समझदारी के साथ कलात्मक संयम आया । भाषण और चिंतन की जगह चरित्र और स्थितियाँ केन्द्र में आयीं । नैतिक आग्रह छूटा और पूंजीवाद का सार्थक्षार किया गया । इस उपन्यास के केन्द्र में मि० जानसेवक का सिगरेट का कारखाना है । वही कायदे से इस उपन्यास के नायक भी हैं । 'प्रेमाश्रम' में किसान और जमींदार का संबंध मुख्य है जबकि रंगभूमि में देहात और शहर का संबंध मुख्य है । यहाँ पर मुख्य शत्रु बदल गया है । मि० क्लार्क के सामने चतारी के राजा साहब सिलौना मात्र हैं । 'रंगभूमि' की शुरुआत होती है :

'' शहर अमीरों के रहने और द्रव्य-विक्रय का स्थान है । उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है । उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुकदमे-बाजी के अड्डे

होते हैं, जहाँ न्याय के बदले गरीबों का गला घोंटा जाता है । शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं । बनारस में पाँडेपुर ऐसी ही बस्ती है ।..... "39

यह शुरुआत बताती है कि आगे आने वाली कथा में शहर और गाँव के आपसी रिश्तों की पहचान होगी, औद्योगीकरण और शहरी जीवन के दुष्प्रभावों की भर्त्सना की जायेगी और उसके बावजूद देहात के उजड़ते - मिटते दिखाया जायेगा । कुल मिलाकर सरल भाषा में एक मानसिक चिंता पाठक के मन पर पहले ही वाक्य से डाल दी गई है, जो इस उपन्यास के दुःखान्त होने की पूर्व सूचना है ।

'रंगभूमि' की शुरुआत के बाद मि० जानसेवक का परिवार का दृश्य सामने आता है । इस परिवार का जीवन उपन्यास में बहुत महत्त्वपूर्ण है । ये ईसाई हैं, इससे यह ध्वनित होता है कि ब्रिटिश अधिकारियों से मेलजोल और भारतीय सभ्यता, संस्कृति के प्रति घृणा भाव इनमें सहज रूप से है । जानसेवक की पत्नी इसका साक्षात रूप है । जानसेवक उद्योगपति है - इसकी ओर संकेत है अंग्रेजों के सम्पर्क से । यही जाति सबसे पहले औद्योगीकरण की ओर प्रवृत्त हुई (बाद में जानसेवक ने प्रलोभन देकर कुँवर भरतसिंह को भी कम्पनी के हिस्से दे दिये) । यह महाशय सिगरेट का कारखाना खोलना चाहते हैं । इससे एक तो लेखक का औद्योगीकरण के प्रति विरोध भाव प्रकट होता है, दूसरे इस बात की ओर भी ध्यान जाता है कि भारत में औद्योगीकरण की शुरुआत प्राथमिक महत्त्व के आधारभूत उद्योगों से नहीं हुई, बल्कि उपभोग और विलास सामग्री उत्पन्न करने वाले कारखाने खुले । जानसेवक की पुत्री है — सोफिया — यह भावुक और विचारशील है । उसका चरित्र हिन्दू आदर्शों के अनुरूप है । वह सामाजिक जीवन में व्यक्तिवाद के प्रवेश की घोषणा है । उसके जीवन का आधारभूत सिद्धान्त है — विचार-स्वातंत्र्य । सामंती प्रथाओं और सामाजिकता के विरुद्ध यह विचार-स्वातंत्र्य आधुनिक मानव की उद्घोषणा है । इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह

उद्योगपति जानसेवक की पुत्री है, किसी राजा या जमींदार की नहीं । मि० जानसेवक का एक पुत्र है – प्रभुसेवक । यह कुल मिलाकर भावुक कवि है । कर्म शक्ति का उसमें अभाव है, ललित पदों में अपनी भावुक कल्पनाएँ लिखा करता है । जानसेवक के पिता ईश्वर सेवक हैं, ये जितने स्वार्थी हैं उतने ही धार्मिक भी हैं । मिसेज सेवक में धार्मिक कट्टरता सबसे ज्यादा है । सोफिया का उनसे नित्य झगड़ा रहता है । यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि सोफिया ने अपना घर इसलिए छोड़ दिया क्योंकि यहाँ उसकी विचार-स्वतंत्रता में बाधा पड़ती थी । सोफिया को हिन्दुस्तानी की उदारता आकृष्ट करती है । "..... मैंने देखे हैं हिन्दुस्तानी में भिन्न-भिन्न मतों के प्राणी कितने प्रेम से रहते हैं । बाप सनातन धर्मावलंबी है, तो बेटा आर्यसमाजी । पति ब्रह्म - समाज में है तो स्त्री पाषाण - पूजकों में । सब अपने - अपने धर्म का पालन करते हैं । कोई किसी से नहीं बोलता । हमारे यहाँ आत्मा कुचली जाती है । फिर भी यह दावा है कि हमारी शिक्षा और सभ्यता विचार-स्वतंत्रता के पोषक हैं ।... "[40] यह विचार मात्र सोफिया के ही नहीं हैं बल्कि पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध भारतीयता के नामी युगीन बुद्धिजीवी के भी हैं ।

सोफिया विनय से प्रेम करती है । वह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेती है । मि० क्लार्क के साथ भी वह कुछ दिन रहती है — पर वह उससे घृणा करती है । उससे शादी होने वाली है, पर होती नहीं । उपन्यास के अंत में वह आत्महत्या कर लेती है । उसका चरित्र अपने में बहुत कमजोर है, पर दूसरे चरित्रों की खूबियाँ और खामियाँ सोफिया की उपस्थिति से प्रकट होती रहती हैं ।

लेकिन सारा उपन्यास मि० जानसेवक के इशारों पर चलता है । वह धुन का पक्का है । उसे सूरदास की जमीन लेनी है । क्लार्क से उसकी मित्रता है, कुँवर भरतसिंह को हिस्सेदार बना लिया है, राजा महेन्द्रप्रताप का भी दोस्त है । उसका एक-एक वक्तव्य उसके व्यक्तित्व की

शक्ति को प्रकट करता है । पठिपुर के निवासियों को वह सूरदास से अलग कर देता है । म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन राजा महेन्द्रप्रताप क्लार्क का रस देखकर सूरदास की जमीन जानसेवक को दे देते हैं । सोफिया क्लार्क से इस आज्ञा को निरस्त करवा देती है । इस नवीन परिस्थिति पर मि० जानसेवक के घर में विचार-विमर्श हो रहा है । प्रभुसेवक का हृदय - हृदय जमीन लेने के पक्ष में नहीं है, पर जानसेवक की बातों में उसका जीवट और भारतीय पूंजीवाद की आवाज गूंजती है ।:

''हाँ, बहुत कड़ी बात है, हम सब मिलकर उस ऋषि के पास चलें और उसके पैरों पर सिर झुका दें । आज उसके डर से जमीन छोड़ दूं, कल चमड़े की आढ़त तोड़ दूं, परसों यह बंगला छोड़ दूं, और इसके बाद मुंह छिपाकर यहां से कहीं चला जाऊं । क्यों, यही सलाह है न ? फिर शांति - ही - शांति है, न किसी से लड़ाई, न किसी से झगड़ा । यह सलाह तुम्हें मुबारक रहे । संसार शांति भूमि नहीं, समर भूमि है । यहां वीरों और पुरुषार्थियों की विजय होती है, निर्बल और कायर मारे जाते हैं । मि० क्लार्क और राजा महेन्द्रकुमार की हस्ती ही क्या है, सारी दुनिया भी इस जमीन को मेरे हाथों से नहीं छीन सकती । मैं सारे शहर में हलचल मचा दूंगा, सारे हिन्दुस्तान को हिला डालूंगा । अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता की यह मिसाल देश के सभी पत्रों में उद्धृत की जाएगी, कौंसिलों और सभाओं में एक नहीं, सहस्र - सहस्र कंठों से घोषित की जायगी और उसकी प्रतिध्वनि अंगरेजी पार्लियामेंट तक में पहुंचेगी । यह स्वजातीय उद्योग और व्यवसाय का प्रश्न है । इस विषय में समस्त भारत के रोजगारी, क्या हिन्दुस्तानी क्या अंगरेज, मेरे सहायक होंगे ; और गवर्नमेंट कोई इतनी निर्बुद्धि नहीं है कि वह व्यवसायियों की सम्मिलित ध्वनि पर कान बन्द कर ले । यह व्यापार - राज्य का युग है । योरप में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूंजीपतियों के इशारों पर बनते-बिगड़ते हैं, किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं कि उनकी इच्छा का विरोध करे । तुमने

मुझे समझा क्या है, वह नरम चारा नहीं हूँ, जिसे क्लार्क और मेहन्द्र खा जाएगे ।''[41]

संयत भाषा में जानसेवक की यह दृढ आवाज रंगभूमि में गूँजती रहती है । इसके बाद जानसेवक नयी ब्यूह रचना करता है जिसके अनुसार राजा मेहन्द्र को क्लार्क के खिलाफ खड़ा करता है और 'स्वदेशी' पत्रों से क्लार्क की आलोचना करवाता है । अधिकारियों की शिकायतें होती है , शिष्ट-मंडल भेजे जाते है, डा० गांगुली व्यवस्थापिका में सवाल उठाते है – जिसका परिणाम यह होता है कि जमीन मि० जानसेवक को फिर मिल जाती है और मि० क्लार्क को उदयपुर रियासत का पोलिटिकल एजेन्ट बनाकर भेज दिया जाता है । धर्म के मामले में भी उसकी समझ एकदम साफ है वह उसे 'केवल स्वार्थ-संगठन' मानता है । ठाठ से सिगरेट का कारखाना चलता है और सूरदास की एक नहीं चलती । जानसेवक अपने रण-कौशल से शत्रु को अलग-अलग करके मारता है । वह सरकार के पक्ष में रहना हितकर समझता है, चुनाव में खड़ा होना चाहता है, स्वदेशी का प्रचार करता है । वह पठिपुर बस्ती को भी अंत में खाली करवा देता है, गोलियाँ चलती है, आन्दोलन होता है, पर मि० जानसेवक अपनी धुन के पक्के साबित होते हैं । उपन्यास के ट्रेजिक अंत में अगर कोई व्यक्ति उसी साहस और शक्ति के साथ जिन्दा है तो वह है मि० जानसेवक ।[42]

'रंगभूमि' में सूरदास के चरित्र की विशिष्टता की आलोचकों ने खूब दाद दी है । अमृतराय ने उसे गांधी का प्रतीक बताया है । वास्तव में जिस तरह 'प्रेमाश्रम' के केन्द्र में प्रेमशंकर नहीं बल्कि ज्ञानशंकर है, उसी तरह 'रंगभूमि' के केन्द्र में सूरदास न होकर मि० जानसेवक है । सूरदास की उपस्थिति उपन्यास की शक्ति है क्योंकि वह रचनात्मक और सार्थक मूल्यों की प्रतिमा है, पर पात्र की दृष्टि से वह कमजोर पात्र है । वह सक्रिय पात्र नहीं है । प्रेमचंद ने मन लगाकर सूरदास की प्रतिमा को खड़ा किया है । उसमें गांधीजी की दो बातें आयी हैं – भय से मुक्ति और अहिंसा । कितनी भी बड़ी हस्ती के बिना डर के भिड़ जाना सूरदास की

शक्ति है । श्री ईसराज रल्हन ने लिखा है कि '' लेकिन प्रेमचंद ने, चाहे या अनजाने, गांधीवाद के उस प्रतीक को जन्म दिलाया है, जो वस्तुस्थिति से आँख मूँदकर और अपने आप में दुबककर लड़ता रहता है । मगर प्रेमचंद तो यथार्थवादी थे, उनकी आँख बन्द नहीं थी । इसलिए आदर्श के मुकाबले में उन्होंने अंत में यथार्थ की ही जीत दिखायी है । बढ़ते हुए पूँजीवाद के सामने सामन्तयुग की पुरानी व्यवस्था और उसकी मान्यताएँ ठहर नहीं सकती । सत्याग्रह आन्दोलन के बावजूद पाण्डेपुर उजड़ जाता है और वहाँ जानसेवक का कारखाना लगता है । स्वयं सूरदास अपनी हार स्वीकार करता है — ''तुम जीते मैं हारा ।'' इसके विपरीत गांधीवाद सत्याग्रही की हार को हार नहीं मानता । सूरदास के चरित्र की यह असंगति प्रेमचंद की अपनी असंगति है ।''[43]

सूरदास के करीब दस बीघे जमीन थी, जिस पर मुहल्ले की गाय-भैंसें चरती थीं । उस जमीन से उसे कोई आमदनी नहीं होती थी । वह उस जमीन को मात्र इसीलिए बचाए रखना चाहता है क्योंकि वह बाप दादों की निशानी है । उस 'निशानी' को बचाने के लिए वह प्रयास ही नहीं करता, बल्कि मर मिटता है । यह जिद सामंती है । मि० जानसेवक उसको छीनना चाहते हैं । उसका मनमाना दाम भी देना चाहते हैं । वैसे तो शहर में कितने ही बड़े-बड़े बंगले हैं, और भी जमीन है — पर जानसेवक उसी जमीन को लेना चाहते हैं जो सामन्ती सम्पत्ति का प्रतीक बन गयी है । जानसेवक और सूरदास का यह संघर्ष वैयक्तिक नहीं रह जाता बल्कि वह पूँजीवाद और सामंतवाद का संघर्ष बन जाता है । इससे उपन्यास में 'प्रतिनिधिकता' तो आ गई है पर उपन्यास के रचना-कौशल में जानसेवक का यह रूप कई बार 'कनविंसिंग' नहीं लगता ।

Wrong fallacious argument

पाण्डेपुर के निवासी किसान नहीं हैं । भैरों ताड़ी बेचता है, जगधर सोंटा लगाता है, बजरंगी दूध बेचता है । सूरदास भीख माँगता है।

नायकराम श्रद्धालु भक्तों पर आश्रित है । ये सब लोग देहाती हैं । वास्तव में सूरदास को मात्र अपनी जमीन चली जाने से विरोध नहीं है बल्कि कारखाने के लिए जमीन बेचने से विरोध है । बेचने से उतना विरोध नहीं जितना कारखाने से है । उसे गाँव के नष्ट हो जाने का भय है । सूरदास राजा महेन्द्र को कहता है — ''..... सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुल्क की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा । लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जायगा, वेश्यायें भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा । देहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी की लालच में दौड़ेंगे, वहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैलायेंगे । देहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और वहाँ पैसे के लोभ से अपना धरम बिगाड़ेंगी । यही रौनक शहरों में है । वही रौनक यहाँ हो जायगी । भगवान न करे, यहाँ वह रौनक हो । सरकार, मुझे इस कुकरम और अधरम से बचाएँ । यह सारा पाप मेरे सिर पड़ेगा ।''[44] सूरदास की चिंता, विरोध और सारे संघर्ष का आधार/भूत दर्शन यह जीवन दृष्टि है । प्रेमचंद की सारी सहानुभूति और चेतना सूरदास के साथ है ।

सूरदास जीवन को खेल का मैदान समझता है, उसके नियमों और कायदों का पालन करता है । अंत में इसी भावना के साथ मर भी जाता है । क्लार्क सूरदास को गोली मार देता है । मरते-मरते सूरदास के मुख से भावी संघर्ष का संकल्प निकलता है । असहयोग आन्दोलन की हार के बावजूद भी जो आशावाद प्रेमचंद जैसे बुद्धिजीवियों और जनता में बच गया था उसकी अभिव्यक्ति इस तरह की गयी है :

'' बस-बस, अब मुझे क्यों मारते हो । तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना । तुम बड़े पुराने खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को खिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह

भी खूब है । हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलोज, मार-पीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता । तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं । बस, इतना ही फरक है । तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतने वालों का धरम नहीं । तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना । हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की । फिर खेलेंगे, जरा दम से लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी ।''45

सूरदास की यह ऐतिहासिक भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई और उसके ७: वर्ष बाद फिर अँग्रेजी साम्राज्यवाद से जबर्दस्त संघर्ष हुआ और अंत में भारतीय जनता की जीत हुई, देश आजाद हुआ ।

इसके अलावा उपन्यास में कुँवर भरत सिंह का परिवार है । सोफिया घर से निकलकर उन्हीं के यहाँ पहुँचती है । यहाँ पर भी कुछ प्रतिनिधि चरित्रों के दर्शन होते हैं । रानी जाह्नवी क्षत्राणी है । वह प्राचीन सामंती शौर्य की प्रतिमा है । उसकी जीवनदृष्टि पुनरुत्थानवादी है । अपने पुत्र विनय को वह आदर्श राष्ट्र सेवक बनाना चाहती है । वह अपनी पुत्री इन्दु को आदर्श हिन्दू पत्नी बनने का उपदेश देती रहती है । अँग्रेजों से मेल-जोल रखना वह जातीय अपमान समझती है । विनय को एक खास ढर्रे की शिक्षा दी जाती है । वह सेवा समिति बनाता है और जनता की भलाई करता है, पर अंततः या तो अकर्मण्य साबित होता है या राज्यसत्ता का (उदयपुर में) क्रूर दाहिना हाथ बन जाता है । देश सेवक होते हुए भी उसमें धैर्य और सहनशीलता का अभाव है । वह सोफिया से प्रेम करता है, पर उसमें इतना नैतिक साहस नहीं है कि वह अपनी माँ के सामने खड़ा हो सके । डा० गांगुली व्यवस्थापिका में जाते हैं । कई वर्ष तक काम करने के बाद अंत में वह भी निराश हो जाते हैं । विनय आत्महत्या कर लेता है (उस अंदाज में बलिदान कर रहा है) और गांगुली का मोहभंग होता है ।

पठिपुर का संघर्ष आगे कैसे बढ़े — इसका बोध किसी को नहीं है ।

इस उपन्यास में इन्दु के पति राजा मोहन कुमार का चरित्र बहुत महत्त्वपूर्ण है । वे साम्राज्यवाद के भीतर काम कर रहे राजाओं की वास्तविक दशा के नमूना हैं । प्रेमचंद ने बताया है कि यद्यपि वे सिद्धान्त प्रिय हैं, वह सम्मान-लोलुप भी हैं । यही उनके पतन का कारण भी है । क्षत्रिय हैं पर कायर हैं । उनके पास अपनी कोई शक्ति नहीं — वे सेवा के शून्य हैं । क्लार्क राजासाहब के चरित्र पर बहुत उपयुक्त टिप्पणी करता है —

'' खुश ! उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है । वह जो कुछ करते हैं, हमारा रुख देखकर करते हैं । इस वजह से उन्हें कभी असफलता नहीं होती । हाँ, उनमें यह विशेष गुण है कि वह हमारी प्रस्तावों का रूपान्तर करके अपना काम बना लेते हैं और उन्हें जनता के सामने ऐसी चतुरता से उपस्थित करते हैं कि लोगों की दृष्टि में उनका सम्मान बढ़ जाता है । हिन्दुस्तानी रईसों और राजनीतिकों में आत्मविश्वास का बड़ा अभाव होता है । वे हमारी सहायता से वह कर सकते हैं, जो हम नहीं कर सकते ; पर हमारी सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते ।''[46]

इन राजा साहब का पतन सबसे ज्यादा कारुणिक होता है क्योंकि वे जो चाहते हैं वह होता नहीं और जो नहीं चाहते हैं — वही होता है । उपन्यास के अंत में सूरदास की प्रतिमा के नीचे दबकर मर जाते हैं ।

जिलाधीश मि० क्लार्क का चित्रण भी इस उपन्यास में उत्तम हुआ है । उसकी कार्यक्षमता, राजनीतिक दृष्टि, सूझबूझ, अंग्रेजों की स्थिति का यथावत वर्णन किया गया है । देशी रियासतों का वर्णन भी इस उपन्यास में यथास्थान है । प्रेमचंद क्लार्क से साम्राज्यवादी ब्रिटेन की नीति की घोषणा यों करवाते हैं —

''अंग्रेज जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है । कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का

पालन करते हैं ।..[47]

इसके अलावा ताहिर अली के संयुक्त परिवार की कठिनाईयों का वर्णन है, भैरो और सुभागी का वर्णन है, नायकराम की करतूतों का जिक्र है, आतंकवादी वीरपाल सिंह की गतिविधियां हैं तथा और भी अनेक छोटी-मोटी प्रसंग हैं । इस संदर्भ में जगधर और भैरो का चरित्र बहुत स्पष्टता से उभरकर सामने आया । विनय और सोफिया की प्रेम कहानी अत्यंत कमजोर और कृत्रिम है ।

इस उपन्यास में असहयोग आन्दोलन की एक झलक भी है । सूरदास की झोपड़ी गिराने के मामले को लेकर जनता में उत्साह है, गोली चलती है, जनता में आत्मबलिदान का उत्साह है और पुलिस के सिपाही अनुचित आज्ञा मानने से इन्कार करते हैं । प्रेमचंद ने वीरोचित गरिमा से इस प्रसंग का वर्णन किया है ।[48]

कुल मिलाकर उपन्यास का अंत ट्रेजिक रहा और संघर्ष में चक्रधरवक की, अंग्रेजी साम्राज्यवादी क्लार्क की, यानी कि शहर की यानी साम्राज्यवाद की जीत हुई । सूरदास, विनय अर्थात् देहात (भारत) पराजित हुआ । सूरदास को गोली मार दी गई, विनय और सोफिया ने आत्महत्या कर ली, राजा भरेन्द्र सूरदास की प्रतिमा के नीचे दब मरे, ईश्वर सेवक मर ही गये थे । दोनों कुलों में मिसेज सेवक की बुद्धिभ्रष्ट हो गई, इन्दु माँ के पास चली आयी, प्रभु सेवक अमेरिका चला गया, गांगुली ने त्यागपत्र दे दिया, कुंवर भरत सिंह फिर भोग-विलास में लिप्त रहने लगे । इस सारी गड़बड़ - फसाद में अगर कोई व्यक्ति बचा है तो वह भूतनाथ की तरह अकेला जानसेवक ।

प्रेमचंद ने एक बीच विशाल कहानी साहित्य भी लिखा । संभवतः प्रेमचंद ने सबसे अधिक कहानियाँ 1924 में लिखीं । इन कहानियों में विषय की विविधता और संजीदगी है । इस साल प्रेमचंद ने अपनी पिछली रचनात्मक परंपरा, कहानियों की विषय-वस्तु और रचना के उद्देश्य पर पुनर्विचार किया । उनके आदर्शवाद का दबाव इस वर्ष की कहानियों में नहीं के बराबर है । इस वर्ष उन्होंने जीवन की वास्तविकता के विविध रूप दिखाये ।

नये विषय ही नहीं आये, बल्कि 'पुराने' विषयों पर भी नवीन दृष्टि डाली ।

किसान जीवन पर तीन महत्वपूर्ण कहानियां इसी साल लिखी गयी — मुक्तिमार्ग (अप्रैल 1924), मुक्तिधन (मई 1924) और 'सवा सेर गेहूं' (नवम्बर 1924) । अब तक की किसान-संबंधी कहानियों से ये कहानियां आगे बढ़ी हुई हैं । 'प्रेमाश्रम' में किसान और जमींदार का संबंध मुख्य है, 'रंगभूमि' में देहात और शहर का संघर्ष है, 'पंच परमेश्वर' में नये जीवन मूल्यों के स्थान पर परम्परागत मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा है, 'लाग-डांट' में असहयोग आन्दोलन का प्रभाव है । इन सब रचनाओं में गाँव जीवन के प्रति बाहरी — शिक्षित दृष्टि डाली गयी है । शिक्षित जनों को सदुपदेश और किसानों की दीन दशा का वर्णन उनमें मुख्य स्थान पाता था । 'मुक्तिमार्ग' में न तो उपदेश है और न सुधार की कामना है । यहाँ प्रेमचंद ने किसान का — साधारण और वास्तविक जीवन चित्रित किया है । इस कहानी में किसान और किसान का संघर्ष है । जीगुर किसान और बुद्धू गड़रिये के आपसी संघर्ष और मनमुटाव इस कहानी के केन्द्र में हैं । खेत के पकने के साथ किसान में गर्व का उदय होता है और फसल नष्ट होने के साथ ही वह भी मुरझा जाता है । एक छोटी-सी बात पर दोनों में झगड़ा होता है । बुद्धू जीगुर के खेत में ऊख लगा देता है और जीगुर उस पर गऊ हत्या का आरोप लगवा देता है । दोनों तबाह होकर मजूर हो गये । प्रेमचंद ने कहानी के अंत में दोनों के उसी पुरानी भाईचारे का दृश्य दिखाया है । दोनों साथ खाना खाते हैं और अपना-अपना अपराध स्वीकार करके हुक्का पीकर सो जाते हैं ।

प्रेमचंद ने 'मुक्तिधन' में दिखाया है कि किसान के लिए खेती करना कितना मुश्किल होता जा रहा है । उनमें यह नैतिक चिंता बराबर विद्यमान थी कि किसानों को किस तरह बचाया जाय । उसके लिए बदहाली के कारणों को जानना जरूरी है । 'मुक्तिधन' और 'सवा सेर गेहूं' इस

कारण-प्रक्रिया के खोज की कहानियां हैं । तीनों कहानियों के किसान अंत में मजूर बन जाते हैं । 'सवा सेर गेहूं' में उसका कारण बताया है — महाजन को — जो धर्म की आड़ में शोषण करता है । 'मुक्तिधन' में प्रेमचंद आदर्शवादी हो गये पर 'सवा सेर गेहूं' का कर्ज लेकर आजन्म गुलामी लिखने वाले शंकर की कहानी एकदम यथार्थवादी है । अगि चलकर इसी भावभूमि पर प्रेमचंद ने 'गोदान' उपन्यास लिखा ।

इसके अलावा प्रेमचंद ने करीब 10-15 वर्ष बाद कुछ ऐतिहासिक कहानियां लिखी । इन कहानियों में देश प्रेम की भावुक ललकार नहीं थी, न बलिदान हो जाने की शौर्य - गाथाएं थी — बल्कि कुछ एक नया परिप्रेक्ष्य था और नयी दृष्टि भी । इन कहानियों में प्रेमचंद ने मुस्लिम साम्राज्य की विलासप्रियता और अकर्मण्यता में डूबे हुए मानवचरित्रों की दास्तान है । इन कहानियों में न तो दुख है और न पछतावा, न दया , न ममता ; बल्कि एक निर्मम कालपरीक्षक की हैसियत से कहानियां उस युग के पात्रों को जिंदा करती है । इन कहानियों के पीछे यह सवाल गूंजता है कि आखिर भारत पर कैसे अधिकार कर गए ? परीक्षा (जनवरी 1923), राज्यभक्त (फरवरी 1923), कप्रपात (मार्च 1924), शतरंज के खिलाड़ी (दिसंबर 1924) आदि कहानियां मुख्य है । 'परीक्षा' में नादिरशाह कहता है — '' जब किसी कौम की औरतों में गैरत नहीं रहती, तो वह कौम मुर्दा हो जाती है ।..... अब यह सल्तनत जिंदा नहीं रह सकती । उसकी बरबादी के दिन गिने हुए हैं । इसका निशान बहुत जल्द दुनिया से मिट जायेगा ।''[49] 'शतरंज के खिलाड़ी' इस दृष्टि से सर्वोत्तम कहानी है। इसका नामकरण विलासप्रिय भारतीय नवाबों और राजाओं की शान के उपयुक्त ही है । देश-दुनिया से बेखबर शतरंज के खिलाड़ी — मीर और मिरजा के प्रति पाठक सहानुभूति से भर उठता है । लेखक ने अपार करुणा भाव से प्रेरित होकर ही इन प्राणहीन चरित्रों को जीवित किया है ।

..... जब असहयोग आन्दोलन खत्म हुआ, तब चौपाल और बैठक में फिर वही राजनीतिक और सत्याग्रह की चर्चाएँ फिर से बन्द हो गयी । उनके स्थान पर फिर घर गाँव के छोटे-मोटे झगड़े चर्चा के केन्द्र में आये । आभूषणों की चिंता सताने लगी । घर में चूल्हा – चक्की के साथ सास-बहू की गालियों की मीठी झन्कार सुनायी भी पड़ने लगी । भोजन-पानी की चिंता से, घर के झगड़े बढ़ने लगे, तब हमारा कथाकार भी अपने उन पुराने विषयों पर फिर से लौट आया, जिसे उसने पिछले सात-आठ वर्षों से छोड़ दिया था । 'कौशल' (अगस्त 1923) और 'आभूषण' (अगस्त 1923) में नारियों की स्वाभाविक आभूषण-प्रियता का वर्णन और उसके परिणामों की भर्त्सना है । मृतदाह (जून 1923), नैराश्य (जुलाई 1924), भूत (अगस्त 1924), उद्धार (सितम्बर 1924), निर्वासन (जून 1924) आदि कहानियों में हिन्दू-परिवारों में पल रही अत्यंत प्रतिक्रियावादी रूढ़ियों और संस्कारों की भर्त्सना की गयी है । हिन्दू-समाज में नारी की स्थिति की भयानकता 'निर्वासन' और 'उद्धार' में है । कितनी ही मान्यताएँ इस समाज को नरक बनाए हुए हैं, उसका पर्दाफाश इसमें किया गया है । इन कहानियों से यद्यपि समाज-सुधार की भावना प्रकट होती है – पर अत्यंत गौण रूप में ; — कहानी में मुख्य स्थान उन परिस्थितियों का ही है जिनसे हिन्दू परिवार में नारीय जीवन बिताना पड़ रहा है ।

साम्प्रदायिकता और प्रेमचंद :

असहयोग आन्दोलन जब खत्म हो गया, तब देश के राजनीतिक जीवन में फिर निराशा का प्रवेश होने लगा । असहयोग ने जिन वर्गों और नेताओं का मुलम्मा उतार दिया था, उन्होंने अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को फिर से पाने के प्रयास शुरू किये । कांग्रेस - खिलाफत गठबंधन टूटा और हिन्दू महासभा ने 'शुद्धि आन्दोलन' चलाया । देश में पहलीबार भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए । मुसलमान कुरबानी करने लगे, हिन्दुओं ने 'शुद्धि' करना शुरू किया । उस माहौल में साम्प्रदायिकता का जहर जनता और

नेताओं में खूब मेला । रईसों, नवाबों, पुरोहितों और मुल्लाओं ने उसे बढ़ाया । अंग्रेजों ने भी इन दंगों में दिलचस्पी लेनी शुरू की । कांग्रेस के नेताओं ने अवसरवादी रुख अपनाया । ऐसे काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता का झंडा लेकर प्रेमचंद उठे । उन्होंने 'जमाना' में 'मनुष्यता का अकाल' (फरवरी 1924) शीर्षक टिप्पणी लिखी और हिन्दुओं की राजनीतिक उदारता और संकीर्णता की भर्त्सना की । यही नहीं, कांग्रेस नेताओं को भी फटकारा :

'' मगर अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी सम्मिलित रूप से इन आन्दोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रखा । इतना ही नहीं, एक भी जिम्मेदार कांग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलनों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस नहीं किया । पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, लाला भगवानदास, लाला श्रीप्रकाश इन आदमियों में, जिनसे ज्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, मगर इन सभी लोगों ने एक रोज अपने विरोध और अपनी आशंका को व्यक्त करके दूसरे रोज उसका खंडन कर दिया और ठेके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और संगठन के बारे में हमने जो सवाल उठाए थे वह गलतफहमियों पर आधारित था ।''[50]

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी इस समस्या को स्थान दिया । उनके दिमाग में अब एक नैतिक चिंता यह भी रहने लगी कि किसी पात्र का धरम क्या है । जीवन में अगर आपसी कटुता है तो क्या, प्रेमचंद अपनी कहानियों के लिए ऐसे चरित्र खोज ही लाते हैं जिनमें आपसी प्रेम और सहृदयता ज्यों की त्यों मौजूद है । 'मुक्तिधन' और 'डिक्री के रुपये' (जनवरी 1925) में यह चिंता स्पष्ट देखी जा सकती है । 'डिक्री के रुपये' कहानी में कर्त्तव्य और प्रेम का द्वन्द्व है । शिक्षित

युवकों के विरोधी विकास-क्रम को रेखांकित करने के लिए उन्होंने एक को सरकारी नौकर बना दिया और दूसरे को देशसेवक । एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान बना । फिर भी नर्मदा और देवाशा में मित्रता चलती रही । दोनों में कर्त्तव्य और प्रेम में संघर्ष हुआ, जिसमें प्रेम ने पराजित होकर भी अपनी विशालता में कर्त्तव्य को समेट लिया । इसके अलावा प्रेमचंद ने इस्लाम के इतिहास पर भी कुछ कहानियाँ लिखीं, जिसमें मुसलमानों की न्यायप्रियता, देशभक्ति और दयालुता का चित्रण किया । 'रामा' और 'नबी की नीति-निर्वाह' इसी ढंग की कहानियाँ हैं । इन कहानियों के अलावा प्रेमचंद ने कर्बला की लड़ाई पर 'कर्बला' शीर्षक एक नाटक भी लिखा । इसमें उन्होंने कुछ हिन्दू पात्रों को भी सहयोगी के रूप में शामिल किया । ऐतिहासिक तथ्यों से प्रेमचंद ने कर्बला संग्राम में हिन्दुओं की उपस्थिति को प्रमाणित किया । इस नाटक की बहुत आलोचना - प्रत्यालोचना हुई । साम्प्रदायिक हिन्दुओं और मुसलमानों- दोनों ने इसका विरोध किया । प्रेमचंद ने अपने विरोधियों को जवाब भी दिया ।

मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं ने कुर्बानी के अपने अधिकार को इस्तेमाल करना शुरू किया । हिन्दूवादियों ने शुद्धि आन्दोलन चलाया और हिन्दू संगठन बनाने पर बल दिया । प्रेमचंद ने दोनों प्रवृत्तियों से संघर्ष किया क्योंकि इनसे राष्ट्रीय एकता खंडित होती है और स्वराज्य आन्दोलन कमजोर होता है । 'मंत्र' में उन्होंने शुद्धि आन्दोलन की निरर्थकता दिखायी । 'मंदिर और मसजिद' (1925 ई०) में प्रेमचंद ने चौधरी एतराजली जैसे सद्भावनापूर्ण धार्मिक मुसलमान का चरित्र सामने रखा । वास्तव में जिसे परमोधर्मः (दिसम्बर 1926) कहकर प्रेमचंद ने दोनों सम्प्रदायों के इस झगड़े को उचित नाम दे दिया था । जीवन भर प्रेमचंद इसके संघर्ष करते रहे । उस युग में साम्प्रदायिकता की भावना कितनी प्रबल थी, इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि निराला और रामचन्द्र शुक्ल जैसे समर्थ चिंतक साहित्यकार भी इससे नहीं बच पाये थे । जो लोग इस से ग्रसित थे, उनमें से अधिकांश ने मौन रहने में ही अपनी कुशल समझी । जबकि

प्रेमचंद ने साहस-पूर्वक इस घृणित मनोवृत्ति से संघर्ष का झंडा उठाया ।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण असहयोग की अचानक समाप्ति को माना है । उन्होंने लिखा है : " यह भी संभव है कि इतने बड़े आन्दोलन को अचानक रोक देने से देश में एक के बाद एक दुखद घटनाओं का क्रम शुरू हुआ । राजनीतिक संघर्ष में फिटपुट और निरर्थक हिंसा की प्रवृत्ति तो रुक गई किन्तु इस दबी हुई हिंसा को और रास्ता तो ढूंढना ही था और बाद के वर्षों में शायद इसने ही साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा दिया ।"[5]

असहयोग आन्दोलन की समाप्ति और प्रेमचंद का रचनात्मक औचित्य :

चौराचौरी की घटना के बाद गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन वापिस ले लिया । तब से लगाकर सक्रिय अक्का आन्दोलन (1930 ई०) तक देश में राजनीतिक शक्तियां विघटन-संगठन के दौर में थी । आन्दोलन समाप्ति के बाद देश में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और इसी कारण अनेक साम्प्रदायिक संगठन बने । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना भी इसी समय (1925 ई०) में हुई । 'माधुरी' जैसी पत्रिकाओं ने भी पृथक हिन्दू - संगठनों के लिए आवाज उठाई । इसके साथ ही आर्यसमाज ने 'शुद्धि आन्दोलन' भी चलाया । मुसलमानों में भी कुर्बानी का जोश नये सिरे से भड़का । इसके अलावा कांग्रेस से अलग मोतीलाल नेहरू जैसे दक्षिण पंथी नेताओं ने 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण किया । उन्होंने वैधानिक संघर्ष का रास्ता अपनाया । इस बीच मजदूर और किसानों के आन्दोलन भी हुए । रायबरेली और प्रतापगढ़ के किसानों ने आन्दोलन चलाये । जगह-जगह मजदूर संगठन भी बने । इसके अलावा 1925 में 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' का भी जन्म हुआ और इन लोगों ने गांधीजी की नरम नीति की आलोचना की और कांग्रेस राज्य से संघर्ष चलाया । कांग्रेस एक बीच पेशोपेश की स्थिति में थी । 1926 के बाद धीरे-धीरे राजनीतिक असंतोष फिर उभरने लगा और पंडित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस

के रूप में कांग्रेस को नया नेतृत्व मिला । धीरे-धीरे राष्ट्रवादी लोग कांग्रेस के आसपास फिर इकट्ठा होने लगे और नये सिरे से स्वाधीनता आन्दोलन छेड़ने की ठनी । सविनय अवज्ञा आन्दोलन इसी की अभिव्यक्ति था ।

इस बीच प्रेमचंद साहित्य में प्रतिष्ठित हो गये । उन्हें हिन्दी-भाषी जनता ने 'उपन्यास-सम्राट' की उपाधि दी । इस कारण उनमें अपनी कला के प्रति अतिरिक्त आत्मविश्वास बढ़ा । यह आत्मविश्वास अपने साथ असावधानी भी लाया, जिससे रचनात्मक शैथिल्य की मात्रा बढ़ी । उपन्यास-कहानियों में अवांछित घटना-प्रसंगों की भीड़ बढ़ने लगी । स्वाधीनता आन्दोलन में निराशा और असमर्थता आई, तो साहित्य में भी मंथरता और श्लथता का पदार्पण हुआ । उत्साह के स्थान पर ठहरा हुआ व्यंग्य 1924 के बाद की रचनाओं में मुख्य रस है । स्वाधीनता-आन्दोलन का जोश जब आत्मालोचना की आग में गलने लगा तब पता चला कि यह जोश बहुत कुछ खाली ढोल पीटने का है — वास्तविक कार्य कम हुआ है, राजनीतिक चेतना कम बढ़ी है, पदों में उलझी चर्चाएँ ज्यादा हुई हैं, बलिदान कम हुए हैं, त्यागियों की मात्रा बेशक बढ़ गयी है । सबसे बड़ी चीज तो यह हुई कि असहयोग आन्दोलन ने जो सिद्धान्त और मूल्य दिये थे — मनुष्य की स्वार्थ बुद्धि ने उनको वैयक्तिक चित्त-साधन के अस्त्र बना लिये हैं । प्रेमचंद के मन में यह समझदारी विकसित हुई । फलतः अत्याचारी शासकों और शोषकों पर व्यंग्य करने, उनके खिलाफ जोशीली आवाज बुलंद करने के बदले राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को फिर से समझने का प्रयास होने लगा । दुश्मन को दोष देने के बदले अपने भीतर झाँकने का प्रयास होने लगा । शत्रु को गाली देने के बदले अपनी सेना का पुनर्गठन ज्यादा श्रेयस्कर लगने लगा । अतः प्रेमचंद ने फिर से घर-परिवार, पति-पत्नी के संबंध, पंडित-मौलवी के करतूत, नेताओं में छुपे छुटभैया चरित्रों को देखना शुरू किया । इस सारी प्रक्रिया से तप कर आये हुए भारतीय नवयुवकों को पहचानने का प्रयास भी उन्होंने किया । उन्होंने भारतीय सामाजिक परंपरा को देखा और पश्चिम के प्रभावों को महसूस किया तथा उनकी भर्त्सना की ।

इस सारी बहस में जो छूट गया वह था – भारतीय किसान । प्रेमचंद ने 'सवासेर गेहूं' के बाद तीन-चार वर्षों तक किसानों पर एक भी कहानी नहीं लिखी । इसके बाद एक कहानी आई — सुजान भगत (1927) ।

किसानों के न आने से प्रेमचंद के साहित्य में आंतरिक कमजोरी आयी — अतः 'रंगभूमि' के बाद प्रेमचंद की कला में ह्रास हुआ है । 'रंगभूमि' की तुलना में 'कायाकल्प' उनकी कमजोर रचना है । रचनाकार प्रेमचंद को नई शक्ति 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' से मिली । 'गबन' (1931) इसकी मिसाल है ।

प्रेमचंद जब लखनऊ में ही थे, तब अलवर के राजा साहब ने उनको अपने पास रखने के लिए बुलाया । 400/- रुपये महीना, मोटर और बंगला देने को लिखा था । प्रेमचंद ने इन्कार कर दिया । उनके साहित्य संबंधी दृष्टि में भी एक खास विकास हुआ और उन्होंने उद्देश्यपरक रचना के महत्व पर प्रकाश डाला । उन्होंने उद्देश्य परक रचनाओं की अनिवार्यता पर बल देते हुए 1925 में लिखा :

'' लेकिन आजकल परिस्थितियां इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता । यह बहुत मुश्किल है कि 'आप' पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो । यही कारण है कि आजकल भारत ही में नहीं, योरोप के बहुत बड़े विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं ।''[52]

प्रेमचंद ने इस बीच बहुत कमजोर कहानियां लिखी हैं । पुराने विषय, पुरानी शैली और पुराने द्वन्द्व को बार-बार प्रस्तुत करते रहने से उनमें वह जान नहीं बची जो पहलीबार प्रस्तुत करते समय मौजूद थी । 1925-26 की कहानियों में यह कमजोरियां मिलती हैं । ऐसा लगता है कि अभ्यस्त लेखक पुरानी कथा को दुहरा रहा है । इनमें कुछ कहानियों राज्य अधिकारियों

की अमानवीयता को प्रकट करती है । उन्हें प्रेमचंद ने 'भाड़े का टट्टू' कहकर पुकारा । राजनीतिक कहानियों में सरलता और सच्चाई के व्यापक प्रभाव को संकेतित किया गया है । (मसलन – 'विश्वास' अप्रैल 1925) । प्रेमचंद ने इस बीच कुछ अनुभवपरक कहानियां लिखीं — जिसमें अपने बचपन को फिर से जिंदा करने का आत्मीय प्रयास है । बचपन की घटनाओं पर लिखी गयी कहानियों की सरल आत्मीयता पाठक को छू जाती है । चोरी (सितम्बर 1925), बज़ाकी (अप्रैल 1926), रामलीला (अक्टूबर 1926) आदि कहानियां इसी श्रेणी की हैं ।

इसके अलावा प्रेमचंद ने कुछ पारिवारिक जीवन की कहानियां भी लिखी हैं, जिनमें नारी की वास्तविक स्थिति को रेखांकित किया गया है । हिन्दू - समाज की रूढ़ियों का विरोध किया गया है तथा 'सुखी परिवार' को समाज के आदर्श के रूप में सामने रखा है । 'नरक का मार्ग' (मार्च 1925) कहानी में बेमेल विवाह का परिणाम बताया है । 'लांछन' (अगस्त 1926) में पारिवारिक जीवन में संदेह के दुष्परिणाम को बताया गया है । 'प्रेम-सूत्र' (अप्रैल 1926) में पुरुष के छलावन पर व्यंग्य है । इसके विपरीत नारी के आदर्श रूप की प्रतिष्ठा की गयी है ।

निर्मला :

समाज में नारियों की इस स्थिति से प्रेमचंद बहुत चिंतित रहे थे – अतः उन्होंने एक 'निर्मला'[53] नामक उपन्यास भी लिखा। इसमें बेमेल-विवाह से उत्पन्न पारिवारिक परिस्थितियों का चित्रण है।पूरी पुस्तक हिन्दू-परिवार और उसमें नारी की स्थिति की विडंबना से ओतप्रोत है। आरंभ में निर्मला के बाल्य-जीवन, उसके परिवार की स्थिति, पिता की मृत्यु और इसी के परिणामस्वरूप मुंशी तोताराम जैसे अधेड़ वकील से शादी की घटनाओं का वर्णन है । गरीब के घर लड़की कैसे भार बन जाती है, दहेज में कैसे रकमें मांगी जाती हैं –इसका यथावत वर्णन है । प्रेमचंद ने दिखाया है कि दहेज का यह लोभ पुराणपंथी पुराने लोगों में ही नहीं, शिक्षित नवयुवकों में भी है और यहां तक कि शिक्षित नवयुवकों में अधिक मात्रा में है । 'निर्मला' में

भुवन कहता है :

'' कहीं ऐसी जगह शादी करवाइये कि खूब रुपये मिलें । और न सही, एक लाख का ठोल तो, वर्ना अब क्या रखा है । वकील साहब रहे ही नहीं, बुढ़िया के पास अब क्या होगा ।''[54]

जिन वकील तोताराम से निर्मला की शादी होती है, उनके पहले ही तीन लड़के हैं — मंसाराम, जियाराम और सियाराम । ऐसे बूढ़े मुंशीजी के मन में सन्देह उत्पन्न होता है ; जिससे मंसाराम असाल मौत मरता है, जियाराम चोरी करता है और घर से भाग जाता है ; सियाराम को साधु बनवा कर ले जाते हैं — इसका विस्तार से वर्णन किया गया है । तोताराम लड़के को खोजने जाते हैं, निर्मला मर जाती है । उपन्यास दु:खान्त है । तोताराम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ''..... वास्तव में विवाह के बन्धन में पड़ना ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना था । हाँ, यही है सारी उपद्रवों की जड़ ''।[55] वास्तव में उपद्रव की जड़ विवाह नहीं, बल्कि अनमेल विवाह है ।

निर्मला मरते-मरते रुक्मणी को अपनी लड़की सौंपते हुए कहती है :

'' बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ । अगर जीती बचती रहे, तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा । मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर सकी, केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ । चाहे दुत्कारी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा, इतनी ही आपसे विनय है ।''... [56]

कायाकल्प :[57]

'कायाकल्प' प्रेमचंद का अत्यंत कमजोर उपन्यास है । स्वाधीनता आन्दोलन जब कमजोर पड़ गया, तब हिन्दुस्तान के बौद्धिक वातावरण में निराशा घनी होने लगी । 'कायाकल्प' में इस निराशा का एकत्र राज्य है । 'रंगभूमि' के सूरदास की पराजय में भी एक जबर्दस्त आशावाद था ; 'कायाकल्प' का अंत अत्यंत निराशाजनक है । असहयोग के बाद राष्ट्रीयता

का दमन बढ़ा, जिससे यह निराशा गहरी होती चली गयी । इसके अलावा उपन्यास को कमजोर करने वाला तत्व आध्यात्मिकता है । यद्यपि प्रेमचंद ने ऐसी साम्प्रदायिक संघर्षों की आलोचना की थी, फिर भी इस धार्मिक माहौल ने में उनके भीतर भी आध्यात्मिकता जड़े जमा ली थी । 'रंगभूमि' में विनय को जड़ीभूटियों में विश्वास हो जाता है । प्रेमचंद ने इस उपन्यास में दो कहानियां कही हैं — एक अलौकिक, धार्मिक और दूसरी समसामयिक, राजनीतिक । दोनों कथाओं को चक्रधर के पुत्र शंकर के माध्यम से मिलाने का प्रयास किया गया है । लेखक ने चक्रधर जैसे राजनीतिक व्यक्ति को भी अंत तक रीति-नीति एक दम धार्मिक साधु बना दिया है । 'रंगभूमि' में उनकी चिंता थी कि सेवा समिति को कुंवर भरतसिंह दवाईयां बांटने वाली समिति बनाने पर क्यों तुले हुए हैं । यहां लेखक ने चक्रधर को उसी दिशा में प्रेरित कर दिया है ।

उपन्यास की धार्मिक कथा के केन्द्र में रानी देवप्रिया का भोग विलास है । वे इस कथा के माध्यम से पूर्व और पश्चिम की — धर्म और विज्ञान को मिलना चाहते हैं । इसमें भोग और विज्ञान को मिलाकर चिर यौवन की कल्पना की गयी है । इसमें एक पहुंचे हुए साधु हैं, जो पिछले जन्म में डाक्टर थे । अब उन्होंने हवाई जहाज बनाया है और वे चांद पर जाना चाहते हैं । उन्होंने महेन्द्र को चिर यौवन की साधना सिखाई है । अलौकिक और पुनर्जन्म की कहानी — कायाकल्प को अत्यंत कमजोर रचना बना देती है । यह प्रेमचंद पर धार्मिकता के प्रभाव की द्योतक है ।

राजनीतिक कहानी के केन्द्र में चक्रधर है । उपन्यास के प्रारंभ में आगरा में दंगे का वर्णन है । मुसलमान कुर्बानी करना चाहते हैं, हिन्दू विरोध करते हैं । इस तनातनी में चक्रधर वहां पहुंच जाता है और कुर्बानी रुकवाता है । चक्रधर किसानों के बीच काम करता है और अपने जीवन को सेवा कार्यों के लिए ही अर्पित करना चाहता है । यशोदानन्दन की पालित लड़की अहिल्या से उसकी शादी होती है । ये महाशय आगरा की हिन्दू महासभा

के मंत्री थे । दंगे में उनकी मृत्यु हो जाती है । यूं तो चन्द्रधर अपने को बहुत उदार और प्रजा सेवक समझता है लेकिन जीवन-व्यवहार में वह अधिकतर प्रतिक्रियावादी और दकियानूस साबित होता है । जैसे, यशोदानन्दन चन्द्रधर को आगरा ले जाना चाहते हैं, ताकि अहिल्या और चन्द्रधर एक दूसरे को पसन्द कर लें तभी शादी हो । "चन्द्रधर बड़े संकट में पड़े । सिद्धान्ततः वह विवाह के विषय में स्त्रियों को पूरी स्वाधीनता देने के पक्ष में थे ; पर इस समय आगे जाते हुए बड़ा संकोच हो रहा था । कहीं उसकी इच्छा न पूर्ण हो ?...."[58]

चन्द्रधर और अहिल्या की शादी हो गयी । दोनों इलाहाबाद में रहने लगे । आर्थिक तंगी थी, अतः अहिल्या ने सेज सिला, उसका पारिश्रमिक उसे मिला, जिससे अहिल्या ने एक कम्बल खरीदा । चन्द्रधर ने खत पढ़ा और पढ़कर "उनके अहंकार को धक्का-सा लगा । उनके मन में गृहस्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप से बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया । वह व्यक्तिगत भाव से बुद्धि में, विद्या में एवं व्यावहारिक ज्ञान में अपने को अहिल्या से ऊँचा समझते थे । रुपये कमाना उनका काम था । वह अधिकार उनके हाथ से छिन गया ।"[59]

चन्द्रधर राजा विशालसिंह के यहाँ रहने लगे थे । एक दिन वे मोटर पर घूमने निकले कि रास्ते में एक साँड आया । वह खुद तो मोटर छोड़कर पेड़ पर चढ़ गये लेकिन साँड ने मोटर को उलट दिया । रात हो गयी थी, चन्द्रधर पास के गाँव में कुछ आदमियों को बुलाने गये । वहाँ के किसान ने सुबह चलने के लिए कहा । इस पर "चन्द्रधर को ऐसा क्रोध आया कि उसका हाथ पकड़ कर घसीट लूँ और ठोकर मारते हुए ले चलूँ ; " फिर भी उन्होंने धक्के मारकर दो लातें जमा दीं उससे उस व्यक्ति को खूब चोटें आईं और वह उसी मार से मर भी गया । बाद में उसे उसका पश्चाताप भी खूब होता है ।

रानी देवप्रिया के चले जाने के बाद जगदीशपुर का राज्य जाह्नवी विशालसिंह को मिलता है । उनके राजतिलक का उत्सव किया गया, जिसमें

करीब पाँच लाख रुपये खर्च किये गये । ये रुपये किसानों से वसूल हुए । बेगारों को पकड़ा गया और यहाँतक कि उन्हें भोजन भी नहीं दिया गया । इसी कारण कुछ लोग मर भी गये । अंत में चमारों ने काम न करने की ठानी । वे धर जमि लगे, कर्मचारियों ने रोका । इसी मसले पर संघर्ष हुआ । अंग्रेजों ने करीब 100-125 आदमियों को मार डाला । क्रोधित भीड़ जब अंग्रेजों को मारने ही वाली थी कि चक्रधर बीच में आ गये और बच सुनकर अंग्रेजों को छुड़ा दिया । उन्हीं अंग्रेजों ने चक्रधर को दो वर्ष की कठोर कारावास की सजा दिलायी ।

इसी तरह जेल में दरोगा कैदियों को परेशान किया करता था । धन्ना सिंह और अन्य कैदी उसे सबक सिखाने को उतारू हो गये । यहाँ भी जब तक कैदी मार खाते रहे -- चक्रधर उसको देखते रहे लेकिन ज्यों ही कैदियों ने दरोगा को मारना शुरू किया — चक्रधर की अहिंसा जाग उठी । उसने दरोगा को बचा लिया । इस तरह चक्रधर के सिद्धान्त और व्यवहार में अंतर मिलता है और प्रेमचंद ने निर्मम होकर इस अंतर को स्पष्ट किया है । हालांकि प्रेमचंद की सहानुभूति चक्रधर के साथ है, फिर भी उन्होंने इतनी तटस्थता बरती है । उपन्यास के अंत में वह साधु हो जाते हैं और रानी मनोरमा के लिए चिट्ठियाँ पकड़कर लाते हैं ।

उपन्यास में कितने से राजा विशालसिंह के अत्याचारी शासन का वर्णन है । उनके विरोध करने वाली शक्तियाँ उपन्यास में एकदम नहीं हैं । कहीं आशा की किरण भी नजर नहीं आ रही है । लेखक की कलम भी राजा विशालसिंह के राजमहल के चारों ओर ही चक्कर काटती है । उनकी तीनों पत्नियों के आपसी संबंध और नयी रानी मनोरमा के मनोभावों का चित्रण करने में ही उपन्यासकार रमा है । चक्रधर के पिता मुंशी वज्रधर और लौंगी का चरित्र सबसे ज्यादा उभर कर आया है ।

इस उपन्यास में अंग्रेजों का चरित्र संक्षिप्त और साफ है । जिस राजा विशाल सिंह से साफ कहता है कि :

''..... राजा और रैयत सब एक है । हम किसी पर भरोसा नहीं करता । अपने जोर का भरोसा है । राजा का काम बागियों को पकड़वाना , उनका पता लगाना है । उनकी सिफारिश करना नहीं । अब निकल जाओ ।''[60]

इसके अलावा उपन्यास की पृष्ठभूमि में साम्प्रदायिक दंगों का वर्णन है और उनकी भर्त्सना की गई है । और उस तीसरी शक्ति की आलोचना भी की गई है, जिनका स्वार्थ हिन्दू-मुसलमानों के संघर्ष में ही है ।

उपन्यास के अंत में अधिकांश पात्र मर जाते हैं । शीतधर, राजा विशाल सिंह, रोहिणी, अहिल्या, एवं सेवक सिंह आदि मर जाते हैं । रानी देवकिया अब कमला के रूप में जीवित है और उसे शीतधर के पुनर्जन्म की प्रतीक्षा है । अंत में मनोरमा बचती है । उसे अब चिड़ियां पालने का शौक है और चक्रधर देश - विदेश घूमकर उसके लिए चिड़ियां पकड़ कर लाता है । उपन्यास से निकलता है कि अत्याचार बढ़ रहे हैं, प्रजा हितैषी शक्तियां नहीं है, शिक्षित युवकों पर बहुत ज्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता । किसान अनपढ़ ही नहीं, असंगठित भी हैं -- उनमें राजनीतिक चेतना ही नहीं है । रही - सही कसर हिन्दू - मुस्लिम दंगों ने पूरी कर दी है । अब इस देश का भगवान ही मालिक है या फिर अंग्रेजी साम्राज्यवाद ।

प्रतिज्ञा :[61]

प्रेमचंद ने 1927 में 'प्रेमा' उपन्यास को फिर से अपनाया । उसकी कथावस्तु में ही महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं कर दिया, बल्कि उसका नामकरण भी 'प्रतिज्ञा' कर दिया । यह परिवर्तन और पुनर्लेखन कम महत्वपूर्ण नहीं है । इससे प्रेमचंद के रचनात्मक शैथिल्य का पता चलता है । नयी कथावस्तु खोजने की परेशानी से बचने के लिए ही उन्होंने 'प्रतिज्ञा' को फिर से लिखा होगा । दूसरे इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रेमचंद के विचारों में अब कितना परिवर्तन हो गया है — और यह परिवर्तन इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि उन्हें भी अब अपनी धारणाओं का खंडन करना पड़ रहा है ।

'प्रेमा' में विधवा विवाह होता है, 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचंद विधवा-विवाह नहीं करवाते । 'प्रेमा' में पूर्णा के विधवा हो जाने के बाद सुधारवादी अमृतराय उससे शादी करते हैं और यही नहीं मजिस्ट्रेट उनके इस कार्य में मददगार साबित होता है । उपन्यास के अंत में प्रेमा का पति दीननाथ भी मारा जाता है और पूर्णा मर जाती है, तथा प्रेमा और अमृतराय की शादी करवा दी जाती है । 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय की शादी नहीं होती । दीननाथ और प्रेमा सुखपूर्ण जीवन बिताते हैं और पूर्णा विधवा-आश्रम में चली जाती है । यही नहीं, अंग्रेजी हाकिम इसमें तटस्थ रहता है । पूर्णा के पति की मृत्यु के बाद वह प्रेमा के घर में चली आती है और वहाँ कमलाप्रसाद की लम्पटता का शिकार होते-होते बच जाती है । इस तरह सारा उपन्यास पतिव्रत धर्म के पक्ष में सक्रिय होता है और उपन्यास के केन्द्र में सामाजिक - आन्दोलन की जगह घरेलू जीवन आ जाता है । कुछ भी हो, ऐतिहासिक दृष्टि से 'प्रतिज्ञा' 'प्रेमा' के बाद की रचना होते हुए भी, कमजोर है ।

'माधुरी' का सम्पादन :

1927 ई० में प्रेमचंद और कृष्णबिहारी मिश्र 'माधुरी' के सम्पादक बने । माधुरी' उस युग की महत्वपूर्ण साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाओं में से थी । प्रेमचंद के संपादन से पहले 'माधुरी' की संपादकीय टिप्पणियों में शुद्धि आन्दोलन, और हिन्दू-संगठन पर विशेष सामग्री छपा करती थी । अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विषयों में तो प्रेमचंद कोई परिवर्तन नहीं ला सके, पर उसे साम्प्रदायिकता - विरोधी पत्रिका जरूर बना दिया । यहाँ कुछ संपादकीय प्रेमचंद ने लिखे हैं — जिसमें उन्होंने समकालीन राजनीतिक नेताओं, बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों से बहसें की हैं । चली आती हुई सांस्कृतिक परंपरा और राजनैतिक माहौल के खिलाफ प्रेमचंद ने आवाज उठाई और बौद्धिक जगत में व्याप्त 'चुप्पी' को तोड़ा । इसका संपादन करते हुए ही प्रेमचंद ने एक स्वतंत्र पत्रिका की आवश्यकता महसूस की, जिसमें वे

अपने राजनीतिक, सामाजिक विचार सुलझ प्रकट कर रहे। अप्रैल 1927 से प्रेमचंद ने संपादकीय टिप्पणियां लिखनी शुरू की। इस वर्ष एक टिप्पणी लिखी — 'संसार में भातृ भाव'। इसमें उन्होंने नये और पुराने युग की तुलना की। नये युग के लाभ और हानियां बताईं और उन्होंने यह सिद्ध किया कि नये युग से बलवान राष्ट्रों को जितने फायदे हैं, कमजोर जातियों, राष्ट्रों और वर्गों के लिए नया युग 'स्वर्ण युग' नहीं है। ''संसार के इस भातृ-मंडल में हम जैसी दुर्बल जातियों को यदि कोई स्थान प्राप्त है, तो वह दासता का है, जिसका ध्येय अपने स्वामियों के लिये परिश्रम करना और उनके प्रदान किए हुए टुकड़ों पर जीवन का निर्वाह करना है।''[62] समकालीन भारत की निराशाजनक स्थिति का अनुभव इस टिप्पणी में बोलता है।

इसी वर्ष उन्होंने 'उर्दू की पत्रिकाएं और पत्र', 'हमारी देसी राज्यों की व्यवस्था', 'जातीय भाषाओं की उन्नति', 'सिनेमा और बुद्धि' संबंधी टिप्पणियां लिखीं। इसके अलावा एक टिप्पणी में साम्प्रदायिक तिलकधारियों की भर्त्सना की और इसके लिए जिम्मेदार भारतीयों की आलोचना की। उन्होंने 'सम्मिलित निर्वाचन' का समर्थन किया था।

अगले मास की 'माधुरी' के संपादकीय में प्रेमचंद ने समकालीन राजनीतिक - गतिविधियों की आलोचना की। यह आलोचना प्रेमचंद के स्वतंत्र चिंतन की सूचना देती है। इससे प्रकट होता है कि प्रेमचंद क्रियात्मक राजनीतिक गतिविधियों को कितनी नजदीकी से और कितनी आलोचनात्मक तटस्थता से देखा करते थे। 'नेता और जनता' शीर्षक यह टिप्पणी 'हंस' के संपादकीयों की ही परंपरा में मानी जायेगी। इसमें उन्होंने राजनीतिक नेताओं के भाषणों में निहित अबुद्धिवादी, भावुक, प्रवाहमयी भाषण शैली की निंदा की, जिसके कारण जनता में जोश तो पैदा किया जा सकता है, पर उससे जनता की आलोचनाबुद्धि कुंठित होती चली जाती है। राजनीतिक नेताओं के नैतिक साहस को चुनौती देते हुए उन्होंने लिखा :

'' अब भी हमारे कितने ही लीडर ऐसे हैं जो कई महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर अपनी जबान खोलने का साहस नहीं रखते, क्योंकि वे वास्तव में लीडर नहीं, बल्कि जनता की रुचि के अनुगामी हैं । उनका अस्तित्व जनता की अंधभक्ति, दुर्बलता और मूर्खता पर निर्भर है, और वे कोई ऐसी बात नहीं कह सकते जिससे जनता उन्हीं अपने से भिन्न समझने लगे । मनुष्य के देवता भी मनुष्य ही होते हैं, चाहे उनके चार हाथ, पाँच सिर और तीन आँखें ही क्यों न हों । हमारी महासभा शर्माजी दिल में चाहे विधवा-विवाह को वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में आवश्यक समझें, पर जुबान से नहीं कह सकते, क्योंकि उन पर से जनता का विश्वास उठ जायेगा । जनता उन्हें अपने से पृथक समझने लगेगी । बदकिस्मती से हमारी अधिकांश नेताओं में यह दुर्बलता बद्धमूल हो गई है । ऐसे नेताओं से किसी कठिन अवसर पर भलाई की आशा नहीं की जा सकती ।''[63]

प्रेमचंद ने साहित्यकारों को सलाह दी थी कि वे जन-रुचि के प्रवाह में न बहकर नई जन रुचि का निर्माण करें । राजनीतिज्ञों के समान साहित्यकार भी जन-रुचि का वाहक नहीं, निर्माता होता है । '' लेखक को कभी यह न भूलना चाहिए कि वह जनता का पथगामी नहीं, बल्कि पथदर्शक है । वह सिखाता है, मनोरंजन करता है, चुटकियाँ लेता है, पर ये उसके लिए गौण बातें हैं, उसका मुख्य उद्देश्य और ही कुछ है ।''[64]

इसके अलावा एक टिप्पणी उन्होंने लिखी 'राष्ट्रीयता और धर्म'। इसमें उन्होंने राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का पोषक बता कर उसकी निंदा की । और भारतीय जनता की मुक्ति के लिए राष्ट्रीयता को आवश्यक बताया । प्रेमचंद ने जून 1927 की 'माधुरी' में फिर 'आगे या पीछे' शीर्षक टिप्पणी लिखी । इसमें उन्होंने आज के युग को स्वार्थप्रधान युग बताया और पुराने युग को उसे एकदम वंचित तो नहीं बताया '' पर प्राचीन काल में स्वार्थ-लिप्सा मनुष्य के लिये कलंक का विषय '' था । इस स्वार्थ-प्रधान युग के खिलाफ बराबर

संघर्ष होते रहे । ''असहयोग आंदोलन का राजनैतिक स्वरूप कुछ भी हो, उसका धार्मिक और सामाजिक स्वरूप अतीत के गौरव को जागृत करने वाला था ।''[65] इस टिप्पणी में प्रेमचंद ने समकालीन राजनीतिक जीवन के प्रति गहरी चिंता व्यक्त की है ।

इसके साथ ही एक और टिप्पणी लिखी — 'कलियुग का सबसे बड़ा पाप'। और यह पाप पराधीनता है । और प्रेमचंद ने इसका कारण नई सभ्यता, विज्ञान और औद्योगिकता को बताया है । यह चिंतन उनकी 'सभ्यता का रहस्य' कहानी के अनुरूप ही अनुभवपरक है । जिस तरह नई शक्तियों ने भारत को पराधीन बनाया, उसी तरह नए जमाने ने उन शक्तियों को भी पैदा किया, जो स्वाधीनता के लिए लड़ी और देश को आजाद कराया । नए जमाने के इस सबल पक्ष को प्रेमचंद भारत के संदर्भ में देख नहीं पाए थे । इस तरह प्रेमचंद ने कई स्फुट और मौलिक विचार 'माधुरी' के संपादकीय में व्यक्त किये ।

प्रेमचंद का लखनऊ प्रवास :

प्रेमचंद का लखनऊ प्रवास कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है । यहाँ पर उन्होंने साम्राज्यवादियों की साफ तस्वीर देखी, भारतीय नवाबों के जीवन को निकट से देखने - समझने का मौका मिला और हिन्दू - मुस्लिम तनाव को खुद महसूस किया । 'माधुरी' के संपादक बनकर प्रेमचंद समकालीन साहित्य-संसार से सीधे जुड़े । छायावादियों से उनका सम्पर्क बढ़ा और दुलमिलाकर वे अपने साहित्य को अन्य लोगों के साथ रखकर देख सके । 'सरस्वती' प्रेस में उन्हें बराबर घाटा ही रहा था, परन्तु स्थायी आमदनी होने के कारण जीवन में छोटी-मोटी परेशानियां नहीं आ रही थी । यहाँ पर शहरी शिक्षित समाज से उनका संपर्क बढ़ा और साथ ही गाँव से और अपढ़ किसानों से वास्तविक, दैनिक सम्पर्क कम हुआ । लखनऊ प्रवास प्रेमचंद को मध्यवर्ग का साहित्यकार बनाता है । मध्यवर्ग की कई भीतरी-बाहरी समस्याओं पर प्रेमचंद ने इस बीच काफी कहानियां लिखी ।

शिवरानी देवी ने उन दिनों के कुछ बहुत महत्वपूर्ण संस्मरण लिखे हैं । एक दिन (सन् 1928) लखनऊ में वायसराय आये थे, तब 40,000/- रुपये आतिशबाजी में खर्च किये गये । प्रेमचंद अपनी पत्नी व बेटे-बेटी के साथ देखने गये और वहाँ से जल्दी ही लौट आये और बोले ''..... अब सुनो आतिशबाजी की बात । जो रोशनी पर साल यहाँ आते हैं वे कुछ-न-कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब-जब वायसराय और युवराज यहाँ पधारें तो वह उनके स्वागत में खर्च हो । और जो रकम पड़ती है वह तुम्हारी यहाँ के काश्तकारों से वसूल किया जाता है । उन गरीबों के खून की कमाई, दुःख-त्रास की तरह आतिशबाजी में फूंक दी जाती है । जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत 0: पैसे रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है कि एक - एक शहर में 40-40 और 50-50 हजार रुपये आतिशबाजी में फूंक जाय ? '' [66] इस आतिशबाजी का रंज प्रेमचंद के दिमाग पर कई दिनों तक रहा ।''

इसी समय ब्रिटिश सरकार ने प्रेमचंद को 'रायसाहब' की उपाधि देने का प्रस्ताव किया था । इसे प्रेमचंद ने ठुकरा दिया । इसका कारण प्रेमचंद ने शिवरानी देवी को यह बताया था कि '' अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है । तब गवर्नमेंट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा ''। [67] यह सरकार, जिसने प्रेमचंद की पहली पुस्तक 'सोजेवतन' जब्त कर ली थी, अब प्रेमचंद को रायसाहबी से खरीदने का प्रयास कर रही थी । प्रेमचंद ने इस प्रस्ताव को ठुकराकर स्वाधीन लेखक के गौरव को ऊँचा उठाया है ।

यहीं रहकर 1929 में प्रेमचंद ने अपनी लड़की की शादी की । प्रेमचंद की रचनाओं और उनके जीवन के कुछ छोटे-मोटे अन्तर्विरोध इस प्रसंग में स्पष्ट होते हैं । प्रेमचंद ने अपने दोनों लड़कों को पढ़ाया - लिखाया, लेकिन अपनी बेटी को ठीक से नहीं पढ़ाया । उसके पीछे प्रेमचंद का यह विचार था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ गृहस्थी नहीं चला सकतीं । बाद में उनके व्यक्तित्व को भी प्रेमचंद आशंका की नजर से देखा करते थे । उस युग की देखते हुए

भी यह दकियानूसी विचार ही साबित होगा । विवाह संबंधी कई रूढ़ियों का पालन उन्होंने नहीं किया — मसलन कन्यादान ; लेकिन वैदिक रीति से पाणि-ग्रहण संस्कार करवाया गया । प्रेमचंद अपने साहित्य में वकीलों और जमींदारों की कड़ी आलोचना करते हैं — पर जब अपनी लड़की के लिए वर (वासुदेव प्रसाद) को खोजा, उसके घर में जमींदारी थी । यही नहीं जब उसने आगे पढ़ने के लिए पूछा तो प्रेमचंद ने सलाह दी कि कानून पढ़ो । उन्होंने अपनी पत्नी से कहा — '' हाँ, घर का वह मालगुजार है । सागर में वकालत करेगा । अपनी जमींदारी भी देखेगा नहीं तो चाहे जिसे जमींदारी में हानि होगी ।''[66] प्रेमचंद के जीवन की यह असंगति भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । उन्होंने रूढ़ियों को तोड़ा -- कन्यादान नहीं किया ; साथ ही उन्होंने लड़की दिखाने से इन्कार भी किया । उनमें ये दोनों चीजें साथ-साथ थीं ।

'कायाकल्प' से 'गबन' के बीच समय का काफी लंबा अन्तराल है । इस बीच उन्होंने अधिकतर कहानियाँ या वैचारिक गद्य ही लिखा है । सन् 1927 में प्रेमचंद ने दस अच्छी कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'सुजान भगत' (मई 1927), 'मिस पद्मा' (जुलाई 1927) मुख्य हैं । 'मन्दिर' कहानी में प्रेमचंद ने अछूतों के मंदिर-प्रवेश का वर्णन किया है और 'मंदिर' को सबकी समान सम्पत्ति बताया है । दुर्भाग्य पर यह संभवतः पहली कहानी है । प्रेमचंद ने इस पक्ष पर काफी बाद में ध्यान दिया है, नहीं तो 'रंगभूमि' में सूरदास के साथ यह भेद-भाव नहीं होता । 'कामना-तरु', 'स्त्री', 'एक्ट्रेस' आदि कहानियाँ अत्यंत साधारण हैं — किसी पूर्व निश्चित विचार को स्थापित करने के उदाहरण - रूप में ही इनका महत्व है ।

'सुजान भगत' में किसान के नये और पुराने रूप का द्वन्द्व है । इसमें प्रेमचंद की यह धारणा अनुस्यूत है कि नया जमाना स्वार्थ का जमाना है, नये लोग स्वार्थी हो हैं — पुराने लोग व जमाना परमार्थी है । सुजान भगत पुराना किसान है, जिसकी सहज प्रवृत्ति धार्मिक है । खेती अच्छी

रीति से दान-पुण्य और तीर्थ-यात्रा का क्रम शुरू हो जाता है । धीरे-धीरे घर बार के मालिक पद से हटते हैं और उनका लड़का मालिक बनता है । भगत को उसका एहसास ही नहीं होता । जबकि उसकी पत्नी यह तथ्य समझ जाती है । यह अजीब बात है कि प्रेमचंद के साहित्य में किसानों की पत्नियाँ अधिकतर यथार्थवादी होती हैं । धनिया के समान बुलाकी भी समझ गयी कि ''..... आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे वैसा काम करे । अब हमारा और तुम्हारा निर्वाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़के को अच्छा लगे । मैं यह बात समझ गयी, तुम क्यों नहीं समझ पाते ? जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है ।.. .... ''69

एक दिन बूढ़ा भगत एक भिखारी को अनाज देने लगता है कि उसका लड़का छीन लेता है । अधिकार - प्रेमी अहंकारी बूढ़ा भगत फुंफकार उठता है और दूसरे दिन से फिर काम करने लगता है । खलिहान में उसी भिक्षुक को मन भर अनाज देकर अपने गर्व की तुष्टि करता है । प्रेमचंद की सम्पूर्ण सहानुभूति इस बूढ़े, पुराने किसान सुजान भगत के साथ है ।

अगले वर्ष (1928) भी प्रेमचंद ने इसी तरह की कहानियाँ लिखीं, जिनमें दो एक चर्चित रहीं और शेष साधारण रहीं । 'मोटेराम शास्त्री' (जनवरी 1928) इसी तरह की एक कहानी है, जो हिंदी में बहुचर्चित रही है । '' जिसके संबंध में शायद हिंदी - साहित्य क्षेत्र का पहला मानहानि केस चला । यह कहानी प्रेमचंद की व्यंग्यात्मक कहानियों की शृंखला में थी । लखनऊ के एक वैद्य शालिगराम शास्त्री ने, कृष्ण बिहारी मिश्र तथा प्रेमचंद पर आई०पी०सी० की 500 तथा 109 धाराओं के अन्तर्गत हर्जाने - मानहानि का दावा दायर किया । उन गवाहों के नामों में 'सुधा' के सम्पादक दुलारेलाल भार्गव तथा रामनारायण पाण्डेय और गंगा पुस्तक माला कार्यालय के मातादीन शुक्ल थे । लखनऊ यूनिवर्सिटी

के बदरीनाथ भट्ट, बदरीनाथ शास्त्री तथा आशादत्त ठाकुर भी थे ।"[70] अप्रैल 1928 को पेसला हुआ, जिसमें कृष्णबिहारी मिश्र और प्रेमचंद बरी कर दिये गये । इसके अलावा अग्नि समाधि, पिसनहारी का कुआँ, दरोगाजी, अभिलाषा आदि साधारण कहानियाँ भी इसी वर्ष प्रकाशित हुईं ।

इसी वर्ष प्रेमचंद की 'दो सखियाँ' (मई 1928) कहानी छपी ; यह प्रेमचंद के चिंतन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है । 'दो सखियाँ' एक दूसरी को पत्र लिखती है — एक का नाम चंदा और दूसरी का पद्मा है । पद्मा आधुनिक है और चंदा परम्परागत विचारों की कहती है । दोनों के विचारों में मौलिक विरोध होते हुए भी उनमें अंतरंग मित्रता है । दोनों एक दूसरी को अपने सुख-दुःख सुनाती हैं और कहीं न कहीं सहानुभूति की आशा भी करती हैं । इस अर्थ में दोनों एक दूसरी पर आश्रित भी हैं । यह प्रेमचंद-काल का अन्तर्विरोधों से गूँथा हुआ भारतवर्ष है । एक प्रेम-विवाह करती है, दूसरी का परंपरागत विवाह होता है । इस कहानी में 'पुरुष' के चरित्र को अनदेखा छोड़ दिया गया है । किसी भी घटना या स्थिति के लिए दोनों सखियाँ 'पुरुष' के दखल की ओर इंगित नहीं करतीं । पद्मा आधुनिक और स्वाधीन है, पर प्रेमचंद ने उसे भीतर से कमजोर व्यक्तित्व वाली, विलासिनी और चंचल रूप में प्रस्तुत किया है । जबकि चंदा के व्यक्तित्व के नीचे परंपरा की सुदृढ़ जमीन है । पूरी कहानी में चंदा कहीं भी कमजोर नहीं पड़ती, वह हमेशा डाँटने और सलाह देने की ही स्थिति में रहती है । दोष-दर्शन आधुनिक पद्मा में ही हुआ है । परंपरागत चंदा तो मामूली कठिनाईयों के बावजूद सुखी है, उसे किसी की सलाह और सहायता की जरूरत नहीं होती । प्रेमचंद की सारी सहानुभूति चंदा के साथ है, उसकी चिंता, उसके तर्क लेखक की बातें और तर्क हैं । कहानी में पत्र-व्यवहार चलता रहता है और धीरे-धीरे पता चलता है कि आधुनिक पद्मा के भीतरी कोनों में भी कहीं परंपरागत नारी बैठी हुई है जो चाहती है कि "..... वह मेरे प्रबंध की आलोचना करें, ऐब निकालें । मैं चाहती हूँ, जब मैं बाजार से कोई चीज लाऊँ तो वह बतायें कि मैं ठग गयी या जीत आयी. मैं

चाहती हूं कि महीने के खर्च का बजट बनाते समय मेरे और उनके बीच में कुछ बरस हो, पर इन आरामों में से एक भी पूरा नहीं होता..... ।''[72]

प्रेमचंद परिवार के पाश्चात्य आदर्श के विरोधी थे और इस तरह वह पश्चिमी सभ्यता के विरोधी भी थे ।

1929 से प्रेमचंद के साहित्य में एक बार फिर नवीनता के अंकुर दिखाई देने लगते हैं । इस वर्ष प्रेमचंद ने मध्यवर्ग की समस्याओं से किनारा करना शुरू किया और फिर विशाल किसान जीवन की ओर आये । लेकिन इस बार उन्होंने जो कहानियां लिखीं, वे 'प्रेमाश्रम' की परंपरा की नहीं थीं, बल्कि उन्होंने 'बड़े घर की बेटी' की भूली-बिसरी परंपरा को आगे बढ़ाया । 'अलग्योझा' (अक्टूबर), धारजमाई (नवम्बर), धोखा (दिसम्बर) आदि कहानियों में किसान जीवन के कुछ नये क्षितिज सामने आये, जिसे अब तक प्रेमचंद ने अनदेखा छोड़ दिया था । हालांकि संयुक्त परिवार के विघटन से प्रेमचंद पहले भी परेशान थे — और आगे भी रहे, पर इस समस्या को अब तक उन्होंने मध्यवर्गीय परिवारों में ही देखा था । अब उसी समस्या को उन्होंने किसानों में भी देखा । इन कहानियों में प्रेमचंद ने किसान जीवन के नये धरातल सामने रखे हैं और एक तरह से शिक्षित मध्यवर्ग को किसान जीवन से परिचय करवाते हैं ।

निष्कर्ष :

'हिन्दी का उपन्यास साहित्य' पर विचार करते हुए जुलाई 1932 की 'सरस्वती' में श्री केसरी किशोर शरण ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं । समकालीन 'साहित्यिक शिथिलता' की जांच पड़ताल करते हुए उन्होंने लिखा कि '' इस शिथिलता का सबसे बड़ा कारण है साहित्य-क्षेत्र में दो असाधारण व्यक्तियों का अवतरण । एक श्री सुमित्रानंदन पंत जी और दूसरे श्री प्रेमचंद जी । दोनों ही व्यक्ति इस युग की भावना से, उसकी विचारधारा से, बहुत आगे हैं । उनका समय कम से कम आज से पचास

वर्ष बाद होना चाहिए था ।''[72] पंत और प्रेमचंद का यह आगमन हिंदी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद के सह आगमन का सूचक है । वास्तव में कविता में छायावादियों को जो संघर्ष करने पड़े थे, गद्य में भिन्न संघर्ष होते हुए भी प्रेमचंद उन्हीं के ज्यादा करीब मालूम पड़ते हैं । युग की दो भिन्न रुचियाँ भिन्न प्रतीत होती हुई भी अभिन्न हैं । प्रेमचंद को साहित्यिक प्रतिष्ठा 'रंगभूमि' से ही मिल गई, उसके बाद प्रेमचंद को भी जबर्दस्त साहित्यिक विरोध का सामना करना पड़ा । अवध उपाध्याय और अन्य ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने प्रेमचंद की निंदा की और उनके कलात्मक विकास को कलात्मक ह्रास के रूप में देखा । सन् '30 के बाद प्रेमचंद व्यवस्थित रूप से साहित्य में जम पाये । इसी तरह सन् '20 से '30 तक छायावादियों के बड़े संघर्ष के दिन थे । इसके बाद ही छायावादियों को साहित्य में गंभीरता से लिया जाने लगा ।

राजनीतिक आकाश में भी सन् '30 एक महत्वपूर्ण वर्ष है । लगभग आठ वर्षों की राजनीतिक शिथिलता और नैराश्य के बाद 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने लाहौर में 'पूर्ण स्वराज्य' की मांग की, और नये संघर्ष का आह्वान किया । हिन्दू - मुस्लिम दंगों, शुद्धि और कुर्बानी की विवादों के बोझ से एक बार तो सन् '30 में ही भारतीय मनीषा मुक्त हुई ।

प्रेमचंद असहयोग आन्दोलन से ही पूर्ण स्वराज्य के पक्षी थे, उनके लिए स्वराज्य का अर्थ और प्रकृति स्पष्ट थी । स्वराज्य का प्रेमचंद के लिए अर्थ था — विशाल किसान जनता के लिए स्वराज्य । इसीलिए प्रेमचंद कांग्रेस से हमेशा बहस की मुद्रा में ही मिलते रहे । अपने साहित्य के उद्देश्य के संबंध में भी वे बहुत साफ थे । 3 सितम्बर 1929 को देशीराम सच्चरवाल को पत्र लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा :

'' इधर हाल में मेरी जो कहानियाँ 'माधुरी' और 'विशाल भारत' में छपी हैं उनमें से कोई आपको पसंद आयी ? हो सकता है, कि आपको उनकी सोद्देश्यता न जची हो, मगर हिन्दुस्तान कला के सर्वोच्च शिखरों पर नहीं पहुँच सकता जब तक कि वह विदेशी दासता के जुए से नहीं

जाए रण है । यही एक पराधीन देश का साहित्य एक स्वाधीन देश के साहित्य से अलग दिखाई देने लगता है । हमारी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां हमें विवश करती हैं कि जहाँ भी हमें अवसर मिले, हम लोगों को शिक्षा दें । भावना जितनी ही प्रबल होती है, कृति उतनी ही शिक्षाप्रद हो जाती है ।''[73]

इसी तरह उन्होंने 31 अगस्त 1928 को देशराम सच्चिदानंद को पत्र लिखा, इसमें उन्होंने लिखा :

'' हिन्दुस्तान का साहित्यिक जीवन बड़ा पैसला तोड़ने वाला है । जनता का कोई सदुपयोग नहीं मिलता । आप चाहे अपना दिल ही निकाल कर रख दें, मगर आपको पाठक नहीं मिलते । शायद ही मेरी किसी किताब का तीसरा संस्करण हुआ हो । कुछ तो अभी पहले ही संस्करण में हैं । दूसरे हमारे किसान गरीब हैं और अशिक्षित हैं और बुद्धिजीवी यूरोपीय साहित्य पढ़ते हैं । घटिया साहित्य की बिक्री बहुत अच्छी है । मगर न जाने क्या बात है कि मेरी किताबें तारीफ तो बहुत पाती हैं, मगर बिकती नहीं ।.... ....''[74]

इस तरह प्रेमचंद का साहित्य शिक्षित जनता के लिए किसानों के बारे में लिखा गया साहित्य है । उनके साहित्य में यह एक आन्तरिक द्वन्द्व है । यही द्वन्द्व उनकी रचना-प्रक्रिया को गति देता है और उसे नियमित भी करता है । उसे अपने गाँव की कहानी पढ़े-लिखे — देहात से अनभिज्ञ पाठक को सुनानी है । इसमें एक तरफ तो यह ध्यान रखा जाता है कि इस पाठक के मानस पर गाँव का नक्शा उतर आये, जो न इतना अपरिचित ही हो कि पाठक उसे तादात्म्य ही न कर पाये और न इतना परिचित ही हो कि शहरी जीवन से अलग उसकी पहचान ही न बन पाये । साथ ही यह नक्शा गाँव के यथार्थ के — गतिशील यथार्थ के करीब हो । इसमें भी एक भाषिक समस्या उत्पन्न होती है । प्रेमचंद को उन किसानों की शब्दों में, भाषा में बाँधना है — जो शिक्षित नहीं हैं । अपढ़ जनता की भाषा को पठनीय

बनाना और उसके मूल भाव को बनाए रखना — यह प्रेमचंद के रचनाकार मानस की दूसरी बड़ी समस्या है । इस कारण प्रेमचंद गाँव की, किसानों की प्रतिनिधि परिस्थितियाँ और प्रतिनिधि चरित्र चुनते हैं । इस प्रकार प्रेमचंद के सामने तीसरी समस्या आती है — स्वाधीनता आन्दोलन । उन्हें पूर्वोक्त समस्याओं से जूझते हुए ग्राम्य जीवन को इस तरह से प्रस्तुत करना है, जिससे स्वाधीनता आन्दोलन को बल मिले । रचनात्मक स्तर पर इन तीनों समस्याओं का सामना प्रेमचंद ने इस दौर में किया है और इस निराशा के व्यापक दौर में आशावादी जीवंत साहित्य रचा है । इस दौर के साहित्य में प्रेमचंद ने दो मुख्य काम किये हैं — एक तो किसान के महत्व को प्रतिष्ठित किया है और दूसरे किसान को अन्य वर्गों के संबंध में उपस्थित किया है । इस तरह किसान का वर्णन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण समाज का वर्णन किया है ।

—

टिप्पणियाँ

1- 'स्वदेश' प्रकाशक (वसंत पंचमी 1975 वि0) में 'स्वदेश का संदेश' शीर्षक टिप्पणी । 'विविध प्रसंग' भाग 2, पृ0 21, संकलन और स्वतंत्र, अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

2- वही, पृ0 22

3- '' 'प्रेमाश्रम' (गोशए आफ़ियत) लिखा पहले उर्दू में गया, छपा पहले हिन्दी में । मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल 2 मई 1918 से 25 फरवरी 1920 तक है, जो कि पाण्डुलिपि पर ही अंकित है । प्रकाशन 1921 के पूर्वार्द्ध में हुआ । लेखक ने शुरू में उसके दो नाम सोचे थे — 'नाकाम' और 'नेकनाम' ।'' 'कलम का सिपाही', पृ0 654

4- चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ0 93

5- मानसरोवर भाग 6, पृ0 140, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1970

6- वही, पृ0 142

7- 'मानसरोवर' भाग 6, पृ0 27-28, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1970

8- वही, पृ0 29-30

9- 'गांधी जी और स्वाधीनता आन्दोलन', पृ0 18, ले0 पं0 जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1973

10- 'आज का भारत', पृ0 348, ले0 रजनी पामदत्त, अनुवादक-आनंद स्वरूप वर्मा, मैकमिलन कंपनी आफ़ इंडिया, नई दिल्ली, 1977

11- 'आज का भारत' से उद्धृत, पृ0 346

12- 'प्रेमचंद घर में', पृ0 41

13- 'प्रेमचंद घर में', पृ0 45

14- 'मर्यादा', जून 1917 ई0, पृ0 246

15- ''..... मैं यदि उनकी दशा को एक शब्द में 'परमात्मा का कोप' अथवा 'धनवानों का अन्याय' कहूँ तो अनुचित न होगा । बेचारी के पास केवल एक सुपाँ, एक दाती, एक गँडासी, एक बसी और एक खादी की चादर के सिवा दूसरी वस्तु खेत की संपत्ति (Fixed Capital) के रूप में नहीं है । वे हल, बैल तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ अपने धनी किसान भाइयों से अथवा जमींदारों से माँग लेते हैं । धन्य है भारत के प्राचीन जीवन को, जिसने इतना भातृ-भाव अभी तक इन गरीब किसानों के भीतर रहने दिया ।'' ''कृषक भारत'', लेo व्यदेव गुप्त 'माधुरी', 23 अप्रैल 1923, वर्ष 1, खंड 2, संख्या 4, पृ0381

16- 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण', पृ0 360, लेo डा0 रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977

17- 'सरस्वती', भाग 23, खण्ड 2, संख्या 4, पृ0 198

18- वही, पृ0 201

19- 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ0 47-48, लेo डा0 रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967

20- 'प्रभा', वर्ष 3, खण्ड 2, संख्या 1, 1 जुलाई 1922, पृ056 में कारागार प्रवासी श्रीयुत रघुपति सहाय का लेख -'प्रेमाश्रम' ।

21- 'प्रेमाश्रम' , पृ0 52, ऐस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963

22- वही, पृ0 57

23- वही, पृ0 73

24- वही, पृ0 87

25- 'संग्राम', पृ0 145, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

26- 'हिन्दुस्तान की कहानी', पृ0 486-489

27- '' इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया । अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान की जो इच्छा होती है वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता ।''

28- 'कलम का मजदूर प्रेमचंद', पृ० 127, ले० मदन गोपाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

29- 'परिमल', पृ० 8, ले० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978

30- मानसरोवर, भाग 6, पृ० 202

31- वही, पृ० 207

32- वही, पृ० 221

33- मानसरोवर, भाग 8, पृ० 219

34- वही, पृ० 225

35- विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 27-28

36- 12 फरवरी 1922 को बारदोली में कांग्रेस कार्यसमिति ने जो प्रस्ताव पास किये, वे दृष्टव्य हैं । '' परिच्छेद 6: कार्यसमिति कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और संगठनों को सलाह देती है कि वे रैयत (किसानों) को यह सूचित कर दें कि जमींदारों को लगान न देना कांग्रेस के प्रस्तावों और देश के हितों के खिलाफ है ।

परिच्छेद 7: : कार्यसमिति जमींदारों को इस बात का आश्वासन देती है कि कांग्रेस के आंदोलन का उद्देश्य किसी भी रूप में उनके कानूनी अधिकारों पर चोट पहुँचाना नहीं है और जहाँ किसानों को किसी तरह की शिकायत है वहाँ कार्यसमिति यही चाहेगी कि आपसी सलाह मशविरे से और समझौता वार्ता से मामले को निपटा लिया जाए ।''

'आज का भारत' से उद्धृत, पृ० 361

37- 'विविध प्रसंग' भाग 2, पृ0 33

38- 'कलम का मजदूर प्रेमचंद', पृ0 157

39- 'रंगभूमि', पृ0 7, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976

40- 'रंगभूमि', पृ036

41- वही, पृ0 233-234

42- '' ये मिस्टर जान सेवक । वह निराशामय धैर्य के साथ प्रातः काल से सन्ध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं । उन्हें इस संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है, धन से उन्हें निःस्वार्थ प्रेम है, कुछ वही अनुराग, जो मनुष्य को अपने उपास्य से होता है । धन उनके लिए किसी साध्य का साधन नहीं है, स्वयं साध्य है । न दिन समझते हैं न रात । बाजार दिन-दिन चढ़ता जाता है । लाभ दिन-दिन बढ़ता जाता है या नहीं, इसमें सन्देह है ।'' 'रंगभूमि', पृ0 580

43- 'प्रेमचंद : जीवन, कला, कृतित्व', पृ0 193

44- 'रंगभूमि', पृ0 88

45- वही, पृ0 558

46- वही, पृ0 231

47- वही, पृ0 421

48- '' राजा साहब और प्राउन दोनों जैसे – से खड़े थे । उनकी आँखों के सामने एक ऐसी घटना हो रही थी, जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी, जो परंपरा के विरुद्ध, मानव प्रकृति के विरुद्ध, नीति के विरुद्ध थी ।'' 'रंगभूमि', पृ0513

49- मानसरोवर, भाग 3, पृ0 108, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

50- 'विविध प्रसंग', भाग2, पृ0 352, प्रेमचंद ने इसी लेख में बहुत निराशा के साथ लिखा है — '' कितने शर्म की बात है कि जिस एकता को महात्मा गांधी ने स्वराज्य की पहली सीढ़ी करार दिया है उसके लिए एक प्रभावशाली हिन्दू बुजुर्ग पूरी तरह तैयार नहीं है। अगर यही रफ्तार है तो स्वराज्य मिल चुका, और अगर एलबर्ट की दुकान पर कदि का फतिहा पढ़ा जाना मुमकिन है तो हमें स्वराज्य के नाम पर फतिहा पढ़ लेना चाहिए।'', पृ0 357

51- 'आज का भारत' से उद्धृत, पृ0 358

52- समालोचक, जनवरी 1925 'उपन्यास' शीर्षक लेख 'विविध प्रसंग', भाग 3, पृ0 38, संकलन और सम्पादन , अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

53- '''निर्मला' नवम्बर 1925 से नवम्बर 1926 तक चाँद में क्रमशः प्रकाशित।'' 'कलम का सिपाही', पृ0 655

54- 'निर्मला', पृ0 34, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1975

55- वही, पृ0 86

56- वही, पृ0 153

57- '' 'कायाकल्प' (पहले मजाज) मूल पाण्डुलिपि हिंदी में। उसको देखने से पता चलता है कि आरंभ में पुस्तक के तीन नाम रखे गये थे — असाध्य साधना, माया स्वप्न, आर्तनाद। इसका लेखन 10 अप्रैल 1924 को शुरू हुआ। यह तिथि पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर ही अंकित है। प्रकाशन 1926 में हुआ।'' 'कलम का सिपाही', पृ0 655

58- 'कायाकल्प', पृ0 21, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

59- वही, पृ0 240

60- वही, पृ0 165

61- '' 'प्रतिज्ञा' (हिंदी) जनवरी 1927 से नवम्बर 1927 तक चादि में क्रमशः प्रकाशित । 'प्रेमा' के ही कथानक को लेखक ने फिर से उठाया, पर कथा के विकास में महत्वपूर्ण अन्तर आ गया ।'' 'कलम का सिपाही', पृ० 655

62- 'माधुरी' वर्ष 5, खंड 2, संख्या 3, 8 अप्रैल 1927, पृ० 418 की टिप्पणी में उन्होंने लिखा है कि '' हमारा तो यही कहना है कि किसान ने बलशाली राष्ट्रों को और भी स्वावलम्बि बना दिया है, क्योंकि अब उन्हें किसी ओर से भी किसी बात का संशय न रहा । पूर्वकाल में राजा की शक्ति सीमाबद्ध होती थी, वह कोई अन्याय करने के पहले यह सोचने पर विवश होता था कि प्रजा की ओर से उसका क्या प्रतिकार होगा और बहुधा उसके अन्याय का फल क्रांति का रूप धारण किया करता था । आज शासकों को कोई भय नहीं है, वे अजेय हैं । किसान ने उन्हें प्रजा की संघ-शक्ति की ओर से निर्द्वन्द्व बना दिया है ।''

63- 'माधुरी' वर्ष 5, खंड 2, संख्या 4, 8 मई, 1927, पृ० 565-566

64- 'माधुरी' वर्ष 5, खंड 2, संख्या 6, 6 जुलाई 1927,

65- 'माधुरी' वर्ष 5, खंड 2, संख्या 5, पृ० 706

66- 'प्रेमचंद घर में', पृ० 109

67- वही, पृ० 118

68- वही, पृ० 105

69- मानसरोवर, भाग 5, पृ० 189-190, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

70- 'कलम का मजदूर प्रेमचंद', पृ० 185

71- मानसरोवर, भाग 4, पृ० 224

72- 'सरस्वती' भाग 33, खंड 2, संख्या 1, पृ० 14

73- चिट्ठी पत्री, भाग 2, पृ० 207, संकलन-सम्पादन -अमृतराय और मदन गोपाल, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

74- वही, पृ० 205-206

तीसरा अध्याय

चिन्तन की परिपक्वता और स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की भूमिका

(1930 -1936 ई0)

प्रेमचंद के चिंतन का सर्जनात्मक महत्त्व :

कई कारणों से 1930 का वर्ष भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और प्रेमचंद के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास में इस वर्ष एक नया, निर्णायक मोड़ आता है। 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' का पहली बार नारा दिया। इसी दिन कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने को समाजवादी और जनवादी घोषित किया। 26 जनवरी 1930 के दिन कांग्रेस ने देशभर में 'स्वाधीनता - दिवस' मनाया। इस अवसर पर सारे देश में व्यापक प्रदर्शन किये गये, जुलूस के नारों से आसमान गूंजा दिया गया। कांग्रेस में समाजवादी विचारों के लोगों की संख्या और शक्ति बढ़ने लगी। हिंदी साहित्य में भी वामपंथी प्रवृत्तियां प्रकट होने लगीं। साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों की 'स्वाधीनता' की भावना को राजनैतिक आधार मिला। भारत की गरीब जनता — विशेषतः किसानों और मजदूरों की राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी बढ़ने लगी। जनता में उत्पन्न हुई वास्तविक जागृति से ज्यादा तो बुद्धिजीवियों ने आगे बढ़कर उत्साह दिखाया और बुद्धिजीवियों ने अपने उत्साह को जनता में प्रतिबिंबित देखा। इससे साहित्य में स्वीकृतवादी — आदर्शवादी प्रवृत्तियां भी बढ़ीं। राष्ट्रीयता की इस लहर ने साम्प्रदायिकता की भावना को दबा दिया। प्रेमचंद में भी उत्साह आया और उन्होंने मार्च 1930 से 'हंस' नामक मासिक पत्र निकालना शुरू किया। इसका उद्देश्य था —स्वाधीनता

आन्दोलन में सहयोग । वास्तव में इस आन्दोलन ने प्रेमचंद की भंगुरता और निराशा को तोड़ा तथा उनके साहित्य में तेजस्विता की धारा बही ।

प्रेमचंद अपने सर्जनात्मक साहित्य में भी अपने विचारों का प्रचार करते रहे हैं । उनकी रचनाओं का उद्देश्य प्रजातांत्रिक भारत की स्थापना करना रहा है । इसलिए उन्होंने एक तरफ साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष किया है, दूसरी तरफ सामंतवादी सामाजिक परंपराओं पर भी चोट की है । कई बार प्रेमचंद ने किसी एक का सहारा लेकर भी दूसरे का विरोध कर देते हैं । लेकिन आम तौर से उनमें यह सजगता देखने को मिलती है कि सामंतवाद का विरोध करते-करते वे साम्राज्यवाद के पक्षधर न बन जायं या साम्राज्यवाद का विरोध करते-करते सामंती शक्तियों को भूल न जायं । उन्होंने इन दोनों प्रतिक्रियावादी शक्तियों की आन्तरिक एकता को पहचाना और दोनों के खिलाफ साथ-साथ संघर्ष किया । इसके अलावा देश में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न रूपों के प्रति भी पर्याप्त सजग रहे । राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक कार्यकर्त्ता से — चाहे वह गांधी और नेहरू ही क्यों न हों — उन्हें छुट्टा में ही मिलते रहे हैं । प्रेमचंद ने गांधी-युग में रहकर भी — गांधी जी का समर्थन करते हुए भी — अपनी बुद्धि को अपने पास रखा और उसका उपयोग भी करते रहे । युग के अन्य गांधीवादी साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों से वे इसी अर्थ में भिन्न थे कि जहां अन्य लोगों ने चिंतन करना ही बन्द कर दिया वहीं प्रेमचंद एकनिष्ठ सजग चिंतक बने रहे । इसके साथ यह भी सत्य है कि उस युग के अधिकांश बड़े साहित्यकार गांधी विरोधी रहे हैं ।

प्रेमचंद अपने साहित्यिक - जीवन की शुरुआत के समय से ही वैचारिक गद्य भी लिखते रहे हैं । समय और संघर्ष से उनमें वैचारिक प्रौढ़ता और विचार-पटुलता आई । इस वैचारिक दबाव के कारण ही प्रेमचंद के मन में एक मासिक पत्र निकालने की आकांक्षा पैदा हुई, जिसमें वे खुलकर अपने विचारों को अपने तरीके से प्रचारित कर सकें । बहुत दिनों तक तो प्रेमचंद

सर्जनात्मक साहित्य में ही विचारों का प्रचार करके और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में टिप्पणियाँ लिखकर इस जरूरत को टालते रहे । अंत में जब उनके विचार इतने विविध और मौलिक रूप से जन्म लेने लगे ; जब अन्य पत्र-पत्रिकाओं की नीतियों से उनका वैचारिक विरोध स्पष्ट होता गया ; जब सर्जनात्मक साहित्य भी इस वैचारिक दबाव को वहन करने में असमर्थ दीख पड़ने लगा, तब प्रेमचंद ने 'हंस' नामक मासिक पत्र निकालना शुरू किया । कुछ दिनों बाद कुछ वर्षों के लिए 'जागरण' साप्ताहिक भी निकाला । इन पत्रों में प्रकाशित टिप्पणियों और लेखों में प्रेमचंद समकालीन बुद्धिजीवियों से बहस करते हुए प्रतीत होते हैं । वे 'हंस' के पाठकों को स्वाधीनता - आन्दोलन का हिस्सेदार बनाना चाहते थे । देश-विदेश की वास्तविक परिस्थितियों से अवगत कराकर वे पाठकों के बोध पट को समृद्ध करना चाहते थे । अतः इन पत्रों का उद्देश्य पाठकीय चेतना को विकसित करना रहा है ।

'हंस' मुख्यतः साहित्यिक पत्रिका थी - फिर भी वक्त के तकाजों के मुताबिक उसमें राजनैतिक विषयों की चर्चा ही अधिक होती थी । इस विपुल सामग्री से प्रेमचंद की सामयिक सजगता ही प्रकट नहीं होती, बल्कि एक गंभीर समाजविद् चिंतक की तस्वीर भी उभरती है । अपने काल की घटनाओं का ऐसा 'मर्मी आलोचक' निराला के सिवा हिंदी का कोई दूसरा साहित्यकार नहीं था । इस विचार - प्रधान साहित्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव उनके सर्जनात्मक साहित्य पर भी पड़ा है । इसके कारण इस दौर के सर्जनात्मक साहित्य में 'प्रचार पक्ष' पृष्ठभूमि में चला गया है । फलतः इस कलात्मकता के पीछे प्रेमचंद का कलात्मक संयम भी है, जो कलात्मक अनुभव से आया है, पर इन टिप्पणियों का भी गहरा दाय है । गबन, गोदान, पूस की रात, दो बैलों की कथा, और कफन जैसी कलात्मक रचनाओं के पीछे 'हंस' और 'जागरण' की जुझारू पत्रकारिता रही है । वैसे भी आधुनिक हिंदी

साहित्य के बड़े साहित्यकार किसी न किसी रूप में पत्रकारिता से भी जुड़े रहे हैं । प्रेमचंद उसी साहित्य-परंपरा की अगली विकसित कड़ी हैं, जिसका सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया है ।

स्वाधीनता आन्दोलन की रूपरेखा :

बढ़ते हुए जन असंतोष और साम्राज्यवादी शोषण और अत्याचार के कारण राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का विकास हुआ । यूं तो 1927 से ही भारत में राजनैतिक चेतना बढ़ने लगी थी और कांग्रेस में वामपंथी लोगों की शक्ति बढ़ने लगी थी, पर 1930 से व्यवस्थित और व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है । इस आन्दोलन में असहयोग दौर के मुकाबले युवकों ने ज्यादा भाग लिया । अगस्त 1928 में पहली अखिल बंगाल छात्र कान्फ्रेंस हुई, जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की । रूस की क्रांति के बाद भारत में भी अलग-अलग ग्रुप कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार करने लग गये थे । 1924 में कानपुर षड्यन्त्र केस में सरकार ने मुजफ्फर अहमद और अन्य दो कम्युनिस्ट प्रचार के आरोप में गिरफ्तार कर लिया । 1925 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनी । इसने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में किसानों और मजदूरों के महत्व पर प्रकाश डाला और गांधी तथा कांग्रेस के आन्दोलन की सारगर्भित आलोचनाएं प्रस्तुत कीं । इनका प्रभाव भी बौद्धिक जगत में महसूस किया जाने लगा था । 1928-29 से ही किसानों के कई जगह लगान-बन्दी आन्दोलन हुए और मजदूरों ने हड़तालें की । इन हड़तालों की सफलता से बुद्धिजीवियों और राष्ट्रीय नेताओं के मन में एक नयी शक्ति का एहसास हुआ- कुछ लोगों ने मजदूरों की इस बढ़ती हुई शक्ति को चिंतित आंखों से देखा — उनमें गांधी जी भी थे । इसके अलावा आतंकवादियों की गतिविधियां भी राष्ट्रीय नेताओं और सरकार – दोनों के लिए चिंता का कारण बनी हुई थी । दिसंबर 1924 में अखिल भारतीय 'हिन्दुस्तान रिपब्लिक एसोसिएशन' का सम्मेलन हुआ । सरकार ने काकोरी षड्यंत्र (1925) में कुछ लोगों को

गिरफ्तार किया । 17 व्यक्तियों को लम्बी सजाएं, चार व्यक्तियों को उम्र कैद और रामप्रसाद बिस्मिल और अशफाक उल्ला सहित चार व्यक्तियों को फांसी दे दी गई । इस की ध्वनि का इन लोगों पर भी असर पड़ा और चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में इस संगठन ने अपना नाम बदलकर 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' कर लिया । इन लोगों ने कई पुलिस अफसरों व राज्य कर्मचारियों की हत्यायें की । 8 अप्रैल 1929 को भगतसिंह और बी०के० दत्त ने सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली में बम फेंका । बम का उद्देश्य था -- अपने विचारों का प्रचार । इन दोनों ने अपनी गिरफ्तारी दी और 23 मार्च 1931 को उन्हें फांसी दे दी गई । सुखदेव और राजगुरु को भी इसी दिन फांसी हुई । फरवरी 1931 को चन्द्रशेखर आजाद प्रयाग पब्लिक पार्क में पुलिस - मुठभेड़ में मारे गये । इनके अलावा कई अन्य क्रांतिकारियों को गिरफ्तार किया गया और उन्हें कैद और फांसी की सजाएं दी गईं ।[1]

गांधीजी ने इन गतिविधियों को चिंतित आंखों से देखा । 2 मार्च 1930 को गांधीजी ने वायसराय को पत्र लिखकर सूचित किया कि "हिंसा में विश्वास करने वाले दल ताकतवर हो रहे हैं और उनका असर मरहूम होने लगा है ।..... ब्रिटिश सरकार की संगठित हिंसा के साथ ही हिंसा में विश्वास करने वाले दलों की असंगठित हिंसा के विरुद्ध भी मैं अपनी अहिंसा की शक्ति को क्रियाशील बनाना चाहता हूं ।"[2] प्रेमचंद गांधीजी के मार्ग को ठीक और व्यावहारिक समझते थे — इन आतंकवादियों की ईमानदारी और साहस की प्रशंसा करते हुए भी वे इनके कार्यों को अव्यावहारिकता और अदूरदर्शिता का प्रमाण मानते थे । इसलिए 'हंस' और 'जागरण' की टिप्पणियों में प्रेमचंद ने भी इनकी आलोचना की है । इनके कारण जो प्रेस आर्डिनेंस और दूसरे बिल पास हुए — उससे भी प्रेमचंद को परेशानी हुई और प्रेमचंद ने बार-बार इनकी सप्रमाण, आत्मीय आलोचनाएं की ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में फिर से नया जीवन आया और गांधीजी 1928 से फिर कांग्रेस के सर्वेसर्वा हो गए । परन्तु इस बार कांग्रेस में यह नया जीवन गांधीजी से नहीं आया बल्कि उस समय के युवकों के नेता

जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस से आया । 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने जब पूर्ण स्वराज्य का नारा दिया, तब कांग्रेस के सभापति पं0जवाहर लाल नेहरू थे । फरवरी 1930 में साबरमती में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई । कमेटी ने गांधीजी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के नेतृत्व और संचालन का भार सौंपा । 7 अप्रैल को गांधीजी ने दांडी में नमक कानून तोड़ा और 9 अप्रैल को घोषित किया कि " हर गांव में गैर कानूनी तौर पर नमक बनाया जाए या लाया जाए, वहाँ शराब की दुकानों, अफीम के अड्डों और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर पिकेटिंग करें । बूढ़े और जवान चरखा चलें । ..... विदेशी कपड़े जला दिए जाएं । हिन्दू छुआछूत छोड़ दें..... विद्यार्थी सरकारी स्कूल - कॉलेज छोड़ दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरियों से इस्तीफा दे दें ।..... तब हम देखेंगे कि पूर्ण स्वराज्य हमारा दरवाजा खटखटाता है ।"[3] इस घोषणा का आम जनता पर वही असर हुआ जो असहयोग आन्दोलन का हुआ था — बल्कि कई मामलों में इसका प्रभाव ज्यादा विशाल था ।

देश में नये सिरे से स्वराज्य की लहर उठी । अप्रैल में कुछ क्रांतिकारियों ने चटगांव में पुलिस शस्त्रागार को लूटा । कई जगहों पर पुलिस व जनता के बीच मुठभेड़ें हुईं । शोलापुर और पेशावर में व्यापक जन प्रदर्शन हुए । जगह-जगह नमक कानून को तोड़ा गया । उधर सरकारी दमन तेज हुआ । 5 मई को गांधी जी गिरफ्तार हुए । इससे जनआक्रोश और बढ़ा फलतः जून 1930 में सरकार ने कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिया और जुलाई के अंत तक प्रेस आर्डिनेंस लागू कर दिया । 'एस' और सरस्वती प्रेस से भी जमानत मांगी गयी । जून 1930 के 'एस' के संपादकीय 'डंडा' शीर्षक टिप्पणी में तत्कालीन स्वाधीनता आन्दोलन की झांकी प्रस्तुत की गई है ।[4] जनवरी 1931 को गांधी और अन्य कांग्रेस नेता छोड़ दिये गये और मार्च 1931 को गांधी - इर्विन समझौता हुआ, जिसके

अनुसार सरकार दमन रोक देगी और हिंसक कार्यों के लिए जिम्मेदार लोगों के अलावा शेष सभी राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर देगी । बदले में गांधीजी गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो गये । गांधीजी के सविनय अवज्ञा का असर पुलिस और फौज पर भी पड़ने लगा । पेशावर में गढ़वाली सिपाहियों ने निहत्थी जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया । इस जुर्म में सरकार ने 17 आदमियों का कोर्ट मार्शल किया और लम्बी सजाएं दीं । गांधी - इर्विन समझौते में इन सिपाहियों की रिहाई नहीं हुई थी । दूरदर्शी रचनाकार प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' (1925) उपन्यास में भव्य सज-धज के साथ इस दृश्य को उपस्थित किया था और सिपाहियों के नैतिक बल की दाद दी थी । विचित्र बात है कि गांधीजी ने गढ़वाली सिपाहियों की 'अहिंसा' का समर्थन नहीं किया ।[5] गांधी जी सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन गये और दिसम्बर 1931 में वापस आये ।

'' जिन कुछ महीनों गांधी जी बाहर रहे, वे व्यापक किसान असंतोष के महीने थे । कृषि - संकट के कारण खेती की उपज की कीमतों में जो भारी कमी हुई उसके कारण भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति पतली हुई थी । यहां का कृषि संकट उस विश्वव्यापी आर्थिक संकट का ही भाग था जो 1929 में शुरू हुआ , और अभी चल ही रहा था । 1931 के उत्तरार्द्ध में युक्त प्रान्त, गुजरात और बर्मा के कुछ इलाकों में कुछ किसानों ने लगान और मालगुजारी देने से इन्कार कर दिया था । सरकार का आरोप था कि कांग्रेस किसानों को उकसा रही है और इस तरह गांधी - इर्विन एकरारनामे की शर्तों को तोड़ रही थी । दूसरी ओर कांग्रेस का कहना था कि एकरारनामे के बावजूद सरकार ने दमन की नीति का परित्याग नहीं किया था ।''[6] गांधीजी ने किसानों से 50 प्रतिशत लगान दे देने की अपील की परन्तु उसका भी कोई असर नहीं हुआ ।

दिसम्बर 1931 को भारत आकर गांधीजी ने यहाँ की निराशाजनक परिस्थितियों को देखा और वायसराय से मिलने की अनुमति माँगी, तो नहीं मिली। अंत में गांधी ने फिर आन्दोलन करने का विचार किया। 4 जनवरी 1932 को गांधी जी और अन्य कांग्रेस नेता फिर गिरफ्तार कर लिए गये। कांग्रेस फिर अवैध संस्था घोषित कर दी गयी। कई नए कानून व आर्डिनेंस जारी किये गये। इस बार सरकार ने कांग्रेस को ध्वस्त कर देने की ठानी और पिछले दो वर्षों से ज्यादा तेज दमन किया। 1930-31 में कांग्रेस आक्रामक की मुद्रा में थी और अब उसे रक्षात्मक लड़ाई लड़नी पड़ रही थी। जुलाई 1932 को पृथक निर्वाचन की घोषणा हुई, गांधी जी ने इसके खिलाफ अनशन किया। जेल में रहते हुए ही गांधी जी ने मई 1933 में फिर अनशन किया — इसका उद्देश्य था, हरिजन उद्धार। इसका व्यावहारिक परिणाम यह निकला कि जनता और बुद्धिजीवियों का ध्यान स्वाधीनता आन्दोलन से हटकर हरिजन उद्धार में लग गया। बाद में गांधीजी को छोड़ दिया गया। इस बीच व्यापक निराशा फैली, स्वयंसेवक भटकने लगे और एक बार फिर आंदोलन असफल हो गया। आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने मई 1934 को व्यक्तिगत और सार्वजनिक नागरिक अवज्ञा आंदोलन को पूरी तरह वापस ले लिया। जून 1934 को कांग्रेस फिर वैध संस्था बन गई। इस आंदोलन की विफलता के कारण आंतरिक प्रत्यारोपों का दौर चला। गांधी ने अपने सहयोगियों को सत्याग्रह के अयोग्य ठहराया — वामपंथियों और क्रांतिकारियों ने गांधी की समझौता परस्त नीति की भर्त्सना की। फलतः गांधी ने कांग्रेस की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और वे हरिजन - उद्धार में लग गये। 1935 में 'गवर्नमेंट आफ इंडिया' एक्ट आया। इस एक्ट में एक तरह का प्रांतीय स्वशासन और संघीय ढांचा रखा गया था, लेकिन इसमें इतने रोक और पेंच थे कि राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह की सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों में ज्यों की त्यों बनी रही। 'इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, जमींदारों से और हिन्दुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक निर्वाचन-पद्धति को पहले

बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला।"[7] समस्त भारतीय जनता ने इस एक्ट का विरोध किया । बाद में कांग्रेस ने इसे मंजूर किया और जुलाई 1937 को आठ सूबों में कांग्रेसी सरकारें बनीं ।

निश्चय ही गांधी जी इस दौर में भारतीय राष्ट्रवाद के सर्वोत्तम प्रतीक थे । उन्होंने समस्त भारत के समस्त वर्गों और जातियों को एक प्लेटफार्म पर खड़ा किया और उनको स्वाधीनता आन्दोलन का हिस्सेदार बनाया । ए०आर० देसाई ने गांधी की विचार-प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "गांधी जमींदारी और पूंजीवादी व्यक्तिगत संपत्ति पर आधारित भारतीय समाज की आर्थिक संरचना के समर्थक थे और वे इसे बनाए रखना चाहते थे । उनका यह विचार नहीं था कि उत्पादन के सामाजिक संबंधों में ही शोषण निहित है और न वह यह मानते थे कि जनसाधारण की बढ़ती हुई गरीबी इस आर्थिक संरचना के विकास को नियमित करने वाले सिद्धान्तों की अनिवार्य परिणति है । उनका विश्वास था कि पूंजीपतियों और जमींदारों की नैतिक शक्ति के पर्याप्त उत्थान से जनसाधारण की गरीबी और उनकी दुर्दशा खत्म की जा सकती है । उनका कहना था " बिना किसी कारण के संपत्तिशील लोगों की संपत्ति छीनने के पक्ष में मैं नहीं हूं । मेरा उद्देश्य है आपके हृदय तक अपनी बात पहुंचाना, जिससे आप अपनी सारी निजी संपत्ति अपने आसामी की थाती तौर पर रखें और मूलतः उसी के कल्याण में खर्च करें । मेरी कल्पना के रामराज्य में राजा और रंक के अधिकार एक समान सुरक्षित हैं । आप विश्वास मानें मैं वर्ग युद्ध रोकने में अपनी सारी ताकत लगा दूंगा ।..... अगर कहीं नाजायज रूप से आपकी संपत्ति को आपसे छीनने का उपक्रम हुआ तो आप देखेंगे कि मैं आपकी ओर से लड़ रहा हूं — हमारा समाजवाद या साम्यवाद अहिंसा एवं श्रम और पूंजी तथा जमींदार और किसान के सद्भावपूर्ण सहयोग पर आधारित होने चाहिएं ।" (जुलाई 1934 में उत्तर प्रदेश के जमींदारों को दिया गया गांधी का वक्तव्य, अगस्त 1934 के 'मराठा' में प्रकाशित)"[8]।

स्वाधीनता आन्दोलन के इस दूसरे दौर की असफलता की पृष्ठभूमि में उस विश्वव्यापी मंदी का भी गहरा हाथ है जो 1929 के शुरू होकर 1934

तक चली थी । सितम्बर 1929 से इस महामंदी की शुरुआत हुई । यह साम्राज्यवादी आर्थिक व्यवस्था की देन थी । इस मंदी से निपटने के लिए जगह-जगह आर्थिक सम्मेलन हुए, बहस-बाजी हुई पर इसका प्रभाव कम नहीं हुआ । मंदी को बढ़ाने वाली दो और घटनाएं भी इस बीच हुईं । सितम्बर 1931 को ब्रिटेन ने स्वर्णमान त्याग दिया और दूसरी फरवरी 1934 को अमेरिका ने डालर का अवमूल्यन कर दिया । पूंजीवादी प्रतियोगिता और आर्थिक राष्ट्रीयता का नंगा नाच दुनियाभर की जनता और बुद्धिजीवियों ने देखा । भारत वर्ष पर यद्यपि इसका सीधा प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु अप्रत्यक्ष प्रभाव से वह बच नहीं सका । भारतीय किसान मुख्यतः कर्जदार था । महाजनों की अर्थ-व्यवस्था साम्राज्यवाद से जुड़ी हुई थी । अतः मंदी से महाजन जब परेशान हुए, तब किसानों को भी परेशान किया गया और इस तरह गेहूं, बाजरा और ज्वार की कीमतें गिरने लगीं । 1929 में 5 प्रतिशत, 1930 में 20 प्रतिशत, 1931 में 35 प्रतिशत, 1932 में 37 प्रतिशत, 1933 में 40 प्रतिशत और 1934 में 39 प्रतिशत कीमतें गिर गयीं । इस मंदी से सामाजिक कार्यकर्ताओं की पारिवारिक हालत कितनी खस्ता हो गयी थी — इसका अंदाज लगाया जा सकता है । यहां ब्यौरों में जाने की आवश्यकता नहीं है । भारतीय बुद्धिजीवियों के सामने इस मंदी से ही आर्थिक व्यवस्था का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप खुलने लगा । सामान्य बुद्धिजीवियों ने वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की 'राष्ट्रीयता' के जाल को टूटते देखा । प्रेमचंद ने भी इसे समझा और उन्होंने राष्ट्रीयता और स्वदेशी के नाम पर चल रहे पूंजीवादी शोषण की निंदा की ।[क्लि] एशिया जनाब यूरोप के प्रेम को उतार फेंका और जापानी साम्राज्यवाद की कटु आलोचना की । हिटलर के फासिज्म की निंदा की और रूस के कम्युनिस्ट शासन की सुव्यवस्था की दाद दी । इस तरह अनुभवपरक ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाला गया कि पूंजीवाद-साम्राज्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था है — अतः भारतीय जनता का मुक्ति संग्राम —

संसार की सारी जनता के मुक्ति संग्राम का अंग है और हमारी जीत में बहुत बड़ी भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय जनमत की है । प्रेमचंद ने 'आंदोलन' चलाने पर फैली हुई निराशा को तोड़ने के लिए इस जनमत की शक्ति की दुहाई दी ।

'हंस' का प्रकाशन और प्रेमचंद का जीवन-संघर्ष :

प्रेमचंद के जीवन में साहित्य का नेतृत्व पत्रकारिता के साथ में आ गया था । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक बनने के कारण ही हिंदी - संसार में श्रद्धेय बन पाये । भारतेन्दु ने कई पत्रिकाएँ निकाली थीं । स्वयं प्रेमचंद ने 'मर्यादा' में कुछ दिनों तक काम किया था और अब 'माधुरी' का सम्पादन भी कर रहे थे । 'माधुरी' के संपादकीय अनुभव ने उनमें एक नयी पत्रिका की आकांक्षा पैदा की क्योंकि विष्णुनारायण भार्गव की पत्रिका को वह अपने वांछित रूप में बदल नहीं सकते थे और हिंदी - संसार को एक नयी पत्रिका की जरूरत थी । अतः कहानी प्रधान मासिक पत्र निकालने की योजना बनायी गयी । जयशंकर प्रसाद ने उत्साह बढ़ाया और पत्रिका का नाम सुझाया 'हंस' । 'हंस' के प्रकाशन से प्रेमचंद और नये रूप में समकालीन साहित्यकारों से जुड़े । मार्च 1930 को 'हंस' का पहला अंक निकला । 'हंस' के सम्पादकीय स्तम्भ 'हंसवाणी' में प्रेमचंद ने अपनी आकांक्षाओं और उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से लिखा ।

"'हंस' के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है । इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी ।"[10]

'हंस' बनारस से (सरस्वती प्रेस से) निकला, परन्तु प्रेमचंद लखनऊ में ही रहते थे । अमीनुद्दौला पार्क में वह कई दिनों तक रहे और 'माधुरी' का सम्पादन भी करते रहे । 10 जनवरी 1931 को विष्णु - नारायण भार्गव का देहांत हुआ, तब प्रेमचंद को 'माधुरी' के सम्पादकीय

से अलग कर दिया गया और वे 'कुकटिपो' में रह गये । बाद में सरस्वती प्रेस से उनका संबंध टूटा और राज्य-सत्ता से प्रेमचंद का दूसरा बार व्यक्तिगत रूप से फिर साक्षात्कार हुआ । 'सोज़-वतन' की (1908-9) की राज्यसत्ता से 1930-31 की राज्यसत्ता ज्यादा चुस्त और चालाक हो गयी थी ।

प्रेमचंद मूलतः देहाती आदमी थे ; उनकी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं का रूप देहाती था — फिर भी उनका निवास-स्थान और कार्य-क्षेत्र शहर में था । यूरोप के ज्ञान-विज्ञान और प्रजातांत्रिक माहौल की उन्हें जानकारी थी, औद्योगिक सभ्यता के दुष्प्रभावों से वे आतंकित थे । वे जहाँ थे, वहाँ रहना नहीं चाहते थे - पर मजबूरी में वहीं रहते थे और जहाँ रहना चाहते थे वहाँ रह नहीं सकते थे । उनके व्यक्तिगत जीवन का यह द्वन्द्व उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया । गाँव दूर होता चला गया और साम्राज्यवादी आतंक करीब आता गया । अपनी इस परेशानी को प्रेमचंद ने शिवरानी देवी को (लखनऊ 9 फरवरी 1931) लिखा :

"..... यह शहरी जिन्दगी, जहाँ परिस्थितियों ने मुझे लाकर पटक दिया है, मेरी मानसिक और भावात्मक सत्ता का रोग है । गाँव का शांत जीवन मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग है । आप जानती हैं मैं तुच्छ एक देहाती आदमी हूँ और मेरे साहित्यिक उद्यम का अधिकांश उस वर्ग के चुनने में गया है, जो मेरे देहाती भाइयों का मेरे ऊपर है ।

इसी विचार को ध्यान में रखकर मैंने 'रंग' निकाला था । मेरी योजना में आने वाली चीजें ये हैं —

घर का शांत जीवन, थोड़ा - सा साहित्यिक काम, खेत का संपादन और सरल किसानों की सोहबत का मजा उठाना । लेकिन पढ़ने वालों की ओर से सहयोग मुझे इतना कम मिला है कि मैं प्रायः व्यर्थ ही इस पत्र को चलाये जा रहा हूँ, बस एक इस सुदूर आशा में, जो किसी हालत में नहीं मरती, कि अन्ततः त्याग अपुरस्कृत नहीं रहते ।"[11]

प्रेमचंद का यह देहाती व्यक्तित्व उनकी जीवन-दृष्टि और साहित्य में गहरे तनाव उत्पन्न करता रहा है । अपने काल के शिक्षित युवक-युवतियों पर घृणा की हद तक क्रोध इसी 'देहातीपन' के कारण है । यूरोपीय सभ्यता और व्यवस्था के प्रति की गयी प्रतिक्रियाओं का एक बड़ा हिस्सा इसी 'देहाती' व्यक्तित्व की देन है । यही व्यक्तित्व वर्ग-युद्ध और रक्तमय क्रांति से घबराता है और गांधी का अनुयायी बने रहने में देश की कुशल समझता है । यद्यपि उनका बौद्धिक व्यक्तित्व इससे ठीक उल्टे निष्कर्ष निकालता है । यह 'देहाती' व्यक्तित्व अकेले प्रेमचंद का ही नहीं था, बल्कि उस दौर के — और बहुत कुछ आज तक के — हिंदी साहित्यकारों के एक बड़े भाग का रहा है । मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी ही नहीं, निराला और यहाँ तक कि सुमित्रानंदन पंत के भीतर भी यह देहाती व्यक्ति बैठा है । वास्तव में हिंदी-प्रदेश हिन्दुस्तान का देहात-बहुल प्रदेश रहा है । देश के बड़े उद्योग या तो कलकत्ता में रहे, बम्बई - मद्रास में रहे या फिर अहमदाबाद, औरंगाबाद में रहे — उत्तर प्रदेश में सिर्फ कानपुर एक बड़ा औद्योगिक केन्द्र था — एक कारण ज्यादातर साहित्यकार गाँव में पैदा हुए और शहर में निवास करने लगे थे । गाँव से शहर की ओर बसने की यह प्रक्रिया बीसवीं सदी की शुरुआत से ही शुरू हो गयी थी और 1930 तक अस्सी-नब्बे संख्या का स्थानान्तरण हो गया था । शहर में रहने के बावजूद इन लोगों का भावात्मक तादात्म्य बहुत दिनों तक गाँव से ही रहा फलतः अपने वातावरण के प्रति विरोध भाव से ही इन्होंने जीवन बिताया । शिक्षित जनता का यह 'तनाव' हिंदी साहित्य में खास तरह के तनाव और मूल संघर्ष लाया है — प्रेमचंद की रचनाओं में भी इस तनाव को देखा जा सकता है । इसी द्वन्द्व को न पहचानने के कारण ही जैनेन्द्र कुमार ने प्रेमचंद को भौतिकवादी न कहकर बुद्धिवादी कहा है ।[12] प्रेमचंद ईश्वर को नहीं मानते थे क्योंकि ईश्वर के

अस्तित्व के साथ उसके दयालुपन को भी स्वीकार करना पड़ता था और प्रेमचंद ऐसे विषम - समाज में दयालु ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते थे । फिर भी प्रेमचंद में कहीं धार्मिकता के चिन्ह रह गये थे और भयानक आत्मसंघर्ष से गुजरने के बाद भी उनमें अंत तक बने भी रहे । इसे उन्होंने स्वीकार भी किया है । जैनेन्द्र कुमार ने प्रेमचंद के इस अन्तर्विरोध को रेखांकित करते हुए लिखा है —

'' प्रेमचंद जी के मन में यों मूलतत्व, अर्थात् ईश्वर के संबंध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानवजाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक ऐतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी । असम्मान उनके मन में नहीं था । वह कुछ भी हो, कट्टर नहीं थे । दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहण-शील वृत्ति थी । धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा तिथित विश्वास — ये दोनों वृत्ति उनमें देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है । लेकिन मैंने उनके जीवन में अंत तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्वों को निभते देखा है । वह अत्यन्त सन्प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यन्त श्रद्धालु भी थे । कई छोटी-मोटी बातों को ज्यों का त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में काफी सुधारक थे ।''13

<u>प्रेमचंद जी का देहाती मन आदर्शवादी है, शहरी मानस यथार्थवादी है ।</u> यथार्थवाद संयुक्त परिवार को टूटते हुए दिखाता है, आदर्शवाद उस टूटन पर रोता है । आदर्शवादी मन ने सूरदास, सुक्ष भगत और होरी को सृष्टि दी है । यथार्थवादी मानस ने ज्ञानशंकर, जानसेवक, राय-साहब और मिस्टर क्लार्क को चित्रित किया है । देहातीमन शांतिप्रिय, व्यवहार-प्रिय और सामाजिक है, शहरी मानस तनाव भरा, विद्रोही और राजनीतिक है । जब उनकी रचना-प्रक्रिया में देहात हावी होता है तो सामाजिक साहित्य की सृष्टि होती है, जब उन पर शहर का दबाव रहता है तो रचना का

परिप्रेक्ष्य राजनीतिक हो जाता है । एक ही रचना कई बार, कई जगह सामाजिक है, तो दूसरी जगह राजनीतिक संदर्भों से युक्त है ।

प्रेमचंद खास तौर से 'घरेलू' आदमी थे । उनका पारिवारिक जीवन बहुत शांत और सुखद रहा था । उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी घर की मालकिन थी । 'घर' से निश्चित परन्तु घर से लगाव उनके जीवन और साहित्य में जगह-जगह पर मिलता है । 'प्रेमचंद घर में' में शिवरानी देवी ने प्रेमचंद की जो तस्वीर पेश की है — वह तस्वीर प्रेमचंद के साहित्य में भी जगह-जगह मिलती है । उनके पात्र पारिवारिक पृष्ठभूमि से ही होते हैं । लखनऊ में मणिलाल्म बना और शिवरानी देवी भी उसकी सदस्या बन गयीं और वालिंस का काम करने लगीं — फलतः शिवरानी देवी भी गिरफ्तार हुईं और दो महीने की सजा काट आईं । नवम्बर 1930 के दिन ये गिरफ्तार हुईं ।[14] वहां पर उन्होंने सी-क्लास के कैदियों की हालत देखी और उसके खिलाफ आवाज उठाई । प्रेमचंद के घर में एक बूढ़ी नौकरानी थी, उसका वेतन जबान लड़ाया से जाता था — इस स्वार्थबुद्धि पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने बड़े दर्द के साथ कहा कि —'' मैं समझता था ज्यादा खुदगर्जी अंग्रेजी पढ़े-लिखों में ही आ गई है । अब इन सभी को गांव देख कर दंग रह जाना पड़ता है । पहले मैं देखता था छोटे लोगों में मां की इज्जत होती थी, उसकी जगह पर यह उल्टा ही दिखाई पड़ रहा है । उस बेचारी को रोटी भी देने वाला कोई नहीं है । ये तो जवान हो गये हैं । जैसे बचपन में चूस-चूसकर उसका दूध पीते थे, अब जवान होने पर उसी का पैसा चूसने को तैयार हैं । अब इनमें और पशुओं में क्या फर्क है ।''[15] इस तरह प्रेमचंद का देहात प्रेमी मन पराजित होता जा रहा है और उनमें आत्म-संशोधन की प्रवृत्ति को तेज कर रहा है । फिर भी अंत तक उनके मन में देहात का आदर्श हावी रहा । मई 1934 को प्रेमचंद ने शिवरानी से कहा —

'' अब तक भुन्नू जो कुछ होना होगा सो हो जायगा, उसी को अब काम सौंप दीजे हम और तुम दोनों देहात में किसानों का काम

करेंगे । क्योंकि जो हालत आजकल काश्तकारों की है, जब तक कोई उनके बीच में रहकर काम नहीं करेगा तब तक उनको सुधारना बहुत मुश्किल है । जरूरत है कि खुद उनके बीच में रहकर के उनमें काम करें । जो काम उनके बीच में रहकर के सालदो साल में हो सकता है वह लम्बी-लम्बी स्पीचों से काफी दिनों में भी होना कठिन है ।''[16]

प्रेमचंद के संस्मरण लेखकों ने भी प्रेमचंद के व्यक्तित्व के इस द्वन्द्व को रेखांकित किया है ।उपेन्द्रनाथ अश्क ने स्पष्ट लिखा है कि ''..... उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेमचंद आयुपर्यन्त देहात में रहे । यह बात कुछ असंगत - सी जान पड़ती है परन्तु यदि आप उनके जीवन और रचनाओं में रहने वाले शांतिप्रिय दिल से अभिज्ञ हैं, उस दिल की गहराई में गोता लगा सकते हैं तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर के नाते चाहे वह नगर में रहे हों परन्तु मन के नाते वह सदैव देहात में रहे ; देहातियों — निरीह, निर्धन और भोले-भाले देहातियों के साथ रहे ; उनके दु:ख-दर्द में शरीक होते रहे और उन्हें विपत्तियों के गहरे खड्ड से निकालकर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के स्वप्न देखते रहे ।''[17]

वैसे प्रेमचंद के भीतरी देहाती व्यक्तित्व को ही नहीं, उनके भीतर बसे हुए – शहरी व्यक्तित्व को भी लोगों ने पकड़ा है । इलाचन्द्र जोशी ने उनके संस्मरण में लिखा है —''..... उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट , अन्तर्भेदनी तथा सुगंभीर और शान्त आँखें, मोटी भौंहें और बड़ी-बड़ी मूँछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णत: भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था ।''[18]

गांधी और नेहरू को अगर हम उस युग की राजनीति के दो मुख्य केन्द्र मानें, तो गांधी भारतीय राजनीति का देहात है और नेहरू शहर है । गांधी संत हैं, नेहरू राजनैतिक नेता हैं । गांधी का आदर्श समाज रामराज्य है और कुटीर उद्योग है । नेहरू का आदर्श प्रजातांत्रिक

समाज और औद्योगिक सभ्यता है । ये दोनों उस पूरे युग की सामाजिक संरचना के दो विरोधी रूप हैं, जो प्रेमचंद में भी है और उस युग के हर शिक्षित, बुद्धिजीवी में मौजूद है ।

प्रेमचंद ने किसानों के प्रति आत्मीय क्रोध भी जगह-जगह व्यक्त किया है । जैनेन्द्र कुमार ने एक घटना का जिक्र किया है । एक बार प्रेमचंद, शिवरानी देवी और जैनेन्द्र कुमार बनारस से लमही रवाना हुए, सामान काफी था । सारनाथ में सड़क पर सामान रख दिया गया और प्रेमचंद किसी मजदूर को लाने गये । मजदूर तो ये नहीं अतः अपने 'प्रिय' किसानों के पास गये । लेकिन किसानों का गौरव मजदूरी की अनुमति नहीं देता था । प्रेमचंद बोले, '' देखो जैनेन्द्र , घेली-रुपया हाथ लग ही जाता । गाँव जोगा एक मील या बहुत-से बहुत डेढ़ मील । पर जाएँगे तो समझ तो तब न ।''19

प्रेमचंद हालाँकि बहुत उदार, न्यायप्रिय और मानवीय थे, फिर भी उन्होंने अपने जीवन में कई छोटी-बड़ी बेईमानियाँ भी की थीं । और यह सब जाम भूखे प्रेस का पेट भरने के लिए । प्रेमचंद ने अपने भाई महताबराय के नाम में प्रेस खरीदा और बाद में खुद उसके मालिक बन गये । महताबराय ने अपने रुपयों का सूद माँगा (जो कि तर्कसंगत और न्यायसंगत तो था ही, मानवीय चाहे न हो) तो प्रेमचंद ने साफ मना कर दिया । 1 जून 1931 को प्रेमचंद ने महताबराय को इस संबंध में पत्र लिखा ।

'' यह जान के कि तुम्हें प्रेस में फँसने और रुपये लगाने का अफसोस हो रहा है । मुझे भी हो रहा है । रघुपतिसहाय को भी हो रहा है । सबके सब सिर पर हाथ धरे रो रहे हैं लेकिन..... । मैंने नुकसान का अंदाजा करो । ..... गोया प्रेस खोलकर मैंने सात हजार रुपया का नुकसान उठाया और मैं इसे हर्फ-हर्फ सही साबित कर सकता हूँ । रिसाय प्रेस में मौजूद है । तुम्हारा नुकसान तो सिर्फ सूद का हुआ ।''20

प्रेमचंद ने विनोद शंकर व्यास से पाक्षिक 'जागरण' पत्र लिया और उसे साप्ताहिक के रूप में कुछ दिन चलाया था। शर्त यह थी कि जब उसे प्रेमचंद बन्द करने लगें तो व्यास जी दो एक सौगा कि वे उसको प्रकाशित करें लेकिन जब 'जागरण' बन्द किया गया और विनोदशंकर व्यास ने उसे फिर प्रकाशित करना चाहा, तो प्रेमचंद ने बहाना गढ़ा और किस×× २। मई १९३४ को लिखा —

''..... 'जागरण' के बंद करने का कारण मेरे यहाँ भी वही था जो आपके यहाँ था। आपने ८: महीने में ज्यादा से ज्यादा एक हजार का नुकसान उठाया। मैं चार हजार की लपेट में आ गया। आपने जो लिखा-पढ़ी वादे किये थे वह आपने एक भी पूरे न किये। मैं आपके चक्कर में आ गया। खैर, आप तो 'जागरण' को बंद कर चुके थे। उसे मैंने फिर चलाया। आपने सौ ग्राहक दिये थे। वह सब टूट गये। मेरे लिए 'जागरण' नाम से कोई विशेष लाभ क्या बिलकुल लाभ नहीं हुआ। मैंने इस पर चार हजार डुबाया है और उसे फिर निकालूंगा, चाहे तुरंत या किसी के सहि में। आप साथ करना चाहें आप कर सकते हैं। अगर आप बिलकुल छोड़ देना चाहते हैं तो मुझे चार हजार रुपया नकद दे दीजिए या दो रुपये महीने सूद का प्रबंध कीजिए। वरना कुछ दिन इंतजार कीजिए और देखिए कि मैं उसे निकालता हूँ या नहीं।''[21] इन शब्दों में प्रेमचंद की स्वार्थ बुद्धि साफ झलकती है।

मार्च १९३१ को कांग्रेस का करांची अधिवेशन होने वाला था, प्रेमचंद जाना चाहते थे। परन्तु गये नहीं क्योंकि 24 मार्च को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दे दी गई। प्रेमचंद ने दयानारायण निगम को लिखा कि '' करांची का इरादा था, मगर आज भगतसिंह की फांसी ने हिम्मत तोड़ दी। अब किस उम्मीद पर जाऊं। वहाँ गांधी का स्वागत होगा, कांग्रेस मेंर जिम्मेदार, शांतिप्रियसज्जन तबके के हाथ में आ जायगी और

एम लोगों के लिए उसमें जगह नहीं है ।..... मगर इससे ज्यादा खिलाफ कोई गवर्नमेंट नहीं कर सकती थी । तीन आदमियों की सजा में तब्दीली करके गवर्नमेंट कितना अच्छा असर पैदा कर सकती थी । पर उसके तर्ज अमल ने अब साबित कर दिया कि तालीफ्लब (हृदय-परिवर्तन) उसने कभी तय नहीं किया और अब भी वह अपनी उसी क्रीम गैर जिम्मेदाराना रविश (टैग) पर कायम है ।''[22]

3 जून 1932 को प्रेमचंद ने बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा है — '' मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं । इस समय तो सबसे बड़ी लालसा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों ।''[23] स्वराज्य-विजय की इस कामना से ही उन्होंने 'हंस' निकाला और इसी कामना ने 'जागरण' साप्ताहिक निकालने को प्रोत्साहित किया । 22 अगस्त 1932 को 'जागरण' नये रूप में प्रकाशित हुआ । इस पत्र के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रेमचंद ने लिखा, कि.... '' उसका ध्येय होगा सत्य की खोज ।''[24] स्वाधीनता आंदोलन में सत्य कहना खतरे से खाली नहीं था । फलतः 26 अक्टूबर 1932 के 'जागरण' में प्रकाशित 'उसका दोस्त' नाटक कहानी के रूप में प्रेस और पत्र से दो हजार की जमानत माँगी गई । प्रेमचंद ने जैनेन्द्र को लिखा — '' बहुत परेशान हुआ, भागा हुआ लखनऊ पहुँचा । वहाँ Chief Secretary से मिलकर कहानी का आशय समझाया और भी अपनी Loyality के प्रमाण दिये । अब आशा है, जमानत मंसूख हो जायगी। जरा-जरा-सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है ।''[25] 12 दिसम्बर 1932 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने टिप्पणी लिखी — 'जागरण' से जमानत । इसमें उन्होंने चतुराई से पत्रकारिता की परेशानियों और अधिकारीवर्ग के रुख को सामने रखा और लिखा कि हम क्रिया में न है और हमारा सिद्धान्त है कि राष्ट्र का उद्धार शांतिमय उपायों से ही होगा । फिर भी सरकारी रोष की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा :

'' वे जनता के ही नहीं, शासन के भी प्रतिनिधि हैं। एक ओर तो वे जनमत की वकालत करते हैं, दूसरी ओर जनता में उस नागरिकता का प्रचार करते हैं, जिसे वे राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। अगर वे निर्भीकता से जनमत को प्रकट नहीं करते, तो उनकी आवश्यकता ही जाती रहती है और जनता उन्हें सरकारी पिट्ठू समझकर उनकी उपेक्षा करती है। यदि वे साफगोई से काम लेते हैं, तो सरकार के कोपभाजन बनते हैं, और यह अवस्था केवल इसलिए पैदा हो गयी है कि शासकों और शासितों के स्वार्थ में संघर्ष है। समाचार पत्रों की हैसियत शासितों के वकील की है।''[26]

स्वाधीनता संग्राम के समर्थक पत्रकार की वास्तविक कठिनाईयों इस टिप्पणी में बोलती हैं। 'जागरण' ज्यों-ज्यों सत्य-प्रेमी और उग्र होता गया, सरकार की आँखों में खटकता गया और अंत में 21 मई 1934 को 'जागरण' ने समाधि ले ली। कवि मीर के शब्दों में पाठकों से विदा माँगी गई :

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर।
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।[27]

'हंस' और 'जागरण' के प्रकाशन के साथ प्रेमचंद साहित्यिक विवाद के केन्द्र बने। फरवरी 1932 की 'हंस' का आत्मकथा विशेषांक निकाला गया – वह व्यापक चर्चा का केन्द्र बना। इसमें हिंदी के लेखकों के जीवन चरित्र छपे गये। साहित्यिक जगत में हिंदी में यह पहला प्रयास था। इस अंक के लेखकों को अपने 'समय' का बोध है, जो किसी दार्शनिक सजगता के कारण नहीं बल्कि परिवेश से तादात्म्य भाव रखने के कारण है। आजाद हिन्दुस्तान का लेखक अलगाव में जीता है — वह समाज के बाहर भी है और भीतर भी — समाज उसके बाहर भी है और उसके भीतर भी। लेकिन 'हंस' के इन लेखकों का आत्मपरिचय सामान्य की हद तक साधारण

और सराहात है । इसमें लेखकों ने समाज की तस्वीर देने का प्रयास भी किया है । 'भारत' सम्पादक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की यह 'साधारणता' खली और इस अंक को लेखकों का 'आत्मविज्ञापन' कहकर मखौल उड़ाया । प्रेमचंद ने मई 1932 के 'हंस' में 'परितोष' शीर्षक लम्बी टिप्पणी लिखकर वाजपेयी जी के तर्कों का खंडन किया । इसके अलावा प्रेमचंद ने 'हंस' के कई और महत्त्वपूर्ण विशेषांक भी निकाले जिनमें काशी अंक और 'स्वदेशी' विशेषांक बहुत महत्त्वपूर्ण है । इस दौर में प्रेमचंद पूरी तरह हिंदी के लेखक बन गये । हालांकि साहित्यिक गुटबंदी के लिहाज से उनका कोई गुट नहीं था फिर भी बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, जनार्दन झा, जैनेन्द्र कुमार आदि लेखक प्रेमचंद के पक्षधर रहे हैं । 1933 में चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विष-वृक्ष' छपी । प्रेमचंद ने इस पुस्तक को 'साम्प्रदायिकता फैलाने की एक बेहद शरारत भरी और नीच कोशिश'[28] कहा और 'हंस' में उसकी कड़ी आलोचना करवाई । 1933 में ही उन्होंने रामेन्द्र दत्तजी से 'अनुवादक मण्डल की आवश्यकता' से संबंधित पत्र व्यवहार किया । मकसद था व्यापक ज्ञान-विज्ञान से भारतीय पाठकों को परिचित करवाना ही उनका उद्देश्य था । यह योजना पूरी नहीं हुई । इसी शीर्षक से उन्होंने 'हंस' में टिप्पणी भी लिखी । 'हंस' और 'जागरण' से प्रेमचंद को कई हजार का घाटा हुआ । अतः ये 'हंस' को लीडर प्रेस वालों को देने वाले थे । जैनेन्द्र को उन्होंने लिखा —'' पहले खयाल था कि 'हंस' उन्हें दे दूं और प्रेस चलाता रहूं । लेकिन सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है । न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी । दस हजार रुपया और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियां अकारथ हो गईं । इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वायदा - खिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा । मेरी जिन्दगी की यह सबसे बड़ी गलती है ।''[29]

आर्थिक तंगी और उच्च आदर्श में तालमेल नहीं बैठ पा रहा था। अतः प्रेमचंद ने सिनेमा कम्पनी में काम करने का विचार किया। उद्देश्य था — शिक्षित जनता के परिष्कार के लिए सिनेमा का उपयोग और रुपये कमाना — जिससे 'हंस' चल सके और अर्थाभाव से मुक्ति मिले। 4 जून 1934 को प्रेमचंद बम्बई पहुंचे।[30] और 3 अप्रैल 1935 को बम्बई छोड़कर फिर बनारस आ गये। जब प्रेमचंद बम्बई में ही थे तब प्रेस के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। तीन महीने से कर्मचारियों को वेतन नहीं मिल रहा था। बाद में मध्यस्थता से हड़ताल टूट गयी और एक महीने का वेतन लेकर कर्मचारी काम पर आ गये। इस हड़ताल के कारण 'भारत' में फिर टिप्पणी छपी। प्रेमचंद ने 25 सितम्बर 1934 को 'भारत' सम्पादक के नाम पत्र लिखा —

"मैं मानता हूं कि गरीबों को समय पर वेतन न मिलने से बड़ा कष्ट होता है, लेकिन क्या वे खुद भी इस प्रेस के मालिक होते तो वे भी मेरी ही तरह सिर पीटकर न रह जाते। उन्हीं कर्मचारियों में कितने ही किसान हैं। क्या उन्हें किसानी में घाटा नहीं हो रहा है और वे प्रेस की मजदूरी करके लगान नहीं अदा कर रहे हैं।..... उन्हें यहां तक विचार न हुआ कि इस प्रेस को साहित्य या समाज की सेवा की के कारण यह घाटा हो रहा है, और यही प्रेस है जो मजदूरों की वकालत कर रहा है, और इस लिहाज से मजदूरों की हमदर्दी का हकदार है, ऐसी कोशिश की कि वह सफल हो और ज्यादा एकाग्रता से उसकी वकालत कर सके।"[31] ध्यान से पढ़ने पर इस पत्र में फिर कायस्थ की सौम्यता के दर्शन होंगे — यह सही है कि इसके दर्शन अत्यंत मानवीय और उदार रूप में ही हो रहे हैं।

बम्बई आने के बाद प्रेमचंद ने 20 नवम्बर 1934 को जैनेन्द्र को फिल्मी दुनिया के निराशाजनक अनुभव लिखे।[32] 'मिल' और 'मजदूर'

नामक फिल्म की कहानियाँ प्रेमचंद ने लिखी । जैनेन्द्र कुमार को 'मजदूर' फिल्म पसंद नहीं आई । प्रेमचंद ने सफाई देते हुए 7 फरवरी 1935 को लिखा --

''..... लेखक कलम का बादशाह क्यों न हो, वह डायरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती । हुकूमत माने तभी वह रह सकता है । वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूँ ।' उसके विरुद्ध डायरेक्टर जोर से कहता है, आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है और हम जनता की सलाह करने नहीं आए हैं । हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है । जो चीज जनता मांगेगी, वह हम देंगे ।''[33]

निष्कर्ष यह निकला कि प्रेमचंद बम्बई छोड़कर वापस आ गये । इस बीच वर्धा कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब देखने गये । दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार की यात्रा की और राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया । अब प्रेमचंद अपने जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर हैं । अपने विगत जीवन के अनुभवों को बताते हुए प्रेमचंद ने । दिसम्बर 1935 को बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखा — ''..... मैं ऐसे महान आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता जो धन-संपत्ति में डूबा हुआ है । जैसे मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ, उसकी कला और ज्ञान की सब बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं । मुझको ऐसा लगने लगता है कि उस आदमी ने वर्तमान समाज व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है, स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार कोई भी बड़ा नाम जो लक्ष्मी से असंपृक्त नहीं है, मुझको आकर्षित नहीं करता । यह संभव है कि मेरे मन के इस ढाँचे के पीछे जीवन में मेरी अपनी असफलता हो । हो सकता है कि जेब में अच्छी रकम रखकर मैं भी औरों जैसा ही हो जाता — उस लोभ का संवरण न कर पाता । लेकिन मैं खुश हूँ कि प्रकृति

और भाग्य ने मेरी मदद की है और मुझे गरीबी के साथ ढाल दिया है। इससे मुझे मानसिक शांति मिलती है।''[34]

प्रेमचंद का जीवन एक मजदूर का – श्रमिक का जीवन है। वे नित्य नियमपूर्वक साहित्यिक कार्य किया करते थे – इसी श्रम के प्रति और फलतः श्रमजीवियों के प्रति आकर्षण उनमें रहा है और हरामखोरी के वे दुश्मन रहे हैं। जीवन के अंतिम दिनों में कई सभाओं का सभापतित्व भी किया है, जिसमें प्रगतिशील लेखक सम्मेलन (1936) की अध्यक्षता प्रेमचंद के जीवन की एक महान घटना है। अतिरिक्त श्रम के कारण प्रेमचंद का स्वास्थ्य खराब रहने लगा और वे बीमार रहने लगे। मृत्यु से कुछ दिन पहले 9 जुलाई 1936 को प्रेमचंद ने अपने को पत्र लिखा। उसमें उन्होंने अपने जीवन की आर्थिकताओं को फिर याद किया है — ''..... इस महाजनी दौर में पैसे का न होना अजीब है, जिन्दगी खराब हो जाती है, लेकिन इसके साथ यह भी न भूलना कि गरीबी और मुसीबतों का एक अच्छाई पहलू भी है, इन्हीं आजमाइशों में इन्सान इन्सान बनता है, उसमें खुद-इत्मीनानी पैदा होती है।

..... अगर आदमी का काबू हो तो किसी देहात में जा बैठे। दो एक जानवर पाल ले, कुछ खेती कर ले और जिन्दगी गाँव वालों की खिदमत में गुजार दे। शहर में रहना, खासकर बड़े शहर में तो हिमाकत, जिन्दगी, सब कुछ तबाह हो जाती है। फिलहाल इतना ही। थक गया हूँ। अब लेटूँगा।''[35]

1935 से प्रेमचंद ने 'हंस' को भारतीय साहित्य का मुख पत्र बना दिया। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और प्रेमचंद इसके अवैतनिक संपादक बने। भारतीय साहित्य परिषद का मुख पत्र बनकर 'हंस' कुछ दिन चला परन्तु प्रेमचंद को इससे संतोष नहीं हुआ। 27 फरवरी 1936 को उदयशंकर 'रायपुरी' को बड़े दुःख के साथ लिखा कि ''..... अगर बस चला तो

'बीसवीं सदी' नामका रिसाला अपने लोगों के खयालात के एशाअत के लिए जरूर निकालूंगा । 'एस' से तो मेरा तालुक टूट गया । मुफ्त की सरफरी बनियों के साथ काम करके शुद्रिये की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'एस' में ज्यादा रुपया सर्फ कर दिया ।..... 'एस' कि लिटरेचर की एशाअत कर रहा था, वह हमारा लिटरेचर नहीं है, वह तो वही भक्तिवाला मनगढ़ी लिटरेचर है जो हिंदी जबान में काफी है ।''[36]

उधर प्रेमचंद बीमार पड़े थे उधर 'एस' से जमानत मांगी गयी और भारतीय साहित्य परिषद ने उसे बंद करने का निर्णय किया । उस बीमारी में ही प्रेमचंद ने जमानत भरी और 'एस' का संपादन कार्य फिर संभाला । लेकिन उनकी तबीयत सुधरी नहीं । इलाज के प्रयास भी किये गये परन्तु ८ अक्टूबर 1936 को हिंदी साहित्य के उपन्यास-सम्राट का देहान्त हो गया । अब तक उनके जितना बड़ा किसानों का वास्तविक हितैषी साहित्यकार पैदा नहीं हुआ । उनकी मृत्यु से अगर किसी को क्षति हुई है तो उन बेजबान भारतीय किसानों की हुई है, जिनकी धड़कन थी प्रेमचंद के साहित्य का प्राण है ।

स्वाधीनता आन्दोलन और अंग्रेजी राज :

प्रेमचंद स्वाधीनता - आंदोलन के सिपाही थे । उनके लिए स्वराज्य का मतलब था — किसानों के लिए स्वराज्य । स्वराज्य - आंदोलन जब शुरू हुआ (1930 में) तब समाज के कई तबके उसके प्रति शंकालु थे — विशेष रूप से उसके फल की ओर काफी संदिग्ध थे । जमींदारों और व्यापारियों में ऐसे शंकालु लोग ज्यादा थे । प्रेमचंद ने उनको समझाते हुए एक टिप्पणी लिखी— 'स्वराज्य से किसका हित होगा' (अप्रैल 1930)। इसमें प्रेमचंद ने यह भी बताया कि स्वराज्य से हित किसका होगा । उनके लिए यह आन्दोलन गरीबों का आंदोलन है क्योंकि ब्रिटिश राज्य में मजदूर और किसान — विशेषत:

किसान ही सबसे ज्यादा शोषित रहे हैं । प्रेमचंद मानते हैं कि अंग्रेजों की उपस्थिति समाज के सभी वर्गों के लिए खतरनाक है । जमींदार, व्यापारी, उद्योगपति, सरकारी नौकर और मजदूर-किसान सब अंग्रेजों की शोषण-पद्धति के शिकार हैं, लेकिन किसानों के लिए अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो गया है । स्वराज्य के बिना किसान जिंदा नहीं रह सकते । शेष वर्गों के हितार्थ सरकार भी कानून पास करती रहती है परन्तु किसानों पर ''लगान बढ़ता जाता है, सख्तियाँ बढ़ती जाती हैं । कौंसिलों में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं । वे जमींदारों के चुंगल में इस बुरी तरह फँसे हैं कि दबाव में पड़कर वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बनाने पर मजबूर होते हैं जो उनके हितों का भक्षण करते हैं । बहुत से मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें वह खबर नहीं हो सकती, जो एक किसान को हो सकती है, अतएव हमारी राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग अन्याय पीड़ित है । सब छोटे-बड़े उसी का रक्त और मांस खा खाकर मोटे होते हैं पर कोई उसकी खबर नहीं लेता । मजदूरों के संगठन हैं, सरकारी नौकरों ने भी अपने-अपने दल संगठित कर लिए, जमींदारों और महाजनों का दल भी व्यवस्थित है, मगर किसानों का कोई संघ नहीं । उनकी शक्ति बिखरी हुई है । अगर उन्हें संगठित करने की कोशिश की जाती है, तो सरकार, जमींदार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी चिल्ला उठते हैं । चारों ओर से हाय-हाय मच जाती है । बोल्शेविज्म का हौआ बताकर उस आंदोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है, इसलिए यह कहना गलत नहीं है कि स्वराज्य किसानों की माँग है, उन्हें जिंदा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है ,..... ''[37]

यह लम्बा उद्धरण स्वाधीनता-आंदोलन संबंधी प्रेमचंद की दृष्टि को स्पष्ट करता है । इस कथन से स्पष्ट है कि प्रेमचंद की नजर में कांग्रेस किसानों की संस्था नहीं है, दयाराम भले ही उन किसानों की हिमायत करे ।

किसानों के हितों की रक्षा करने के लिए संगठित किसान-आंदोलन और किसान संगठन की जरूरत है । प्रेमचंद के इस लेख में राजनीतिक - स्थितियों का जो वर्ग-विश्लेषण हुआ है, वह अधिक विकसित और वैज्ञानिक रूप से मार्क्सवादी लेखकों की रचनाओं में मिलता है । प्रमाणों के समान वैज्ञानिक न होते हुए भी प्रेमचंद की दृष्टि गांधी की तरह अस्पष्ट और नेहरू की भांति धुंधली नहीं थी । यह लेख समकालीन परिस्थितियों का अनुभवपरक आकलन है । यहीं प्रेमचंद का किसानों से तादात्म्य-भाव प्रकट होता है । भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में प्रेमचंद का यह चिंतन बुद्धिजीवियों और किसानों की एकता को सूचित करता है ।

यहाँ प्रेमचंद का चिंतन गांधी और नेहरू से भिन्न है । गांधी जी ने जमींदारों को आश्वासन दिये , प्रेमचंद ने चेतावनी दी । दोनों का उद्देश्य था ब्रिटिश विरोधी व्यापक संयुक्त मोर्चे में जमींदारों को भी शामिल किया जाय । राजनीतिक नेताओं ने जमींदारों को आश्वस्त करने का प्रयास किया, वहाँ प्रेमचंद ने उनको चेतावनी देते हुए कहा कि "..... आप इस समय कर्तव्य क्षेत्र से मुख ही नहीं मोड़ रहे हैं, आप दूसरों का उत्साह भी तोड़ देते हैं । अपने से दूसरों को भी गुलाम बनाए रखने की चेष्टा कर रहे हैं । अगर आपको यह भय है, कि आपने जरा भी कान हिला दिये और आपकी रियासत जब्त हुई, आप दूध की मक्खी की भांति निकालकर फेंक दिये गये, तो इस तरह आप के दिन अपनी खैर मनाएंगे । वही सरकार जिसके दामन में आप मुंह छिपाये हुए हैं, आपको ठुकरा देगी । आपको एक विश्वास दिलाते हैं, कि आपने देश का साथ दिया, तो देश भी आपका साथ देगा और अगर आपने उसके मार्ग में बाधाएँ डालीं, तो आप चाहे दूसरों के बल पर कुछ दिन और प्रभुता की मौज उड़ा लें, पर आप जनता की नजरों से गिर जायेंगे और जिसके बल पर आप कूद रहे हैं, वे ही आपको निकाल बाहर करेंगे ।"[38] यहाँ प्रेमचंद ने उदार जमींदारों में देश प्रेम जगाने का प्रयास किया है । प्रेमचंद जानते थे कि ज्यों-ज्यों आंदोलन बढ़ेगा — जनता की शक्ति बढ़ेगी, त्यों-त्यों जमींदार और उद्योगपति वर्ग का रवैया भी

बढ़ता जायेगा और अगर कांग्रेस ने गरीबों का साथ दिया (जिसकी उन्हें आशा थी) तो ये लोग स्वराज्य-आंदोलन के विरोधी हो जायेंगे । अपनी इस आशंका को घटने के लिए प्रेमचंद ने जमींदारों के सामने यह आदर्श रखा था । यथार्थ स्थिति और आदर्श-आकांक्षा की दूरी को प्रेमचंद पाटना चाहते थे । परन्तु अनुभव ने प्रेमचंद को बता दिया कि यह दूरी पटने वाली नहीं है — इसमें और और दरारें पड़ेंगी । प्रेमचंद की यह सतर्कता उनके चिंतन की मौलिकता की सूचक है ।

1930 में प्रेमचंद के लेखों की पृष्ठभूमि में यह चिंतन है कि स्वराज्य की निर्णायक लड़ाई शुरू हो गयी है — स्वराज्य मिलने ही वाला है । इसलिए शत्रु और मित्र के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा हरेक का अपना पक्ष तय कर लेना जरूरी हो गया है । प्रयास यह किया जाना चाहिए कि भारतीय जनता का व्यापक संयुक्त मोर्चा बना सके और प्रजातांत्रिक भारत का निर्माण कर सके । साम्राज्यवादियों के खिलाफ सभी भारतीय तबके मन-मुटाव, निजी-स्वार्थ भुलाकर एक हों । गांधी और नेहरू इस आन्दोलन में भारतीय पूंजीपति वर्ग की दृष्टि से सोचते और कार्य करते थे, जबकि प्रेमचंद किसानों की ओर से सक्रिय थे । लक्ष्य दोनों का एक था — साम्राज्यवाद का ह्रास । प्रेमचंद ने जोर देकर कहा :

"गरीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह अटल सत्य है । हरेक आंदोलन में गरीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है । इस आंदोलन में गरीब ही आगे-आगे हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए, क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हीं को होगा भी, लेकिन जैसा हमने ऊपर दिखाने की चेष्टा की है, स्वराज्य की जीत से समाज के किसी वर्ग को हानि नहीं पहुंच सकती, लाभ ही लाभ होगा । हां, उनको अवश्य हानि होगी, जो खुशामद और लूट और अन्याय के मजे उड़ा रहे हैं ।"[39]

'आजादी की लड़ाई' शुरू हो गयी । गांधीजी की सूझ-बूझ से देश का बुद्धिजीवी फिर कायल हो गया । उसके प्रभाव की व्याख्या करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि उसने बड़े-बड़े कागजी बाघों की कलई खोल दी — लिबरल फिर सरकारी पिट्ठू ही बने रहे, शिक्षित - समुदाय (वकील, अध्यापक, छात्र) की स्वार्थपरता और साधनहीनता उजागर हो गयी । सरकारी दमन ने नौकरशाही और साम्राज्यवाद को नंगे रूप में दिखा दिया । इसके साथ ही जनता का साहस भी बढ़ा । प्रेमचंद ने घोषणा की कि ''..... सरकार अगर अहिंसा बंद रखना चाहती है, तो रखे, पर उसके अहिंसा बंद कर देने से देश की स्थिति नहीं बदल सकती । देश अब अपनी किस्मत का मालिक आप बनना चाहता है । और उसकी कीमत अदा करने का निश्चय कर चुका है ।''[40]

ज्यों-ज्यों आंदोलन बढ़ने लगा तो सरकारी दमन भी तेज होने लगा । प्रेमचंद ने इससे निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद का असली चेहरा प्रकट हो जाने के कारण भारतीय जनता को इससे फायदा ही होगा ।[41] इस दमन के विरोध में 'रक्त-वाणी' भी गूंज उठी । गांधी गिरफ्तार हुए, तो प्रेमचंद की कलम तड़प उठी :

''अगर उनका खयाल है, कि यह आंदोलन वकील के बेटे के आदमियों का खड़ा किया हुआ है और उन्हें जेल में बंद करके या लाठी से पीटकर इसकी जड़ खोदी जा सकती है, तो यह उनकी भूल है । यह एक राष्ट्रीय आंदोलन है, यह भारतीय आत्मा के स्वाधीनता - प्रेम की विकल जागृति है । महात्मा गांधी क्यों भारत के हृदय पर राज्य कर रहे हैं ? इसीलिए कि वह इस विकल जागृति के जीते-जागते अवतार हैं । वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोत्तम आदर्श हैं । उन्हें जेल में बंद करके सरकार ने अगर कोई बात सिद्ध की, तो वह यह है कि जिस शासन में ऐसा देवतुल्य पुरुष भी स्वाधीन नहीं रह सकता, वह जितनी जल्दी मिट

जाय, उतना ही भारत के लिए और समस्त संसार के लिए अधिक कल्याणकारी होगा ।''[42]

इस सरकारी दमन के कारण जनता में निराशा की भावना फैलने लगी । प्रेमचंद ने इस निराशा को तोड़ा और आंदोलन में जीत को अवश्यंभावी बताया :

'' सबसे बड़ी बात, जो हमारी विजय को निश्चित कर देती है, वह 'एक' है । हम 'एक' पर हैं और 'एक' की हमेशा विजय होती है । यह एक अमर सत्य है । समय भी हमारे साथ है । यह डेमोक्रेसी का युग है । निरंकुशता की जड़ें खोखली होती जा रही हैं । संसार ने निरंकुश शासन का, या तो अन्त कर दिया, या करता जा रहा है ; अतएव समय भी हमारे साथ है ।''[43]

प्रेमचंद जनता के पत्रकार थे । जन भावना और जन-संघर्ष का उभार उनकी कलम में ओज और उत्साह लाता है । जन-संघर्ष का अभाव उनकी आत्मा को आत्मालोचन की ओर प्रेरित करता है । इस संघर्ष की शुरुआत में उनकी टिप्पणियाँ 'उत्साह' से भरी हुई थीं । लेकिन धीरे-धीरे यह आंदोलन कमजोर पड़ने लगा । सरकारी दमन तेज हुआ, जन-संगठनों के अभाव में प्रतिरोध का प्रचार कार्य भी मंदिधम पड़ने लगा, आर्थिक मंदी से सामाजिक कार्यकर्ताओं का उत्साह भी क्षीण होने लगा और राजनीतिक दृष्टि से गांधी-शक्ति कमजोर हुआ । इसके साथ ही साम्प्रदायिक दंगे (जो अब राजनैतिक अधिकारों के लिए होने लगे थे) होने लगे । कुलमिलाकर जनता में निराशा की भावना फैलने लगी । इसके बावजूद प्रेमचंद के मन में निराशा नहीं जम पायी थी । स्वराज्य के आदर्श का वैभव उनके मन-मस्तिष्क पर छाया रहा । लेकिन राजनैतिक नेताओं और कार्यकर्ताओं के प्रति आलोचना का स्वर फिर से उभरने लगा । यह स्वर पहले गौण किस्सों से शुरू हुआ और फिर उनकी 'राजनीति' के सामने भी प्रश्न लगने लगा । कठिनाइयों के अंतिम प्रेम से साहित्यकार प्रेमचंद ने अपनी आलोचना का पहला निशाना बनाया । उनके विचार और व्यवहार में सदा

थी । (विचार और व्यवहार की एकता उनके लिए एक प्रतिमान भी थी, जिसके आधार पर उन्होंने अपने समकालीन जीवन की आलोचना की थी) इसके अलावा वह आदर्श की 'पूर्णता' और 'पवित्रता' के हामी थे । वे किसी आदर्श को किसी भी मजबूरी में स्वीकृत नहीं कर पाते थे ।

'गांधीजी से बातचीत' (1939 ई0) करते हुए महाकवि निराला ने कहा था कि ''..... देश की स्वतंत्रता के लिए पहले समाज की स्वतंत्रता जरूरी है ।''[44] निराला और प्रेमचंद दोनों साहित्यकारों ने अपनी सर्जनात्मक कृतियों और वैचारिक निबंधों, सम्पादकीय टिप्पणियों के माध्यम से भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग की 'समाज की स्वतंत्रता' स्थापित करने और बढ़ाने का प्रयास किया है । 'समाज की स्वतंत्रता' से 'कर्म की स्वतंत्रता' आती है । सक्रिय और स्वतंत्र राजनीतिक नेता ही स्वाधीनता - आंदोलन को सही नेतृत्व प्रदान कर सकता है और कुल मिलाकर आम जनता में आत्म विश्वास और साहस पैदा कर सकता है । इसके लिए एक ओर राज-सत्ता के खिलाफ संघर्ष करना जरूरी है, दूसरी तरफ अपनी प्राचीन रूढ़ियों, अंधविश्वासों और अपने आप से संघर्ष करना जरूरी है । इसी से हम 'दैहिक पराधीनता' से ही नहीं 'मानसिक पराधीनता' से भी मुक्त हो पायेंगे । प्रेमचंद ने 1931 के शुरू से ही फिर इस 'मानसिक पराधीनता' को हटाने का प्रयास शुरू किया 'मानसिक पराधीनता'(जनवरी 1931) ; 'राष्ट्रीय कार्यों में गुलामी'(अप्रैल 1931); 'अंग्रेजी भाषा का रोग' (सितम्बर 1931) शीर्षक टिप्पणियों में प्रेमचंद ने अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के आधिपत्य की निन्दा की और राष्ट्रीय संस्थाओं में व्याप्त इसके आधिपत्य पर खेद व्यक्त किया ।[45]

फिर भी 1931 में प्रेमचंद कांग्रेस और गांधीजी के राजनीतिक कार्यक्रम के साथ रहे । फरवरी 1931 को 'कांग्रेस जिन्दाबाद' शीर्षक टिप्पणी लिखकर प्रेमचंद ने गांधी-इर्विन समझौते का समर्थन किया । मार्च में फिर कांग्रेस की तरफदारी करते हुए लिखा, '' कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो गया । एक दुःख शंका थी, कि शायद गांधी-इर्विन समझौते के विरोधी कुछ गुल न खिलायें,

पर वह शंका निर्मूल सिद्ध हुई ।..... सबसे अधिक प्रसन्नता पूर्ण स्वराज्य की उस व्याख्या से हुई, जो कांग्रेस ने एक प्रस्ताव के रूप में मंजूर की है । उसने उन शंकाओं का शमन कर दिया, जो कांग्रेस की नीति के विषय में कुछ लोगों को थी । अब कांग्रेस का ध्येय राष्ट्र के सामने है । वह गरीबों की संस्था है, गरीबों के हितों की रक्षा उसका प्रधान कर्त्तव्य है । उसके विधान में मजदूरों, किसानों और गरीबों के लिए वही स्थान है जो अन्य लोगों के लिए । वर्ग, जाति, वर्ण आदि के भेदों को उसने एकदम मिटा दिया है । हम कांग्रेस को इस प्रस्ताव के लिए बधाई देते हैं ।''[46] स्पष्ट है कि प्रेमचंद कांग्रेस के उतने ही साथ हैं, जितनी कि कांग्रेस गरीबों के साथ है ।

देश में दंगे होने लगे, तो प्रेमचंद ने इस द्वेष के खिलाफ आवाज उठाई और दंगे के कारणों को स्पष्ट किया । कानपुर में हुए भयानक दंगे का जिक्र करते हुए प्रेमचंद ने स्पष्ट घोषित किया कि '' बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आंदोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियां चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी ।''[47] असल में उसके पीछे अंग्रेजों की यह भेद नीति थी कि सरकार के बिना भारतीय शांतिपूर्वक रह भी नहीं सकते । प्रेमचंद ने सारा दोष सरकार के सिर पर डालकर ही संतोष नहीं कर लिया बल्कि उन्होंने राजनीतिक नेताओं की भूमिका को भी स्पष्ट किया और ललकार कर कहा कि '' हम खुद कांग्रेसमैन हैं । आज से नहीं, हमेशा से । असहयोग में हमारा विश्वास है, मगर हम यह कहने से बाज नहीं रह सकते कि कांग्रेस ने मुसलमानों को अपना सहायक बनाने की और उतनी कोशिश नहीं की जितनी करनी चाहिए थी ।..... मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गयी पर बेदिली के साथ । कांग्रेस ने ऐसी संभावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया । यह उसी अदूरदर्शिता का परिणाम है ।''[48] इसके लिए प्रेमचंद ने साम्प्रदायिक शिक्षा-प्रणाली में सुधार की जरूरत पर बल

दिया । प्रेमचंद ने यह भी कहा कि हम गलत इतिहास पढ़कर गलत धारणाएँ स्थिर कर रहे हैं । इसलिए सही इतिहास ही इसको दूर कर सकता है ।[49] इसके बावजूद प्रेमचंद ने स्पष्ट लिखा है कि स्वराज्य प्राप्त किये बिना ही जातिगत द्वेष को पूरी तरह नहीं मिटाया जा सकता । इसका कारण यह है कि ''देश को अपनी सारी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बीमारियों की एक ही अचूक औषधि देश पढ़ रही है और वह 'स्वराज्य' है और संसार का जनमत उसके साथ है ।''[50] इसलिए समस्त निराशाजनक परिस्थितियों के बावजूद 'स्वराज्य मिलकर रहेगा' (मई 1931) ।

इस समय देश में आतंकवादियों की कार्यवाहियाँ भी बहुत बढ़ गयी थीं । प्रेमचंद गांधी के साथ थे । और गांधी क्रांतिकारियों की हिंसा के विरुद्ध थे । महात्मा जी ने जो मार्ग बताया था, वह प्रेमचंद को ज्यादा व्यावहारिक लगा क्योंकि उसमें 'क्रांति की पीड़ामयता के बिना ही क्रांति के लाभ प्राप्त' होने की संभावना थी । इसलिए उन्होंने क्रांतिकारियों की आलोचना की । 'नया प्रेस बिल' (सितम्बर 1931) और बंगाल आर्डिनेंस (दिसम्बर 1931) पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने खासतौर से उन बम बाजों की आलोचना की जो ''दो चार कर्मचारियों की हत्या करके वह चाहे अपने को विजयी समझ लें, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है, उसका अनुमान करना कठिन है । यह न तो बहादुरी है, और न ईमानदारी, कि तुम तो आग लगाकर दूर खड़े हो जाओ और घर दूसरों का जले । संसार पर आज भी प्रेम और सत्य का राज्य है । आज भी अन्याय को न्याय के सामने सिर उठाने का साहस नहीं होता । महात्माजी ने प्रेम और अहिंसा का बल प्रदर्शित करके सारे संसार को चकित कर दिया है ।''[51]

सितम्बर 1931 को 'महात्माजी की विजययात्रा' पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है कि ''उनकी राजनीति और धर्मनीति दोनों एक हैं । यही कारण है कि वह समर में जितने वीर और साहसी हैं, संधि में उतने ही दूरदर्शी और दृढ़ ।''[52] इस पूरे वर्ष में प्रेमचंद की आशा के केन्द्र गांधीजी

रहे, कांग्रेस के अन्य नेताओं की, उसकी कार्यपद्धति की, यहाँ तक कि उसकी दूरदर्शिता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया — पर गांधी पर उनकी सहज आस्था जमी रही । इसी वर्ष तक प्रेमचंद के चिंतन का परिप्रेक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय बनता हो गया था । उन्होंने विश्व जनमत की शक्ति को महसूस किया था । समाजवादी देश रूस की उन्नति के प्रति अत्यंत प्रशंसा भाव उनमें था । रूस की उन्नति का आदर्श प्रेमचंद को आकर्षित करता है । उनकी आदर्श समाज-कल्पना ब्रिटेन और अमेरिकी समाज की नहीं थी, बल्कि सोवियत रूस के करीब थी । इस स्तर पर गांधीजी के रामराज्य की कल्पना से प्रेमचंद की कल्पना किंचित पर मौलिक रूप में भिन्न थी । इस भिन्नता का एहसास प्रेमचंद को बहुत दिनों तक नहीं था । बाद में धीरे-धीरे उन्हें इसका एहसास हुआ । जीवन के अंतिम दिनों में ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँच पाये कि आजादी की उनकी कल्पना कांग्रेस की कल्पना से अलग है ।

गांधीजी फिर गिरफ्तार हुए और सरकारी दमन बढ़ने लगा । इसके साथ ही समझौते की बातचीत भी चलने लगी । कांग्रेस स्वराज्य मांगती है । सरकार भी स्वराज्य देने के लिए तैयार है । फिर भी सत्याग्रह हो रहा है और दमन किया जा रहा है । इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रेमचंद ने अप्रैल 1932 में ('दमन की सीमा') 'हंस' में टिप्पणी लिखी कि आखिर कांग्रेस स्वराज्य क्यों मांगती है । '' वह केवल देश की सुखी देखना चाहती है ।'' लेकिन सरकार के लिए लगान और मालगुजारी प्रजा के सुख चैन से ज्यादा जरूरी चीज है । '' राष्ट्र जिस स्वराज्य का अर्थ प्रजाधिकारियों की वृद्धि समझता है, शासन पक्ष वाले उसी स्वराज्य का अर्थ शासनाधिकार वृद्धि बताते हैं ।''[53] इसीलिए ''कांग्रेस ने शायद पहलीबार प्रजाहित को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया था । जो लोग वर्तमान अनीति से फायदा उठा रहे हैं, उन्होंने कांग्रेस की शक्ति तोड़ने में राजनीति का पूरा जोर लगा दिया और अल्पसंख्यक वर्गों का एक संघ बना डाला, जो बहुमत को अल्पमत का देता है ।''[54] और भी कई

एवजी काम में लाये गये । ''बात यह है, कि ब्रिटेन राजसत्ता का अंश भी छोड़ना नहीं चाहता । कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है, जो वास्तविक रूप में जन-सत्ता चाहती है, जो जात-पांत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है ; जो दरिद्र किसानों के हित को सबसे ऊपर रखना चाहती है ; विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र को बलवान बनाना चाहती है ; जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि देश का शासन ; देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहें, हममें यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भांति जीवन न व्यतीत करे । हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की रुचानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही धन से पलनेवाले कर्मचारी हमी को कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी संस्कृति का निर्माण आप कर सकें । हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैंड में लोग रहते हैं । इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं । हम पश्चिमी सभ्यता की दुर्भिसंधियों को मिटाकर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं ; हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हों।''[55]

यहां सवाल उठता है कि पश्चिम की इन बुराईयों की जड़ क्या है । प्रेमचंद ने इस कारण-प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'भौतिकवादी' जीवन दृष्टि ही इसका मूल कारण है । भौतिकवाद के मूल में मनुष्य की स्वार्थ-बुद्धि और पशु बल का प्राधान्य है । भारत आध्यात्मिक है, भारतीय जीवन के मूल में नीति और धर्म है । इस स्वार्थ बुद्धि को औद्योगीकरण ने बल पहुंचाया । इससे मनुष्य अपने मूल रूप से अलग हट गया और उस पर कृत्रिमता का आवरण चढ़ गया । मनुष्य की मानवीयता पर पर्दा पड़ते ही मशीनी युग में स्वार्थ-बुद्धि विकराल रूप में प्रकट हुई और व्यवसायवाद और राष्ट्रवाद का उदय हुआ । राष्ट्रवाद ने अन्य देशों को गुलाम बनाने की ओर प्रेरित किया और व्यवसायवाद ने गुलाम देशों को माल बेचने वाला बाजार बना दिया । इन प्रवृत्तियों से साम्राज्यवाद का उदय हुआ और

भारत जैसे देश इसकी प्रवृत्ति की चपेट में आये । इस तरह भौतिकवाद = व्यवसायवाद = राष्ट्रवाद = साम्राज्यवाद का समीकरण बना । इस साम्राज्यवाद से संघर्ष करने के लिए आध्यात्मवाद का, धर्म का, नीति का सहारा लेना जरूरी है । चिंतन की यह पृष्ठभूमि प्रेमचंद की कुछ टिप्पणियों में जगह-जगह मिलती है ।[56] यह प्रेमचंद के अनुभवपरक चिंतन की सीमा है जिसने वस्तुस्थिति के दृश्यमान पक्ष को ही देखा है । वास्तविकता का एक दूसरा द्वन्द्वात्मक पक्ष भी है, जिसे प्रेमचंद नहीं देख पाये । अक्टूबर- नवंबर 1932 के 'हंस' में 'नवयुग' पर विचार करते हुए प्रेमचंद ने लिखा :

'' देवगति से वर्तमान संसार-संस्कृति का दीवाला निकल रहा है । साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं । जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कम्पन शुरू हो गया है । मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानव जीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलई खुलने लगी है । स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबंदी, जिसे आज राष्ट्र कहा जाता है, और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है ।''[57]

1932 का वर्ष प्रेमचंद के चिंतन में उत्साहहीनता का वर्ष रहा है । इस वर्ष उन्होंने स्वाधीनता - आंदोलन पर बहुत कम टिप्पणियां लिखीं । इसके बावजूद जो कुछ लिखा उसके मूल में स्वराज्य ही था । विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर 'जागरण' में कुछ टिप्पणियां लिखीं । 'अछूत पन मिटना चाहिए' (मई 1932), 'पर्दा थोड़े दिनों का मेहमान है' (मई 1932), 'तलाक की संख्या क्यों बढ़ती जाती है' (अगस्त 1932), 'हरिजनों के मंदिर प्रवेश का प्रश्न' (14 नवम्बर 1932), 'मद्यपान बंद' (19 सितम्बर 1932), 'काशी का कलंक' (5 अक्टूबर 1932), 'अछूतों को मन्दिरों में जाने देना पाप है' (21 नवम्बर 1932), 'मंदिर प्रवेश और हरिजन' (29 मई 1933)

आदि टिप्पणियों में प्रेमचंद ने यह बताया है कि उनके खिलाफ़ किया गया संघर्ष स्वराज्य के लिए संघर्ष है और स्वराज्य ही इन समस्याओं को अंतिम रूप से मिटा सकता है । इनके अलावा हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भी कुछ तात्विक विचार प्रकट किये गये हैं । प्रेमचंद ने इस समस्या के मूल में जनता की 'दरिद्रता' को रेखांकित किया है । उन्होंने अंग्रेजों द्वारा प्रचारित इस मिथ्या धारणा का विरोध किया है कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच शांति स्थापित करने के लिए किसी तीसरी शक्ति की जरूरत है । इसके बावजूद समकालीन समाज में निहित साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को भी उन्होंने पहचाना और उसकी भर्त्सना की ।[58]

इस वर्ष प्रेमचंद की नजर किसानों की 'वास्तविक' परेशानियों की ओर भी गयी और उस पर उन्होंने टिप्पणियां की । 'आराजी की चकबन्दी' (19 अक्टूबर 1932), 'किसानों की कर्जा कमेटी का प्रस्ताव' (12 अक्टूबर 1932), 'हत भागे किसान' (9 दिसम्बर 1932) में किसानों की हालत पर ध्यान दी गयी है । उनके दुख-दर्द की ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास इन टिप्पणियों में है । इसके अलावा जमींदारों की स्वार्थपरता और सरकार द्वारा जमींदारों के प्रति पक्षपात की भी चर्चा की गयी है । 'नयी परिस्थिति में जमींदारों का कर्तव्य' (29 अगस्त 1932), 'जमींदारी के जायदाद की रक्षा' (12 अक्टूबर 1932) में जमींदारों की प्रतिगामी भूमिका की आलोचना की गयी है । अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है :

'' हमें तो परिस्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की जरूरत है कि किसान सुखी और स्वस्थ रहें । जमींदार, महाजन और सरकार इनकी आर्थिक समृद्धि किसान की आर्थिक दशा के अधीन है । अगर उसकी आर्थिक दशा हीन हुई तो दूसरों की भी अच्छी नहीं हो सकती । किसी देश के सुशासन की पहचान साधारण जनता की दशा है । थोड़े से जमींदार और महाजन या राज्याधिकारियों की सुदशा से राष्ट्र की सुदशा नहीं समझी जा सकती ।''[59]

'स्वदेशी पर पुनर्विचार :

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की पहली संगठित अभिव्यक्ति स्वदेशी आंदोलन (1905) में हुई । तब से अब तक यह कार्यक्रम भारतीय जनता की सामान्य चेतना का अंग बन गया था । असहयोग के जमाने में भी और सविनय अवज्ञा आंदोलन के दिनों में भी 'स्वदेशी' का महत्व बढ़ता ही गया । सारी राजनीतिक पार्टियों और स्वदेश-प्रेमी साहित्यकारों ने देश भर में प्रचार किया कि प्रत्येक भारतीय को भारतीय वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए । इतिहास में मिले आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारत में यह भावना लगातार फैलती रही गई । इससे भारतीय उद्योग और व्यवसाय को बढ़ने में मदद मिली । लेकिन इसके साथ कुछ नवीन अनुभव भी जनता को मिले । वास्तव में मनुष्य की स्वार्थ-बुद्धि उत्तम से उत्तम सिद्धांत में से भी अपने लिए सुरक्षित स्थान खोज लेती है । स्वदेशी की बढ़ते प्रचार को देखकर भारतीय व्यापारियों और पूंजीपति वर्ग ने खूब फायदा उठाया । एक तरफ तो उसने जनता में 'स्वदेशी' के प्रचार-प्रसार का कार्य किया और दूसरी तरफ सरकार पर दबाव डालकर विदेशी वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगवाये और अपने लिए विशेष सुरक्षण की मांग की । इसके साथ ही साथ स्वदेशी वस्तुओं की कीमतें बढ़ा दी । प्रेमचंद ने इसको महसूस किया और इसके खिलाफ आवाज उठाई । यही नहीं, कुछ मक्कारियों ने असली स्वदेशी चीजों की जगह नकली माल भी बेचना शुरू कर दिया ।[60] 'जागरण' में 19 अक्टूबर 1932 को टिप्पणी करते हुए 'स्वदेशी की आड़ में लूट' की आलोचना की :

'' स्वदेशी वस्तुओं का दिन दूना प्रचार देखकर जहां हर्ष होता है, वहां यह देखकर खेद भी होता है कि ग्राहक के त्याग के भाव का व्यापारी समाज कितना अनुचित लाभ उठा रहा है । कोई स्वदेशी चीज खरीदिये, वह उसी दाम की विदेशी चीज से या तो गयी होगी, या अगर एक दाम हुए,

तो माल घटिया होगा ।..... अगर ग्राहक से त्याग करने की आशा की जाती है, तो मिल के करोड़पति मालिकों को क्यों कुछ त्याग करने की प्रेरणा नहीं होती ।..... 'स्वदेशी' राष्ट्र के प्रति व्रत है और इस व्रत का पालन दोनों ओर से होना चाहिए । मिल-मालिकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने माल को उसी त्याग भाव से सस्ता बेचने का उद्योग करें, जिस त्याग भाव से ग्राहक उनका माल खरीदता है ।..[6]

व्यवसायी और मिल-मालिक वर्ग अपने उसी ढर्रे पर चलता रहा। प्रेमचंद ने फिर आलोचना की । शक्कर मिलों में जब की खरीद का सवाल उठा, तो प्रेमचंद ने किसानों का पक्ष सामने रखा । ऊख बीच संरक्षण का सवाल उठा, कि सरकार देशी उद्योगों को संरक्षण दे । प्रेमचंद ने उसके पीछे निहित आर्थिक शक्तियों का विश्लेषण करते हुए कहा कि यह व्यापारियों का युग है, ग्राहक का कोई मूल्य नहीं । अतः यहाँ जो भी कानून बनते हैं वे भी उद्योगपतियों को ही ध्यान में रखकर बनते हैं । '' जब बाहर का व्यापारी आज सस्ता माल बेचता है, तो हमारी व्यापारी का भी यह दायित्व है कि अपनी मेहनत, सुप्रबंध और कार्यकुशलता से अधिक अच्छा और अधिक सस्ता माल पैदा करे । यह नहीं कि सरकार से संरक्षण की माँग करके, बाहर के सस्ते माल के मुकाबले जनता को अपना महँगा माल खरीदने पर मजबूर करे । प्रेमचंद ने लिखा कि इस तरह का संरक्षण देना 'जनता के साथ सरासर अन्याय' है । उसी समय भारतीय सूती उद्योग के मालिकों ने जापानी कपड़े पर टैक्स लगाने की माँग की थी । प्रेमचंद को सन्देह था कि अगर जापानी कपड़े पर टैक्स लगाया गया तो जापान को निर्यात होने वाली भारतीय रूई बन्द हो जायेगी। फिर भारतीय उद्योगपति भारतीय रूई का इस्तेमाल नहीं करते और न इंग्लैंड ही उसे खरीदने को तैयार है । ऐसे में भारतीय किसानों की रूई का क्या होगा? यह सवाल प्रेमचंद के मन में उठा और 'जागरण' में लगातार टिप्पणियाँ लिखकर उन्होंने भारतीय व्यवसायियों की इस मनोवृत्ति की आलोचना की । किसानों की

एस समस्या को ध्यान में रखते हुए 17 जुलाई 1933 के 'जागरण' में 'शक्कर सम्मेलन' पर टिप्पणी करते हुए लिखा है :

'' जब तक देश के सुदिन नहीं आते और सभी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता, पूंजीपतियों के हाथ में किसानों और मजूरों की किस्मत रहेगी और सरकार अधूरी मन से नियंत्रण करने का स्वांग भरकर कोई उपकार नहीं कर सकती । हम तो किसानों को यही सलाह देंगे कि वे खुद अपना संगठन करें और अपनी शक्कर अपनी सहकारी मिलों में बनाकर इस लूटपाट का पूरा फायदा उठावें, मगर किसानों का संगठन करे कौन । हम तो देख रहे हैं कि राष्ट्र के वे नेता, जिनसे इसकी आशा की जा सकती थी, शक्कर - कंपनियों के हिस्सेदार या संस्थापक बने हुए हैं, और पूंजीपतियों की ऐसियत से यह स्वाभाविक है कि वे ज्यादा से ज्यादा नफा अपनी गोट में रखने की कोशिश करें ।''[62]

देशी रजवाड़े :

ब्रिटिश सरकार ने सारे भारत को दो भागों में बांट दिया था । एक तो ब्रिटिश भारत और दूसरा देशी रियासतों का भारत । प्रेमचंद के साहित्य और उनके चिंतन के केन्द्र में ब्रिटिश भारत में निहित सामाजिक समस्याएँ रही हैं । परन्तु उन्होंने इन रजवाड़ों में व्याप्त समस्याओं को भी नजर अंदाज नहीं किया है । 'रंगभूमि' उपन्यास में विस्तार से उन्होंने देशी राजाओं की वास्तविक हालत बयान की है । 'हंस' और 'जागरण' की संपादकीय टिप्पणियों में भी इनको पर्याप्त स्थान मिला है । 23 मई 1933 के 'जागरण' में 'दलवा नरेश' शीर्षक टिप्पणी में लिखा :

'' अब कुछ वर्षों से हिन्दू राजाओं पर विचित्र विपत्ति आ रही है । ऐसा प्रतीत होता है कि कोई छिपी शक्ति उनके राज्य में विप्लव तथा हलचल मचाकर धीरे-धीरे उन्हें चौपट करने पर तुली है । और अभी तक, ऐसे कोई लक्षण नहीं प्रकट होते जिनसे यह कहा जा सके कि उस शक्ति को, षड्यन्त्र को किस प्रकार रोका जाय, दण्ड दिया जाय तथा हिन्दू राजाओं की रक्षा की जाय ।''[63]

अलवर में उपद्रव हुआ और सरकार ने हस्तक्षेप किया, जिसके कारण महाराजा अलवर को सन्यास लेना पड़ा । अव्यवस्था, और विलासिता के कारण जनता को कष्ट भोगने पड़े । अंत में प्रेमचंद ने बड़ी हमदर्दी के साथ टिप्पणी करते हुए लिखा है :

'' अपनी आँखों देख रहे हैं कि जर्मनी का कैसर अभी तक डेनमार्क में निर्वासित पड़ा हुआ है, जार का क्या हाल हुआ, स्पेन के राजा की क्या गत हुई, पुर्तगाल के राजा कहाँ भागे, लेकिन फिर भी आँखें नहीं खुलतीं । अगर हमारे महाराजों की यही नीति रही तो वह दिन दूर नहीं है जब इन सबों का निशान दुनिया से मिट जायगा और दुनिया को इसका बिलकुल खेद न होगा।''[64]

इसी तरह 'पटियाला नरेश का निर्वासन' (सितम्बर 1934), 'हमारी देशी रीतों का पतन' (जून 1934), 'देशी रजवाड़े' (फरवरी 1933), 'अलवर नरेश' (फरवरी 1933) आदि टिप्पणियों में इतनी पतनोन्मुख प्रवृत्ति को निराशाजनक सहानुभूति से वर्णित किया है ।

समाज में जमींदारों की भूमिका :

प्रेमचंद ने समाज में जमींदारों की भूमिका का सवाल बार-बार उठाया है इससे एक तरफ तो उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह वर्ग समाज के लिए अनावश्यक है, इस वर्ग का कोई भविष्य नहीं है, इसने अपनी हरकतों से अपने-आपको समाज का दुश्मन सिद्ध कर दिया है ; और दूसरी तरफ

जमींदार वर्ग को सलाह नुमा चेतावनी भी दी है कि अभी उन्हें अपने होने का कारण समाज के सामने स्पष्ट करना है, अपनी सार्थकता प्रमाणित करनी है। इसके अलावा जमींदार वर्ग के वास्तविक क्रियाकलापों को भी स्पष्ट किया है।

'जमींदारों की दुर्दशा' (22 जनवरी 1934) पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने उनकी तुलना उस रोगी से की है, जिसका यौवन अब 'चल-चलाव' पर है। सरकार ने जमींदारों से जितना फायदा उठा सकती थी, उतना उठा चुकी। अब सरकार समझ रही है कि इनका अस्तित्व सरकार के लिए भारी पड़ रहा है। अतः ये लोग 'जभी मौका मिला चट-पट एक संघ, सभा, ऐसोसिएशन बना लिया जाता है और लोग बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ बाँध और नीची अचकनें पहन और कमर में तलवार का पटका कस और दाढ़ियों में स्वामिभक्ति के तौप डालकर गवर्नरों के दरबार में हाजिर हो जाते हैं, और अपनी लायल्टी और भक्ति के पचड़े शुरू कर देते हैं।' लेकिन यह सब किसलिए ? इसलिए कि ये जनता पर मनमाना अत्याचार कर सकें, मनमाना लगान वसूल करें और कोई पूछने वाला न हो। लेकिन सरकार ने अपना शुरू कर दिया है कि लोग धारण करें, अपने को संगठित करें और जनता की भावनाओं का आदर करें, समाज में अपना स्थान खुद बनाओ। ''आपको अपने सामाजिक महत्त्व का क्रियात्मक प्रमाण देना पड़ेगा, केवल एजेंसी और ऐसोसी करके या नालिश करके या डंडे बाजी के जोर से लगान वसूल करके चैन की बंसी बजाना नहीं।..... आपका यह व्यवहार अगर किसी बात का प्रमाण है तो वह आपकी निरंकुशता, आपकी हृदय-शून्यता, आपकी अमानुषिकता, आपकी स्वार्थान्धता और आपकी वर्तमान विचारधारा से अनभिज्ञता का उज्ज्वल प्रमाण है।..[65]

कौंसिलों में ये जमींदार अपने को किसानों का प्रतिनिधि बताते हैं। ''सरकार भी उन्हें किसानों का स्वाभाविक नेता समझती है, लेकिन जब कोई ऐसा अवसर आता है, कि जमींदारों से किसानों को कुछ रियायत दिलायी जाय, तो ये स्वाभाविक नेता रस्सी तुड़ाने लगते हैं। ऐसा शायद ही कभी हुआ

हो कि जमींदार समुदाय ने कभी किसानों के प्रति न्याय का समर्थन किया हो।''[66]
'आगरा जमींदार सम्मेलन' (12 फरवरी 1934) पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने स्पष्ट लिखा है :

'' ऐसी मुफ्तखोर, निकम्मी, लुटेरी, आरामतलब संस्था बहुत दिन जीवित नहीं रह सकती, चाहे वह कष्ट धातु के सिंहासन ही में क्यों न अपने को बंद कर ले। जनता आज किसी का शिकार नहीं बनना चाहती, जमींदार हो या साहूकार, सरकार हो या मिल-मालिक उसे किसी से दुश्मनी नहीं है, उसे दुश्मनी करने की भी शक्ति नहीं, वह असंगठित है, दीन है, पराधीन है। कोई दल अपने को संगठित करके उस पर आतंक जमा सकता है। लेकिन अगर कोई यह चाहे कि उसे अपना शिकार भी बनाये और उससे वोट भी ले, उसे ठोकर भी जमाये और उससे पाँव भी दबवाये तो उसे लज्जित होना पड़ेगा।''[67]

यह प्रेमचंद के जमींदार-संबंधी दृष्टिकोण का सार तत्त्व है। बिहार में जमींदारों की सभा में भाषण करते हुए अंग्रेज न्यायाधीश ने कहा कि प्रजा को बड़े जमींदारों की अमलदारी में रहना, छोटे जमींदारों की अमलदारी में रहने के मुकाबले कम कष्ट का है। इस पर टिप्पणी करते हुए (छोटे जमींदार या बड़े ? नवम्बर 1933) प्रेमचंद ने स्पष्ट कहा कि 'छोटे शैतान से बड़ा शैतान हमेशा अधिक घातक होता है।' स्पष्ट है कि प्रेमचंद जमींदार को शैतान का अवतार मानते हैं।

किसानों के कष्ट :

प्रेमचंद के चिंतन के मूल में किसान की चित्त-कामना है। अतः वे जिस किसी भी समस्या पर विचार करते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं किसान होता है। स्वाधीनता आंदोलन पर लिख रहे हों, या साहित्यिक समस्याओं पर, सामाजिक रूढ़ियों के बारे में विचार कर रहे हों – बिना किसान

के उनका काम नहीं चलता । इसके अलावा उन्होंने अलग से भी किसानों की अपनी समस्याओं पर विचार व्यक्त किये हैं । 'किसानों का कर्जा' की समस्या हो, या महाजनों की समस्या हो, अकाल, महामारी , लगान-वृद्धि आदि समस्याओं पर उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है । किसानों के कर्ज पे सूद की दर तय होनी चाहिए, उन्हें जमींदारों के अत्याचार से बचाया जाना चाहिए, सरकारी लगान में मंदी-तेजी के अनुसार कमी-बेशी होनी चाहिए, उन्हें धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त करना चाहिए ।

एक ओर तो किसानों की यह परेशानियां हैं, दूसरी तरफ सरकारी कर्मचारी और जमींदार नये-नये आरोप किसानों पर लगाते हैं, जिससे किसानों की वास्तविक समस्या से ध्यान हटाया जा सके । ''निरक्षरता की दुहाई'(27 फरवरी 1934) इसी तरह का एक प्रयास है । इन लोगों के अनुसार भारतीय किसानों की इस बदहाली का कारण किसानों का निरक्षर होना है । प्रेमचंद ने इसका जवाब देते हुए लिखा :

'' किसान इसलिए तबाह नहीं है कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता । उसमें सबसे बड़ी कमी संगठन की है, जिसके कारण जमींदार, साहूकार अहलकार सभी उस पर आतंक जमाते हैं । लेकिन अगर कोई उनमें संगठन करना चाहे, जिसमें वे इन मुसीबतों से बचें और पंजे से छूटें, तो उस पर तुरन्त राजद्रोह का और किंग मैजेस्टी की प्रजा में विद्वेष पैदा करने का इलजाम लग जायगा और उसे जेल की हवा खानी पड़ेगी । किसान जब साक्षर हो जाय, जब तक वह इन समुदायों का मुकाबला नहीं कर सकता, उसका जीवन कभी सुखी न होगा । उसके पास चार पैसे देखकर जमींदार और अहलकार सभी की राल टपकने लगती है और

एक न एक कुल्हड़ निकालकर उसकी कमर खाली कर दी जाती है । अगर राष्ट्रीय का हौवा न खड़ा कर दिया गया होता, तो राष्ट्रीय सेवक किसानों में बहुत कुछ संगठन कर चुके होते । मगर बात तो यह नीति है कि प्रजा की राजनैतिक चेतना न जागने पावे, नहीं वह अपने हकों पर अड़ना सीख जायगी ।''[68]

एक तरफ तो यह नीति चल रही है और दूसरी तरफ 'गवर्नर बम्बई की शिकायत' (१९ सितम्बर 1933) है कि देहातों में जो कुछ काम हुआ है, वह सरकारी कर्मचारियों द्वारा ही हुआ है । सरकारी कर्मचारियों का जो अनुभव जनता को हुआ है, वह अत्यंत निराशाजनक है । अफसरों के दौरे सुनकर देहातियों के प्राण सूख जाते हैं क्योंकि सरकारी कर्मचारी सरकार की ही भाँति अपने को जनता का शासक समझता है । देहात में नेताओं के कार्यों की ओर संकेत करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है कि सरकार ने उनकी कार्यों में रुकावटें अटकायी हैं, क्योंकि ''देहातों की जागृति का अर्थ है जमींदार और हुक्काम के प्रभाव का कम होना । वह न सरकार सहन कर सकती है और न कर्मचारी । जागृति और लखोरी में परस्पर विरोध है ।''[69]

किसानों को महाजनों से बचाने के लिए सरकार ने किसान सहायक एक्ट पास किया । 16 अप्रैल 1934 के जागरण में टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा :

'' वह बिल बना था किसानों की रक्षा के लिए । मगर हुआ यह है कि किसान तो पीछे रह गये, बड़े-बड़े जमींदारों और ताल्लुकेदारों के हित की ही प्रधानता दे दी गयी । बेचारा किसान जहाँ का तहाँ रह गया ।''[70]

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान समाज - व्यवस्था कृषक - विरोधी है । और जब तक यह व्यवस्था कृषक-विरोधी रहेगी, देश का उद्धार नहीं हो सकता ।

साम्प्रदायिकता और संस्कृति :

प्रेमचंद साम्प्रदायिक-संघर्ष के जमाने में भी गिने-चुने साम्प्रदायिक-विरोधियों में से एक थे। उस युग में एक ऐसी हवा चली थी, पुनरुत्थानवाद का ऐसा आवेश जनता में आया था, जिसमें अच्छे-अच्छे प्रजातंत्रवादियों की पोल खोल दी थी। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता हिन्दू महासभा में चले गये थे। ऐसे समय में लगातार साम्प्रदायिकता विरोधी वैचारिक संघर्ष चलाने का 'साहस' विरले ही व्यक्तियों में था। प्रेमचंद ने 1921 से ही इस बात की चेतावनी दे दी थी कि यदि नेताओं ने इस बढ़ती हुई साम्प्रदायिक भावना को न रोका, तो यह 'स्वराज्य' प्राप्ति में सबसे बड़ी रुकावट सिद्ध होगी। राजनीतिज्ञों ने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण साम्प्रदायिकता बढ़ती चली गयी। ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिकता बढ़ती गयी, प्रेमचंद का साम्प्रदायिकता-विरोधी संघर्ष भी तेज होता गया।

साम्प्रदायिकता - विरोधी प्रेमचंद के चिंतन का पहले ही विश्लेषण किया जा चुका है। यहाँ प्रेमचंद के जीवन के अंतिम दिनों में लिखे गये, निबंधों पर ही विचार किया जायेगा। देश में तुलसी जयन्ती मनायी गयी, प्रेमचंद ने जुलाई 1933 में इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि 'गोस्वामी जी की रचनायें सनातन धर्म की ढाल हैं; पर सनातन धर्म सभाओं को देश-हित के मार्ग में रोड़े अटकाने से फुर्सत ही नहीं मिलती कि वे अपने अनन्य रोगों की ओर भी कुछ ध्यान दें। इस टिप्पणी को पढ़ते हुए ध्यान में रखना चाहिए कि प्रेमचंद आर्यसमाज के सदस्य रह चुके हैं। फिर भी उन्होंने तुलसी को हिंदी के 'लोकप्रिय महाकवि' होने के कारण उसे याद किया और याद करना आवश्यक समझा। इसी समय 'पाकिस्तान' की नयी-नयी मांग की जा रही थी। प्रेमचंद ने इस पर भी टिप्पणी की। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'इस्लाम का विष वृक्ष' किताब लिख दी। प्रेमचंद ने इस पुस्तक का सामूहिक विरोध करने की योजना बनायी और को राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाने

वाली पुस्तक बताया :

'' श्री चतुरसेन जी हमारे मित्र हैं । वह विद्वान हैं, मनस्वी हैं, उदार हैं, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि ऐसी —— और द्वेषपूर्ण रचनाएँ लिखकर अपनी प्रतिभा को और हिंदी भाषा को कलंकित न करें और राष्ट्र में जो द्रोह और द्वेष पहले ही फैला हुआ है, उसे आग न लगावें ।''[71]

हिन्दू-महासभा के भाई परमानंद ने भाषण दिया । 30 अक्टूबर 1933 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने इस पर टिप्पणी लिखी । फिर 'मुस्लिम लीग का अधिवेशन' हुआ तो उस पर 4 दिसम्बर 1933 को टिप्पणी लिखी । इन दोनों विरोधियों में निहित एकता को रेखांकित करते हुए प्रेमचंद ने लिखा :

'' बात यह है कि हिन्दू सभा और मुसलिम लीग दोनों में ऐसे लोग भी हुए हैं, जो या तो सरकारी नौकर या पेंशनर हैं । उनका मस्तिष्क नौकरियों और जगहों के सिवा कुछ सोच ही नहीं सकता । किसान और मजदूर के लिए उनके पास कुछ नहीं है, कोई निर्माणकारक स्कीम नहीं है, कोई क्रियात्मक उद्धार की नीति नहीं है ।''[72]

प्रेमचंद ने 15 जनवरी 1934 के 'जागरण' में 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' के आपसी संबंधों को रेखांकित करते हुए एक बहुत महत्वपूर्ण लेख लिखा । 'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है । उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है ।' वास्तव में हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए बेचैन हैं — प्रेमचंद ने कहा कि ऐसी 'पवित्र' संस्कृति का कहीं अस्तित्व नहीं है । उन्होंने बार-बार कहा कि जो लोग साम्प्रदायिकता की दुहाई देते हैं वे प्रत्यक्ष रूप से अँग्रेजी साम्राज्य के अस्तित्व

के समर्थक हैं अतः राष्ट्र विरोधी हैं । 'दोनों ही साम्प्रदायिक संस्थायें मध्यवर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों और पदलोलुपों की हैं ।उनका कार्य केवल अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें ।' इसलिए साम्प्रदायिकता का विरोध करते-करते वे 'संस्कृति' के भी विरोधी बन गये और बोले :

'जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है, न जरूरत । 'संस्कृति' अमीरों का, पेटभरों का, बेफिक्रों का व्यसन है । दरिद्रों के लिए प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है । उस संस्कृति में था ही क्या, जिसकी वे रक्षा करें ।'[73]

उस समय अंग्रेजी में 'इंडियन सोशल रिफॉर्मर' नामक पत्र निकलता था । उसने कहा कि साम्प्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी । जनवरी 1934 के 'हंस' में प्रेमचंद ने इस वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा :

'' अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है । हम तो साम्प्रदायिकता को समाज की कोढ़ समझते हैं, जो एक संस्था में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है ।'[74]

इसके अलावा मार्च-अप्रैल के 'जागरण' में प्रेमचंद ने 'हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य' शीर्षक दो- तीन टिप्पणियां लिखी । इन विचारों के बावजूद यह तथ्य है कि स्वयं प्रेमचंद भी अपने 'हिन्दू' होने से पूरी तरह उबर नहीं पाये थे — उनके भीतर भी 'हिन्दुत्व' की गहरी छाप थी —

जो सामान्य अवसरों पर तो उदारता के आवरण में छिपी रहती थी, पर पैशलाइट की स्थिति में प्रकट हो ही जाती थी । इस तरह के स्थलों को कई जगहों से उद्धृत किया जा सकता है । यहाँ सिर्फ दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे । 'अलवर नरेश' (29 मई 1933) शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचंद ने लिखा :

'' फिर भी, हम अलवरेन्द्र के साथ सरकारी व्यवहार को हिन्दू-नरेशों पर कुठाराघात समझते हैं । यह भी संभव है कि अलवरेन्द्र को यह अनुभव हो जायगा कि हिन्दुओं के हितों की हत्या का, उन्होंने अपने राज्य को मुसलिम राज्य बनाने का जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित सामने आ गया ।''[75]

इस उद्धरण को पढ़ने पर सामान्यतः यह प्रेमचंद का लिखा नहीं लगता, हिन्दू सभा के किसी सुधारक का लगता है । इसके अलावा यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि इन्हीं अलवर नरेश ने प्रेमचंद को अपना निजी सचिव बनने का प्रस्ताव किया था, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

इसके अलावा 8 जनवरी 1934 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने टिप्पणी लिखी — 'क्या हम राष्ट्रवादी हैं'। इसमें उन्होंने स्वीकार किया कि '' हम कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए हैं, और अभी तक उस संस्कार को न मिटा सकने के कारण किसी कायस्थ को चोरी करते या रिश्वत लेते देखकर लज्जित होते हैं ।''[76]

इन पंक्तियों से प्रेमचंद की ईमानदारी और उस आत्मस्वीकार का पता चलता है जो वे अपने साम्प्रदायिक और जातिगत संस्कारों के खिलाफ कर रहे थे । बने हुए जातिगत संस्कारों के मुकाबले हमारे लिये यह आत्मस्वीकार ज्यादा मूल्यवान है । निश्चय ही प्रेमचंद का यह आत्मस्वीकार उन अनेक

साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों से ज्यादा जकड़ा है, जो अपने इन संस्कारों को छुपाये रखना चाहते हैं । फिर भी इन संस्कारों की उपस्थिति उस युग के वैचारिक दबाव को ही सूचित करती है, प्रेमचंद की कमजोरी को नहीं ।

मोहभंग का काल (1933-1936) :

1932 के बाद प्रेमचंद के राजनीतिक चिंतन में एक ठहराव और छटपटाहट दिखायी देती है । उनके कुछ पुराने मूल्य टूटते हैं और उन्हें नये मूल्य ग्रहण करने में कठिनाई हो रही है । प्रेमचंद स्वराज्य - आंदोलन के एक सिपाही थे, इस कारण कांग्रेस के कार्यक्रम और गांधी जी के व्यक्तित्व के प्रति उनमें सहज आस्था थी । इसके अलावा बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की मूल्य-चेतना भी अभी तक बनी हुई थी । उस दशक के अन्य लोगों के समान प्रेमचंद भी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को एशिया के मुक्ति आंदोलन के रूप में देखते थे, और अंग्रेजी साम्राज्य की आलोचना की पृष्ठभूमि में यूरोपीय सभ्यता को देखते थे । वे कांग्रेस के अहिंसात्मक कार्यक्रम के समर्थक थे । 1917 की रूसी क्रांति के वह समर्थक थे और इस मामले में रूस के साम्यवादी समाज को भारत के लिए भी आदर्श मानते थे । वे आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के, भौतिकवाद के, व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद के विरोधी थे और प्राचीन कृषि सभ्यता और मानववाद के समर्थक थे । मानव की सहज देवी प्रकृति पर उन्हें आस्था थी और कुल मिलाकर उनमें मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था थी । यह रूप था लेकिन एक और चीज भी थी, जिसने एक-एक करके इन सारी आस्थाओं को खत्म कर दिया, या उनमें दरार पैदा कर दी, वह थी - आलोचना बुद्धि । इसके रहते प्रेमचंद किसी प्रवाह में नहीं बहे ; लेकिन 1933 से वे एक गहरे वैचारिक संकट से घिर गये । स्वराज्य के आदर्श होते हुए भी उनके मन में कांग्रेस के प्रति विरोध भाव बढ़ता जा रहा था । यह

विरोध अंत में विद्वेष की सीमा तक बढ़ जाता लेकिन उनके सामने एक ठोस समस्या थी । देश में उस समय कोई सशक्त राजनीतिक पार्टी नहीं थी, जो किसानों और मजदूरों की हिमायत करे । इसलिए प्रेमचंद के मन में यह आशंका बराबर बनी रही कि कांग्रेस का विरोध करते-करते वे कहीं साम्राज्यवाद के पक्ष में न चले जायँ । यह चिंता उनके राजनैतिक लेखन में बढ़ती ही जा रही थी । इससे उनमें अपनी अस्मिता की छटपटाहट और बेचैनी पैदा हुई ।

स्वराज्य का जो आदर्श प्रेमचंद ने असहयोग के जमाने में बनाया था, वह खंडित हो गया । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रजातांत्रिक देशों में जनता की परेशानियां देखकर प्रेमचंद का मन खट्टा हो गया । अमेरिका में हुए पूंजीवादी विद्रोह को उन्होंने चिंतित आंखों से देखा । जापान में जापानी किसानों की हालत जानकर उनको यह परेशानी और ज्यादा बढ़ी । इससे उन्हें भावात्मक और वैचारिक धक्का लगा कि 'स्वराज्य' प्राप्त करना ही काफी नहीं है, बल्कि किसानों के लिए स्वराज्य यानी 'सुराज' प्राप्त करना आवश्यक है ।

यूरोप बनाम एशिया के सिद्धांत को जापानी साम्राज्यवाद ने तोड़ दिया । उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद यूरोप का हो या एशिया का – उसकी प्रकृति हमेशा एक ही होती है — आम जनता का शोषण और अत्याचार । अतः एशिया के धोखे में रहकर जापानी साम्राज्यवाद का समर्थन करना मूर्खता है । इसके अलावा पश्चिम में हिटलर और मुसोलिनी के आगमन ने भी इस परेशानी को बढ़ाया । यूरोप वालों ने भारत की बर्बरता की ओर बार-बार संकेत किया था और यह स्थापित किया था कि 'स्वराज्य' यानी प्रजातंत्र भारत की प्रकृति के अनुकूल नहीं है । लेकिन प्रेमचंद ने देखा कि पश्चिम में भी हेमक्रिसी जम नहीं पा रही है — वहां भी हिटलर के जय जयकार सुनायी पड़ने लगे हैं । जापान और जर्मनी ने इस आस्था को भी हिला दिया ।

इसीलिए वे 'स्वदेशी' और राष्ट्रीय पूंजीवाद के मोह से भी छूटे और 'स्वदेशी' की आड़ से होने वाली लूट का पर्दा फाश किया । इन सब चीजों के दो परिणाम निकले — एक तो वह साम्यवादी विचारों के अधिकतर होते गये और दूसरी तरफ राजनीतिज्ञों से मोहभंग होता गया । राजनीतिक बनाम साहित्यकार, राजनीतिक क्रांति बनाम सांस्कृतिक क्रांति का सवाल इसी मनोभूमि से आया ।

1933 में प्रेमचंद ने अब तक हुए स्वाधीनता आंदोलन की पुनः परीक्षा करनी आरंभ की और उससे कई सार्थक निष्कर्ष निकाले । 'गोलमेज का मर्सिया' (23 जनवरी 1933) पर लिखते हुए प्रेमचंद ने लिखा :

'' हम समझ रहे थे पहाड़ खोदा जा रहा है तो कम से कम चुहिया तो निकलेगी ही । कितना तुमतराक किया गया । सर साइमन आये । महीनों उनकी हलचल रही । फिर गोलमेजों का ताता बंधा । राजे-महाराजे, मैं – तू, ऐरा गैरा नत्थू खैरा सब जमा हुए, और तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कि कुछ नहीं । चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो होता, देखते कैसे दौड़ती है, कैसे उछलती है । लेकिन कुछ भी न हुआ । फेडरेशन का हाथी जहाँ था, वहीं खड़ा घूम रहा है, बल्कि कई कदम पीछे हट गया । वायसराय के अख्तियार ज्यों के त्यों, फौज का मामला ज्यों का त्यों, माल का विषय ज्यों का त्यों । हाँ, पहाड़ खोदने से मंदक अवश्य निकल आयी । और उस साम्प्रदायिकता की मंदक में सारा देश डूब गया ।''[77]

प्रेमचंद ने 'हंस' के जनवरी 1933 में '1932' शीर्षक एक टिप्पणी लिखी है । एक बड़ी आशा के बाद उत्पन्न हुई गहरी निराशा इस देश की भाषा और भाव में दिखायी देती है । उसमें देश की निराशा-जनक परिस्थितियों का बयान करते हुए अंत में लिखा :

'' अस्तु, यह वर्ष असफलताओं का वर्ष रहा, जिसने जो किया, असफल रहा, चाहे कौंसिल का आंदोलन, सरकार का दमन, निरस्त्रीकरण सम्मेलन, या गोलमेज सम्मेलन ही क्यों न हो । 1932 अपनी सम्पूर्ण असफलता और अशांति का नये वर्ष के जिम्मे छोड़ गया है । आओ 1933, तुम अपनी समस्याओं से

संघर्ष की ।''[78]

नये वर्ष का बजट मार्च में आने वाला था । प्रेमचंद ने 'जागरण' में 13 फरवरी 1933 को टिप्पणी लिखी । उसमें उन्होंने बजट की जन-विरोधी प्रकृति को स्पष्ट किया है और सरकार से लगान में छूट की मांग की है । उस समय सारे राष्ट्रीय नेता जेल में थे । चारों ओर से राजनैतिक नेताओं की रिहाई की मांग की जा रही थी । प्रेमचंद ने भी राष्ट्रीय पत्रकार का कर्त्तव्य निभाया । और अपना पक्ष सीलकर सामने रखा । उसी समय कलकत्ता - कांग्रेस का निश्चय भी हुआ था, जिसमें सत्याग्रह के कार्यक्रम पर पुनर्विचार किया जायेगा। प्रेमचंद इस पक्ष में थे कि जब सत्याग्रह चल नहीं सकता, तो उसे जिद की तरह नहीं रखना चाहिए । 5 जून 1933 को 'जागरण' में प्रेमचंद ने लिखा :

'' कांग्रेस ने सत्याग्रह द्वारा वर्तमान शासन प्रणाली के प्रति जनता के भाव को व्यक्त कर दिया । निस्सन्देह लड़ाई कई वर्षों तक चल चुकी । यद्यपि पराधीनता में सुख नहीं है, पर मनुष्यता को अधिक क्षुब्ध से अधिक क्षुब्ध शांति मिलती है । अब जनता विश्राम चाहती है । उसे अपना व्यापार, अपना कारोबार, अपना घर-बार संभालना है ।..... यह स्वाधीनता का संग्राम एक दिन की वस्तु नहीं, सदियों का झमेला है । तब तक, लोगों को अपने अबोध शिशुओं को, अपनी गृह-देवियों को भूखों मारने के लिए न कहिये ।''[79]

उस समय राजनीतिक और बौद्धिक वातावरण में यह एक नया सवाल सामने आया । कुछ लोग इस मत के थे कि जब हमने सत्याग्रह शुरू किया, उस वक्त परिस्थिति आज से कहीं अच्छी थी । जब उस वक्त हमने संघर्ष का निर्णय लिया तो अब तो हमें और ज्यादा जोर से लेना चाहिए । प्रेमचंद का मत इनके विरोध में था । प्रेमचंद का मूल्यांकन 28 जून 1933 को यह था कि

'सत्याग्रह आंदोलन भ्रांति थी । यह मान लेने में कोई संकोच न होना चाहिए कि भ्रांति असफल हो गयी ।'[80] प्रेमचंद यह मानते थे कि इस आंदोलन को जो प्रभाव होना था, वह हो चुका । पिकेटिंग का अब

कोई असर नहीं हो सकता क्योंकि विलायती कपड़े बेचने वालों का नया बाजार खुल गया है । सरकारी नौकरियाँ हम छोड़ नहीं सकते क्योंकि हमारी आई-गयी सरकारी नौकर हैं और वे हमारी बाल-बच्चों का पालन पोषण करते हैं । लगानबन्दी व करबन्दी का भी असर नहीं हो सकता । यहाँ तक '' नमक का टाक्स भी ले लिया जा चुका और उसे सरकार की बेवकूफी से जो सफलता मिल गयी, उसकी अब आशा नहीं की जा सकती ।''[8] इसलिए प्रेमचंद का मत था कि कांग्रेस अब कौंसिलों में जाये और रचनात्मक कार्यक्रम करे । यह सही है कि वैध आन्दोलन को देश का बड़ा कड़ुवा अनुभव रहा है, फिर भी बल उसके सिवा और कोई चारा नहीं है । सरकार ने दमन की शक्ति अपने हाथ में ले ली है, जिसके कारण आजकल भारत एक अर्द्ध सैनिक शासन के अन्दर रह रहा है । ऐसे में वैध आंदोलन की उपयोगिता और बढ़ जाती है । इसलिए जून 1934 में कांग्रेस ने जब सत्याग्रह आंदोलन वापस ले लिया, तब प्रेमचंद ने उसका समर्थन किया । यह समर्थन समझौतावादी विचारधारा के कारण नहीं किया गया था, बल्कि इसके पीछे देश के यथार्थ की वास्तविक समझ काम कर रही थी ।

17 अप्रैल 1933 के 'जागरण' में 'अविश्वास' शीर्षक एक टिप्पणी लिखी । इसमें उन्होंने स्वराज्य के प्रचलित अर्थ की मीमांसा की है । और इस प्रकार 'आर्थिक स्वराज्य' की माँग को सामने रखा है । उस समय के प्रेस आर्डिनेन्सों को ध्यान में रखते हुए प्रेमचंद के इस साहस की दाद देनी पड़ती है ।

'' अंग्रेजी सरकार से भारत को अनेक लाभ भी हुए हैं, जिनका सदैव कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करना होगा, पर इस दुर्भाग्य के लिए कौन क्या जाये कि भारत की आर्थिक दुर्दशा अंग्रेजी-राज्य के समय में ही हुई और यही नहीं, उसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी अंग्रेजी सरकार के सिर है । और भारतीयों का ऐसा विश्वास हो गया है कि अपना शासन अपने हाथ में आने पर वे अपनी

दरिद्रता में अधिक योग्यता के साथ लड़कर उसका निराकरण कर सकेंगे। भारतीय अर्थशास्त्री यह बतलाता है कि अंग्रेजी सरकार अपने देश के स्वार्थ की बलि कर भारत का कल्याण नहीं कर सकती।''[82]

प्रेमचंद इन टिप्पणियों के माध्यम से शिक्षित समुदाय की सामान्य चेतना का विकास करना चाहते हैं। उनका यह प्रयास रहा है कि किसी तरह इन सामाजिक-राजनीतिक जटिलताओं को जनता समझ ले। ऐसे में कुछ विषयों को सरल कर देने से कई बार उस विषय की जटिलता मारी जाती है और कई पक्ष अनदेखे छूट जाते हैं — प्रेमचंद को इसकी चिंता नहीं है। प्रेमचंद ने कई वर्षों तक अध्यापक का धंधा किया था — अतः समझा-समझा कर और दुहरा-दुहरा कर कहने की पद्धति भी उनमें आ गयी थी।

5 जून 1933 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने 'सत्याग्रह' शीर्षक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने कांग्रेस के भीतरी संघर्ष को उजागर किया है। प्रेमचंद ने इसमें कहा है कि कांग्रेस में बहुत से कार्यकर्ताओं का यह विचार है और कुछ अंश तक सत्य है कि अछूतोद्धार आंदोलन को वर्तमान रूप देकर गांधी जी ने सत्याग्रही तथा सरकार विरोधी कांग्रेसियों के लिए केवल दो ही मार्ग छोड़े हैं — एक तो यह कि वे देश सेवा करें, झण्डा उठायें और जेल चले जायें या फिर हरिजन सेवा करें — और यह कोई नहीं कह सकता, कि हरिजन सेवा देश सेवा से बढ़कर है। इस टिप्पणी में प्रेमचंद गांधी जी के साथ हैं और उनकी दैवीय प्रेरणा की सत्यता में विश्वास करते हैं। वे हरिजनोद्धार का भी समर्थन करते हैं। प्रेमचंद ने देश में व्याप्त इस नेतृत्वहीन निराशाजनक हालत के प्रति काफी चिंतित हैं।

इस सत्याग्रह की भ्रांति के विफल हो जाने की व्याख्या करते हुए 31 जुलाई 1933 में प्रेमचंद ने एक टिप्पणी लिखी :

'' भावी कार्यक्रम के लिए एक प्रस्ताव''। इस टिप्पणी में उन्होंने यह रेखांकित किया कि हमारे राजनैतिक जीवन और यथार्थ जीवन में कितना अलगाव है। यदि हमें स्वराज्य-संग्राम में विजय प्राप्त करनी है, तो हमको

VP-2 :187

पहले इस दूरी को पाटना होगा । इस दूरी से तो यही लगता है कि राष्ट्र में अभी स्वतंत्रता की प्यास जगी नहीं ।[83] एसे अभी देश की जनता में स्वराज्य की वास्तविक आकांक्षा को जनता के वास्तविक जीवन का अंग बनाना है ।

राजनैतिक हलकों में यह बहस अभी चल ही रही थी कि महात्मा गांधी ने वक्तव्य देकर कहा कि सत्याग्रह के असफल होने का कारण कार्यकर्ताओं की अयोग्यता है । प्रेमचंद भी स्वराज्य - संग्राम के एक कार्यकर्ता और गांधीजी के समर्थक थे । उन्होंने इस पर 'जागरण' में 'ठेलम ठाला' (16 फरवरी 1934) की टिप्पणी लिखी और गांधीजी की खुलकर पहली बार आलोचना की । वैसे तो प्रेमचंद के मन में इस सारे आंदोलन की प्रक्रिया से गंभीर मतभेद उठ्ठे ही रहे थे, समाजवाद की ओर उनका वास्तविक झुकाव बढ़ता जा रहा था, परन्तु अब तक उन्होंने खुलकर गांधीजी की आलोचना नहीं की थी । प्रेमचंद ने लिखा कि अगर स्वराज्य की सुघड़ सुशीला बहू घर में आ जाती, तो आज सबके सब बगलें बजाते, महात्माजी घर-घर राम और कृष्ण की तरह पूजे जाते, कार्यकर्ताओं को बधाइयां मिलतीं । मगर बहू थी सर्वगुणों का सागर, कला की खान, तमाम का पिंडा । तब इसकी जिम्मेदारी लोग एक दूसरे पर डालकर खुद बेदाग बचना चाहते हैं :

'' शिक्षित समाज ने महात्माजी को समझने में गलती की, तो वे क्षम्य हैं । महात्माजी गोरी जाति से सत्याग्रह की लड़ाई में विजयी होकर लौटे थे । उनके त्याग, विचार और देवत्व का हाल पत्रों में पढ़-पढ़कर सारे देश को उनसे श्रद्धा हो गयी थी । जब उन्होंने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली, तो राष्ट्र ने अपने को धन्य समझा, और अपनी आत्मा को उनके हाथ में देकर खुद उनके पीछे चलने में ही राष्ट्र का हित समझा । विचार एक दुर्लभ वस्तु है और किसी ही के हिस्से में आता है । महात्माजी जैसा दिमाग पाकर, फिर कौन सोचता और क्या सोचता ?..... महात्माजी ने

अपने आंदोलन की कमजोरी को स्वीकार करके अपना नैतिक साहस दिखलाया है, लेकिन उसके अपयश लेने का इलजाम कार्यकर्ताओं के सिर मढ़ने की कोई खास जरूरत न थी । जिन लोगों ने तेरह साल तक हर तरह की कठिनाइयां झेलकर, अपने को तबाह करके, अपने स्वार्थ को मिटाकर इस आंदोलन को चलाया, उनसे अब यह कहना कि तुम इस काम के योग्य नहीं, और तुम्हारी कमजोरी से यह आंदोलन फेल हो गया, उनका दिल दुखाना है । यह क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता कि जिस स्वराज्य के लिए हमें उसकी इच्छा थी देश में उतनी बलवती नहीं हुई है कि बाधाओं का सफलता के साथ सामना कर सके । अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्माजी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की संभावना नहीं, यह बहुत भारी की चीज नहीं है, क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है ।''[84]

प्रेमचंद इस मत वालों के साथ थे कि आंदोलन बन्द कर दिया जाय । जून 1934 को कांग्रेस कमेटी ने इस आंदोलन को बन्द कर दिया । मई 1934 को प्रेमचंद ने 'जागरण' साप्ताहिक बन्द कर दिया था, अतः तब से तात्कालिक घटनाओं पर लिखी गयी उनकी टिप्पणियां कम हो गयी । 'हंस' में दो वर्ष तक वे लिखते रहे – पर दूसरे मूड में ।

प्रेमचंद और समाजवाद :

अभी तक जानबूझकर प्रेमचंद के समाजवादी विचारों को छोड़ा जा रहा था । सवाल यह उठता है कि क्या प्रेमचंद समाजवादी थे ? या प्रेमचंद गांधीवादी थे ? या इस सवाल को इस तरह भी रखा जा सकता है (और रखा भी जाना चाहिए) कि प्रेमचंद में समाजवाद और गांधीवाद का कौन सा रूप था और उनके चिंतन में वह किस रूप में प्रकट हुआ ? आरंभ में उन्होंने कांग्रेस पार्टी को एक तरह की गरीबों की संस्था मान लिया था, बाद के अनुभव ने इस विश्वास को तोड़ा । यह टूटन की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों तेज होती

गयी, प्रेमचंद का यथार्थ-बोध ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, त्यों-त्यों वे समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत सभ्यता समीक्षा के करीब आते गये । इसलिए प्रेमचंद को ठीक-ठीक जानने के लिए उनके द्वारा की गयी कांग्रेस की आलोचनाओं की प्रकृति जानना जरूरी है और दूसरी तरफ समाजवाद के पक्ष में दिये गये तर्कों के वास्तविक महत्व को समझना है ।

1932 से ही प्रेमचंद ने कांग्रेस के कार्यों की आलोचना शुरू कर दी थी । तब से यह आलोचनाएं बढ़ती ही गयी हैं । इन आलोचनाओं की कुछ झलक हम पहले भी दे आये हैं । 9 अक्टूबर 1933 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने 'कांग्रेस और सोशलिज्म' शीर्षक टिप्पणी लिखी । इसमें प्रेमचंद की 'मिश्रा चेतना' का पता चलता है । इसमें उन्होंने नेहरू और गांधी के मतभेद के सवाल को उठाया है :

'' रहा, सोशलिज्म, वह तो महात्माजी और पं० जवाहरलाल नेहरू में केवल मात्रा का भेद है । महात्माजी तो सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्युनिज्म से भी । वह अपरिग्रहवादी हैं ।..... बीसवीं सदी सोशलिज्म की सदी है जो संभव है आगे चलकर कम्युनिज्म का रूप धारण कर ले । भारत जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है, जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मजदूर हैं, सोशलिज्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है । अगर आज कांग्रेस पार्टी का रेफरेन्डम हो तो हमारा ख्याल है, बहुमत, सोशलिज्म का होगा, पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज्म भी नजर आयेगा ।''[85]

इस पर टिप्पणी करने की जरूरत नहीं है कि गांधीजी का रामराज्य और मार्क्स के समाजवाद की धारणा परस्पर विरोधी है । अब कम से कम यह तय हो गया है कि कांग्रेस का कार्यक्रम राष्ट्रीय बुर्जुआ-वर्ग के हितों का पोषक था — किसानों और मजदूरों के हितों का नहीं । फिर भी प्रेमचंद के मन में भी शंका ने जन्म लिया और 30 अप्रैल 1934 को उन्होंने कांग्रेस में निहित आन्तरिक वर्ग-संघर्ष को रेखांकित करते हुए लिखा :

'' अब तक कांग्रेस का केवल राजनैतिक पहलू ही हमारे सामने था । उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू पर विचार करने की उस समय हमें फुर्सत थी न थी, पर आज कोई योजना केवल राजनैतिक आधार पर नहीं बन सकती । उसे आर्थिक समस्याओं का भी फैसला करना पड़ेगा, तभी उसके रंग और ढंग मालूम होंगे । और लोग उसके विषय में अपनी राय कायम कर सकेंगे ।''[86]

इसके बाद 14 मई 1934 को लिखा :

'' यह भी निश्चित-सा मालूम होता है कि उम्मीदवार वही सज्जन बनाये जायेंगे, जो जेल हो आये हैं, और बराबर लड़ाई में शरीक थी रहे हैं । अगर ऐसा किया गया, तो यह कांग्रेस की पहली स्वार्थपरता होगी।''[87]

इसी समय भारत से बर्मा के पृथक्करण का सवाल उठा था । इस पर प्रेमचंद ने कांग्रेस की आलोचना की । 88 विदेशी कपड़ों पर कांग्रेस की मुहर लगी हुई थी, उसे धुलवाने की सलाह भी प्रेमचंद ने दी । 29 सितम्बर 1934 को प्रेमचंद ने बम्बई कांग्रेस में जैनेन्द्र को बुलाते हुए लिखा : ''यहाँ कांग्रेस में आ रहे हो न ? कांग्रेस अब बेजान-सी चीज होती जा रही है । मगर तमाशा तो रहेगा ही ।''[89]

इससे पहले उन्होंने बराबर जवाहरलाल नेहरू के समाजवादी विचारों का समर्थन किया । 11 दिसम्बर 1933 को समाजवाद का पक्ष लेते हुए उन्होंने लिखा :

''..... हिन्दू सोशल लीग भी हिन्दू-सभा की भाँति पूँजीपतियों की संस्था है, और वह समाजवाद का विरोध देश के हित को सामने रख कर नहीं, हिन्दू जनता के हित के लिए नहीं, बल्कि थोड़े से हिन्दू पूँजीपतियों को सामने रखकर कर रही है । पूँजीपति क्या हिन्दू क्या मुसलमान एक ही है । उनकी विचार शैली एक, उनकी स्वार्थ-लिप्सा एक । उनका उद्देश्य जनता को लूटकर अपनी जेब भरना है । जनता की आर्थिक जाग्रति उन्हें अपने स्वार्थों

के प्रतिकूल नजर आती है । वे चाहते हैं कि जनता सदैव इसी दशा में रहे और वे सदैव उसका खून चूसते रहें । उनका राष्ट्र प्रेम केवल धोखे की टट्टी है ।''90

प्रेमचंद देश को केवल 'स्वाधीन' बनाना ही नहीं चाहते थे, केवल अंग्रेजों को निकाल बाहर करना ही नहीं चाहते थे, बल्कि किसानों के भाग्यवाद को जो 'सरकार का सबसे बड़ा टैक्स कलेक्टर' है, भी मिटाना चाहते थे । इसलिए उनका यह मत होता जा रहा था कि '' किसान के लिए लगान का आधा हो जाना उतना उपकार नहीं है, जितना अन्धविश्वास और मिथ्या रस्म रिवाजों से मुक्त होना या नशे से परहेज करना ।..... जेम्स की जगह मि० नायडू के आ जाने से जनता का क्या उपकार होगा।''91

इसका कारण यह है कि प्रेमचंद समाजवाद द्वारा प्रस्तुत सभ्यता समीक्षा को सही मानते हैं । आधुनिक जीवन में 'जीवन-संघर्ष' की भीषणता का एहसास कर चुके हैं । वर्तमान जीवन में व्याप्त दुःख का नया और मूल कारण यह जीवन-संग्राम है, जिसमें किसी से सहानुभूति की आशा नहीं की जा सकती । समय ही धन है, व्यापार व्यापार है, के नये जीवन-मूल्य समाज में अति जा रहे हैं । 'अंधा पूंजीवाद' (नवम्बर1933) दैत्य की तरह सारी दुनिया में छा रहा है । सेठ पुनपुनवाला और मि० बुल दोनों ही जनता के लिए समान हैं । इसलिए अहिंसा-प्रेमी प्रेमचंद ने भी लिखा :

'' यह आशा करना कि पूंजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है । इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा ।''92

पूंजीवादी सभ्यता के मूल आधार की व्याख्या करते हुए उन्होंने 27 नवम्बर 1933 को लिखा : '' जब तक सम्पत्ति मानव-समाज के संगठन

का आधार है, संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । राष्ट्र-राष्ट्र की, भाई - भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है ।''[93] यही नहीं, संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस समय फासिज्म और नाजीज्म का उदय हुआ । इसके अलावा रूस में साम्यवादी समाज ने उन्नति के पिछले सारे रिकार्ड तोड़ दिये । फासिज्म पहले-पहल समाजवाद की खोल ओढ़कर आया — सो अन्य कई बुद्धिजीवियों की तरह प्रेमचंद भी पहचान नहीं पाये । इसलिए उन्होंने फासिज्म को 1933 तक कम्युनिज्म के ही साथ स्थान दिया । बाद में धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों हिटलर की गतिविधियां बढ़ी, त्यों-त्यों प्रेमचंद की कलम भी फासिज्म का विरोध करने लगी । 'जर्मनी का भविष्य' (20 मार्च 1933), 'जर्मनी में यहूदियों पर अत्याचार' (10 अप्रैल 1933), 'हिटलर की तानाशाही' (जुलाई 1934), 'जर्मनी में अनार्यों का अधिकार' (16 अगस्त 1933), 'अंग्रेजी फासिस्ट दल की नीति' (16 अप्रैल 1934) और 'अमर कवि गेटे का अपमान' (नवम्बर 1935) शीर्षक टिप्पणियों में फासिज्म के आर्थिक - राजनीतिक पहलुओं को सामने रखा ।

एक तरफ फासिज्म का उदय और दूसरी तरफ साम्यवाद का प्रचार और प्रसार — इनके बीच संसार झूल रहा है । प्रेमचंद ने इस ऐतिहासिक सत्य को पकड़ा और मई 1933 के 'हंस' में 'संसार की दो नयी प्रगति' पर टिप्पणी लिखी ।[94] दुनिया में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव पर उन्होंने हर्ष व्यक्त किया है । 'रूस का भाग्य-विधाता' (31 अगस्त 1932) में स्टालिन की तारीफ की है । 'रूस में समाचार पत्रों की उन्नति' (21 अगस्त 1933), 'रूस का नैतिक उत्थान' (जनवरी 1934) आदि और भी टिप्पणियां उन्होंने लिखी । 29 जनवरी 1934 को उन्होंने दुनिया की 'एक झलक रूस' टिप्पणी में एक संवाददाता की सम्मति दी है '' ऐसा मुश्किल से कोई समझदार आदमी मिलेगा, जिसमें जरा भी विचार शक्ति है, जो वर्तमान

परिस्थिति का साम्यवादी विश्लेषण न स्वीकार करता थी ।''95 इस कारण भी वे डेमक्रेसी यानि जनसत्ता के विरोधी हो गये क्योंकि यह जनसत्ता वास्तव में धनसत्ता हो गयी थी । ।। दिसम्बर 1933 को उन्होंने लिखा '' आज संसार में पूंजीवाद की जड़ें खोखली हो रही हैं और उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए समाजवाद से समझौता करना पड़ रहा है । फासिज्म और नाजिज्म इस समझौते के रूप हैं । पर लक्षण बता रहे हैं कि निकट भविष्य में आजका का पूंजीवाद जमीन पर पड़ा होगा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही होगी ।''96 भावी महासमर के बादल मंडरा रहे हैं, साम्राज्यवादियों की स्वार्थ-लिप्सा बढ़ रही है, लेकिन भविष्य मानवता का, समाजवाद का है — साम्राज्यवाद का नहीं ।

इसके अलावा समकालीन राजनीतियों की राष्ट्र भाषा नीति की आलोचना प्रेमचंद ने खुब की है । आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में 'हिन्दी - उर्दू की एकता' पर भाषण देते हुए उन्होंने समकालीन समाज में समकालीन राजनीतिज्ञों की भूमिका पर विचार करते हुए कहा है :

'' राजनीति के पण्डितों ने कौम को किस दुर्दशा में डाल दिया है, वह आप और हम सभी जानते हैं । अभी तक साहित्य के सेवकों ने भी किसी - न - किसी रूप में राजनीति के पण्डितों को अगुआ माना है और उनके पीछे-पीछे चले हैं । मगर अब साहित्यकारों को अपने विचार से काम लेना पड़ेगा । सत्य, शिव, सुन्दर के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा । सियासियात ने सम्प्रदायों को दो कैम्पों में खड़ा कर दिया है । राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें । उनमें मेल होना उसकी मृत्यु है ।''97

जीवन के अंतिम दिनों में प्रेमचंद ने समकालीन समाज की समीक्षा करते हुए उसे 'मशीनी सभ्यता' का समाज कहा है । इस सभ्यता

में व्याप्त ऐसा - प्रेम ने मनुष्य को जड़-पशु मात्र बना दिया है । इस पैसे की महिमा के कारण सारी सामाजिक संबंधों के मूल में 'विज़नेस' की धारणा आ गयी है । इस सभ्यता के विरुद्ध एक नयी सभ्यता का उदय हो रहा है । प्रेमचंद नयी सभ्यता में मानवता का भविष्य देखते हैं । 'महाजनी सभ्यता' के अंत में प्रेमचंद ने जो लिखा है, वह उनके राजनैतिक चिंतन का अंतिम और विकसित बिन्दु है :

'' धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी । यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है — यह तर्क नितांत असंगत है । ईसाई मजहब का पौधा यरुशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से भर गई । बौद्ध - धर्म ने उत्तर-भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरुदक्षिणा दी । मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है । छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है, पर मूलतत्व की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव-जाति में कोई भेद नहीं । जो शासन-विधान और समाज व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी । हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उनके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बरगलायेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे ; पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी ।''[98]

प्रेमचंद के चिंतन की यहाँ संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का ही प्रयास किया गया है । अतएव में उन्होंने पत्रकार जीवन में जो टिप्पणियाँ लिख दी थी, उन्हीं को व्यवस्थित करने का प्रयास है । प्रेमचंद ने स्वयं व्यवस्थित रूप से अपने समकालीन समाज के बारे में नहीं लिखा । अतः यह संभव है कि उनके चिंतन का बहुत बड़ा हिस्सा बिना अभिव्यक्ति पाये ही रह

गया थी — जिसे समय और सुविधा के अभाव में वे न लिख पाये थे । छोटी-छोटी टिप्पणियों में यह सारी सामग्री बिखरी हुई है । इस कारण कुछ पदों पर बार-बार अतिरिक्त बल दिया गया है और कुछ महत्वपूर्ण पक्ष ऐसे ही छोड़ दिये गये हैं । फिर भी किसानों की व्यापक हित का आदर्श प्रेमचंद को बहुत ज्यादा भटकने नहीं देता और वही उन्हें अंत में समाजवाद का पक्षधर बना देता है ।

प्रेमचंद का साहित्य चिंतन :

प्रेमचंद एक सर्जनात्मक साहित्यकार थे । उन्होंने साहित्य संबंधी किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की स्थापना नहीं की और नहीं उन्होंने साहित्य-समालोचना का कार्य भी व्यवस्थित रूप से किया । अपने सर्जन कर्म के दौरान उन्हें जो व्यावहारिक अनुभव हुए, उसी आधार पर उन्होंने एक साहित्यिक दृष्टि पाठकों के सामने रखी । इसके अलावा प्रेमचंद पत्रकार भी थे । पत्रकार होने के कारण उनका संबंध समकालीन साहित्य के साथ जिम्मेदारी का था । इस जिम्मेदारी की भावना से प्रेरित होकर भी उन्होंने कुछ पुस्तकों की समीक्षा , और कुछ परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं । इसलिए उनके साहित्य चिंतन का विधिवत अध्ययन अलग से किया जाना चाहिए ।

एक रचनाकार का साहित्य-चिंतन चूंकि उसके व्यावहारिक और वास्तविक अनुभवों की जिंदा जमीन पर खड़ा होता है, अतः एक तरफ तो उसमें सच्चाई की मात्रा अधिक होती है, दूसरी तरफ उसमें एकांगी होने का खतरा भी ज्यादा होता है । रचनाकार का साहित्य-चिंतन घूम फिर कर अपने साहित्य-कर्म की औचित्य - स्थापना करता है । प्रेमचंद के साहित्य-चिंतन पर विचार करते हुए इस तथ्य को भी अपेक्षा ध्यान में रखा जाना चाहिए ।

प्रेमचंद गांधी युग के — स्वाधीनता -आंदोलन के युग के साहित्यकार थे । उनके साहित्य का उद्देश्य था — जनता में व्याप्त सुप्तता को

दूर करना, अंध विश्वासों और रूढ़ियों से उसे मुक्त करना, विदेशी शासन के जुए से उसे आजाद करना और साथ ही उसमें प्रजातांत्रिक जीवन-मूल्यों की स्थापना करना । प्रेमचंद अपने समकालीन साहित्यकारों के समान रीतिकालीन काव्य रूचियों के विरोधी थे — अत: उन्होंने साहित्य की प्रकृति और उसके उद्देश्य को निर्धारित करते समय रीतिकालीन - सामंती काव्य मूल्यों पर विशेष रूप से चोट की । प्रेमचंद के साहित्य-चिंतन के मूल में साहित्यकार के व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयास है । वे मानते हैं कि साहित्यकार का स्वयं का व्यक्तित्व जितना महान होगा, कला उतनी ही उच्चकोटि की होगी ।

प्रेमचंद उपयोगी कला के हिमायती थे । 22 जनवरी 1930 को श्री हरिहरनाथ को पत्र लिखते हुए उन्होंने साहित्य के इस उद्देश्य को रेखांकित किया है :

''मेरा ख्याल है कि साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य उन्नयन है, ऊपर उठाना । हमारी यथार्थवाद को भी यह बात आँख से ओझल न करनी चाहिए । मैं चाहता हूँ कि आप 'मनुष्यों' की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदार, स्वतंत्रचेता मनुष्य, जान पर खेलने वाले, जोखिम उठाने वाले मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य । आज इसी की जरूरत है ।''[99]

प्रेमचंद अपने को 'आदर्शवादी' लेखक मानते हैं । आदर्शवाद से उनका तात्पर्य अधिकतर लक्ष्यवाद रहा है । वे चाहते हैं कि साहित्य और समाज का एक ऊँचा लक्ष्य हो । वही साहित्य को गति और बलि देता है । ऊँचे लक्ष्य के बिना बड़ा काम नहीं हो सकता । इस आदर्श आकांक्षा के साथ प्रेमचंद की इच्छा रही है कि साहित्य को जनता के वास्तविक जीवन से जुड़ा हुआ होना चाहिए । वे मानते हैं कि ''साहित्य ही सच्चा इतिहास है ; क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है वैसा कोई इतिहास में नहीं हो सकता।''[100] साहित्य में यह ऐतिहासिक सत्य तभी आ सकता है जब रचना की आधार भूमि यथार्थवादी होती है । इस स्तर पर शुरू से ही वह यथार्थवाद की जरूरत को महसूस करते रहे हैं । लेकिन वे 'आदर्श और यथार्थ' के मेल को ज्यादा

महत्वपूर्ण मानते थे, जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी थी।[101]

प्रेमचंद कला की उपयोगिता के पक्षधर थे। वे 'कला कला के लिए' के प्रेमी नहीं थे क्योंकि यह सिद्धान्त उन देशों के लिए उपयुक्त हो सकता है जो धन धान्य से पूर्ण हों, परन्तु जो देश गरीब है और पराधीन है, उनकी कला में उपयोगितावाद आ ही जाता है। ऐसे देश के साहित्यकारों में भावना जितनी ही प्रबल होती है, कला उतनी ही प्रचारक हो जाती है। इसलिए श्री नंददुलारे वाजपेयी ने जब प्रेमचंद 'प्रोपेगैंडा' करने का आरोप लगाया, तब उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।[102]

प्रेमचंद मानते थे कि देश में जब कोई उथल-पुथल होती है या सामाजिक-राजनैतिक आंदोलन उठ खड़ा होता है तो आज का साहित्यकार उससे असम्पृक्त नहीं रह सकता। "उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है।"[103]

प्रेमचंद की साहित्यकार की कल्पना भी ऊँची और पवित्र है। वह उसे आत्मा का इंजीनियर मानता है। 'मकान गिरानि वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण करता है।'[104] इसलिए विध्वंस साहित्य का मुख्य धर्म नहीं होता। साहित्य का विध्वंस भी निर्माण के ही लिए होता है। इसीलिए प्रेमचंद साहित्यकार को केवल मजदूर नहीं मानते थे। 4 दिसम्बर 1934 को श्री रामचन्द्र टण्डन को पत्र लिखते हुए लिखा है :

"रूस में भी सोवियत राइटर्स यूनियन है। और देशों में है या नहीं मुझे मालूम नहीं। लेकिन मुझे लेखकों को केवल कलमी मजदूर समझने में कष्ट होता है। लेखक केवल मजूर नहीं बल्कि और कुछ है – वह विचारों का आविष्कारक और प्रचारक भी है।"[105]

समकालीन राजनीतिज्ञों की विफलता को मद्दे-नजर रखते हुए, प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति पद से भाषण देते हुए उन्होंने साहित्य के इस उच्च लक्ष्य को सामने रखा है कि '' साहित्य का लक्ष्य केवल मनबहलाव सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है — उसका दरजा इतना न गिराइये । वह देश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है ।''106

इस वक्तव्य में प्रेमचंद ने अपने जीवन और समकालीन परिवेश के अनुभव को ही केन्द्र में रखकर, उसे ही सिद्धान्त बद्ध कर दिया है । इसी युग के महाकवि निराला ने इस अनुभवपरक सच्चाई को व्यावहारिक स्तर पर ही रहने दिया है । श्री नरोत्तमदास नागर को इंटरव्यू देते हुए 1938 में निराला ने कहा कि '' मैं दावे के साथ कहता हूँ, इस प्रांत में राजनीति ने जो काम किया है, उससे अधिक काम साहित्य ने किया है । इस प्रांत के राजनीतिक जितने बड़े-बड़े व्यक्ति हैं, निस्सन्देह, साहित्यिक उनसे बड़े हैं । यह है कि यहाँ के साहित्यिक आठ मर्तबा एटलान्टिक या सौलह मर्तबा पेसिफिक क्रास नहीं कर चुके, न एयरोप्लेन पर चढ़कर अभी तक पृथ्वी का आकाश पार किया है, उनमें शायद ही किसी ने यूरोप में शिक्षा पाई हो, लेकिन यथार्थ ज्ञान, अध्ययन, कार्य और तपस्या से जहाँ तक ताल्लुक है, यहाँ के साहित्यिक राजनीतिज्ञों से आगे हैं — विशेषतः इसलिए कि वह 'एक्टोअर' नहीं 'आरीजिनल' हैं ।''107

निराला के इस कथन के पीछे निश्चय ही प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद , रामचन्द्र शुक्ल और स्वयं उनका साहित्य विद्यमान है । इसके अलावा निराला की अपनी जीवन दृष्टि भी इस कथन में प्रतिबिम्बित होती है ।निराला पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण को खतरा मानते हैं । उनके अनुसार हमारी राजनीति में 'मौलिकता' कम है और पश्चिम का अनुकरण ज्यादा है । निराला के अनुसार इस पाश्चात्य प्रभाव के बीच भारत की अस्मिता को बनाए और

बचाए रखने का सवाल ज्यादा महत्वपूर्ण है । उन्होंने लिखा है कि ''युद्ध की धार उतनी बड़ी नहीं जितनी बड़ी बुद्धि और संस्कृति की धार है ।''[108] निराला राजनीति में संस्कृति की धार देख रहे थे, जबकि साहित्य 'संस्कृति' की जीत घोषित कर रहा था । निराला और प्रेमचंद के इन विचारों की आधार भूमि में अलगाव होते हुए भी, निष्कर्ष में दोनों एक हैं — क्योंकि यह निष्कर्ष वस्तुगत परिस्थितियों के सही विश्लेषण से आया है ।

इसके बावजूद सामाजिक विकास की नियामक शक्तियों की दृष्टि से राजनीति और राज्य की नेतृत्वकारी भूमिका निभाता आया है । लेकिन वैचारिक और सांस्कृतिक संघर्ष में साहित्य की भूमिका ही सर्वोपरि है । एक हमारी कर्म-जीवन और दूसरा भावात्मक जीवन का नियामक है । ऐतिहासिक स्थितियों में कई बार ऐसा भी होता आया है कि हमारा भावात्मक जीवन बढ़ जाता है, जबकि कर्म जीवन पिछड़ जाता है । राजनीति और साहित्य की इस दौड़ में ऐसा लगता है कि साहित्यकारों ने ही बाजी मार ली है ।

शिवरानी देवी ने प्रेमचंद के जीवन की एक घटना बयान की है। प्रेमचंद का एक लेख 'आज' में छपा था । उस पर काशी के हिन्दू प्रेमचंद से बहुत नाराज हुए । कई लोग, जिनमें हिन्दू सभा वाले के अलावा कांग्रेसी भी थे, प्रेमचंद से अपना विरोध प्रकट करने आये । वे जब चले गये, तब उन्होंने लेखकीय व्यक्तित्व की गरिमा को रेखांकित करते हुए प्रेमचंद बोले : '' लेखक को पब्लिक और गवर्नमेंट अपना गुलाम समझती है । आखिर लेखक भी कोई चीज है । वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा ? लेखक का भी अस्तित्व है । गवर्नमेंट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है । इससे लेखक डर जाय और लिखना बंद कर दे ।''[109]

वास्तव में प्रेमचंद ने साहित्य के विषय की प्रजातांत्रिकता का पद लिया है । एक तरफ उन्होंने विषय की 'क्लासिकल महानता' की धारणा का विरोध किया ; दूसरी तरफ प्यूरिटन मनोवृत्ति के चिंतकों का भी विरोध किया । आम जनता — विशेषतः शोषित और पीड़ित लोगों को साहित्य में

हानि के वह शिकायती रहे । नन्ददुलारे वाजपेयी को जवाब देते हुए उन्होंने लिखा : '' मेरा खयाल है कि मेरे धर्म के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं, जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है । अन्तर यही है कि मेहतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं, लेखक में विवेचन शक्ति होती है ।''110

हिन्दी साहित्य के उस दौर में प्रेमचंद ही एकमात्र ऐसे लेखक थे, जिन पर ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-विरोधी होने का आरोप लगाया है। इसके अलावा उन्हें 'घृणा' के प्रचारक होने की पदवी भी प्रदान की गयी । इस आरोप के जवाब में प्रेमचंद ने दिसम्बर 1933 में 'जीवन और साहित्य' में घृणा का स्थान बताया । इसमें उन्होंने कहा कि बुराई की प्रति घृणा फैलाना न्याय संगत है । प्रेमचंद मानते हैं कि सुंदर और कुरूप का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है । कुरूप के प्रति घृणा और सुन्दर के प्रति प्रेम भाव दिखाना साहित्य का उद्देश्य है । '' नवीन साहित्य समाज का धुन चुनने वालों, रंगे सियारों, धर्मध्वजी बाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथों सतायी हुओं के प्रति उतनी ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है ।''111

8 जनवरी 1934 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने एक टिप्पणी लिखी— 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं'। इसमें उन्होंने राष्ट्रीयता की माँग को ध्यान में रखते हुए दकियानूसी पुरोहितों के खिलाफ संघर्ष करने की आवश्यकता पर बल दिया । ''हमें किसी व्यक्ति या समाज से कोई द्वेष नहीं, हम अगर दकियानूसीपन का उपहास करते हैं, तो उसका एक उद्देश्य यह होता है कि समाज में से ऊँच नीच, पवित्र-अपवित्र का ढोंग मिटे, उसका दूसरा उद्देश्य यह भी होता है कि दकियानूसियों के सामने उनका वास्तविक और कुछ अतिरंजित चित्र रहे, जिसमें उन्हें अपने व्यवसाय, अपनी धूर्तता, अपने पाखंड से घृणा और लज्जा उत्पन्न हो, और वे उनका परित्याग कर ईमानदारी और सच्चाई की जिन्दगी बसर करें और अंधकार की जगह प्रकाश के स्वयं सेवक बन जायें ।''112

प्रेमचंद ने साफ कहा कि मेरे ऊपर ऐसा आरोप हिन्दुओं ने ही नहीं लगाया, मौलवियों ने भी लगाया है । लेकिन '' हमारा आदर्श सदैव यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखंड और सबलों द्वारा निर्बलों के अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो या पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो । इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है ।''[113]

साहित्य का उद्देश्य, साहित्य के स्वरूप और साहित्यकार के व्यक्तित्व के साथ उन्होंने राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय साहित्य की अनिवार्यता का सवाल भी उठाया है । इसके लिए उन्होंने अखिल भारतीय साहित्य संस्था की आवश्यकता पर जोर दिया । उन्होंने कहा कि हमारे देश में फैले प्रांतीयता के भावों के पीछे प्रांतीय साहित्य है । राष्ट्रीय साहित्य के बिना राष्ट्रीयता के भावों को जगा पाना मुश्किल है । 23 अप्रैल 1934 के 'जागरण' में उन्होंने लिखा :

'' किसी राष्ट्र को बनाने के लिए संस्कृति की समानता जरूरी होती है । भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है । जब तक एक भाषा और एक साहित्य न हो, एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती । जब तक कौम में अपने विचारों के फैलाने की कोई एक भाषा न हो, वह कौम नहीं बनने सकती । भारत में कई सम्पन्न प्रांतीय भाषाओं के होते हुए भी हम जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहते हैं, वह इसलिए कि वह भारत में अधिकांश समझी जाती है ।''[114]

राष्ट्रभाषा के रूप में प्रेमचंद हिन्दुस्तानी के हिमायती थे । हिंदी और उर्दू के मिले-जुले रूप से बनी हुई हिन्दुस्तानी भाषा ही राष्ट्र भाषा बन सकती है । वे भाषा के संस्कृतीकरण और अरबीकरण के विरोधी थे । जो लोग

राजनीति में साम्प्रदायिक थे, उन्होंने भाषा में भी साम्प्रदायिकता का प्रचार किया । अत: हिन्दू हिन्दी को संस्कृत के करीब ले जाने लगे और मुसलमान उर्दू को अरबी - फारसी के शब्दों से भरने लगे । प्रेमचंद की राजनीति साम्प्रदायिकता-विरोधी थी, अत: भाषा नीति भी साम्प्रदायिकता विरोधी रही । प्रेमचंद मानते थे कि अगर भारत 'शुद्ध' हिन्दू होता तो उसकी भाषा भी 'शुद्ध' हिन्दी होती । जब देश 'शुद्ध' नहीं है, तो भाषा कैसे 'शुद्ध' हो सकती है ।

प्रेमचंद मानते थे कि हिंदी गरीबों की भाषा है । 'इन्दौर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' (जून 1935) पर लिखित पुस्तक में उन्होंने लिखा : ''हिंदी के पक्ष में एक चीज कोई लोग हीनता की समझते हैं तो ऐसे सौभाग्य समझता हूँ, कि वह उतनी सम्पन्न की भाषा नहीं, जितनी कृषक और मजदूर की है । उतनी तत्सम की भाषा नहीं, जितनी नित्य जीवन की है ।..[115]

प्रेमचंद अंग्रेजी भाषा को हमारी पराधीनता की बेड़ी मानते थे । उसके हटने से पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उठ जायेगा । यहाँ तक कि '' जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे ।..[116]

प्रेमचंद के विचार में हमारे नेताओं ने इस संबंध में मुजरिमाना गफलत दिखलाई है । हमारे नेताओं को नहीं मालूम कि अंगरेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का जैसा आतंक हमारे ऊपर है, उससे कहीं ज्यादा अंगरेजी भाषा का है । अंगरेजी भाषा के कारण हमारा शिक्षित समाज जनता से दूर हटता जा रहा है और उसमें साम्राज्यवादी संस्कृति आती जा रही है । नेताओं ने अंग्रेजी व्यापार, राजनीति और साम्राज्यवाद का तो विरोध किया, पर अंग्रेजी भाषा की गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं । इसलिए प्रेमचंद एक स्पष्ट कसौटी सामने रखते हैं कि 'जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं ।'[117]

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसी समय 'विशाल भारत' में हमारा साहित्य' शीर्षक एक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने लिखा कि मैंने सुना है कि हिंदी में शेक्सपीयर और शॉ जैसी प्रतिभाएँ हैं, इसलिए उन्होंने हिंदी साहित्य पढ़ा और वह निराश हुए। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने जो कुछ लिखा है, वह साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों की बहस को सही तौर पर सामने रखता है। इसमें प्रेमचंद ने यह लिखा कि आखिर उन्होंने विश्वास ही क्यों कर लिया जबकि '' एक तो पराधीनता यों ही हमारी प्रतिभा और विकास में चारों ओर से बाधक हो रही है, दूसरे हमारा शिक्षित समुदाय हिंदी - साहित्य से कोई सरोकार नहीं रखना चाहता, तो साहित्य में प्रगति और स्फूर्ति कहाँ से आये ? और जब जीवन के किसी क्षेत्र में हम योरोप से मुकाबला करने का दावा नहीं कर सकते — हमारी लेनिन और ट्राट्स्की और नीत्शे और हिटलर अभी अवतरित नहीं हुए — तो साहित्य में वह तेजस्विता कहाँ से आ जायगी ?''[18]

—

टिप्पणियाँ

1- विस्तार से देखिए बिपिन चन्द्र की पुस्तक 'Modern India'

2- 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', पृ० 306 से उद्धृत, ए०आर० देसाई, अनुवादक -- प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया, दिल्ली, 1976

3- वही, पृ० 306

4- '' अपना घर । कितना सुन्दर दृश्य है । वह सड़क पर कई हजार आदमी जैठा लिए, कौमी नारे लगाते चले आ रहे हैं । बच्चे भी हैं, स्त्रियाँ भी हैं, बूढ़े भी हैं । अपने देश से प्रेम करने के लिए उम्र की कैद नहीं है । एधर लट्ठबंद, भालेबंद और राइफलबंद पुलिस के जवान पैंतरे बदल रहे हैं, जैसे शिकारी कुत्ते शिकार को देखकर अधीर हो जाते हैं, कि कब छूटें और टूट पड़ें । जंजीर खींचते-खींचते आफत आ जाती है । बिलकुल यही हाल हमारी पुलिस के इन शूर वीरों का है, जिनमें अंग्रेजी खून उबल पड़ता है, बहादुरी का जोश उसके दिल में आंधी की तरह उमड़ा आ रहा है । हुक्म मिलता है -- चार्ज । फिर देखिए इन शूरमाओं की बहादुरी । निहत्थे, सिर झुकाकर बैठे हुए जवान बन्द रखने वाले आदमियों पर डंडों और भालों का वार शुरू हो जाता है । और अगर किसी तरफ से एकाध पत्थर आ गया, चाहे वह गुप्तिया पुलिस वालों ही ने क्यों न फेंका हो, तो प्रलय हो गया । बस 'फायर' का हुक्म मिल गया । धड़ा-धड़ बन्दूकें चलने लगीं और लोग पड़ापड़ गिरने लगे और हमारी तरह लोग, जो ऐसे अवसरों पर तमाशा देखने के लिए अवश्य आ जाया करते हैं, खुश हो-होकर तालियाँ बजाने लगे । वाह क्या बहादुरी है, क्या डिसिप्लिन है, भारत के सिवा संसार में और कहाँ ऐसे वीर पैदा हो सकते हैं और इंग्लैण्ड के सिवा कहाँ ऐसे जोशीले अफसर और नीतिज्ञ ।'' -- विविध प्रसंग, पृ० 58-59

5- रजनीपामदत्त ने ''आज का भारत'' में लिखा है — '' अपने देश-वासियों पर गोली न चलाने की जो मिसाल गढ़वाली सिपाहियों ने कायम की उसके विषय में कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि यह गांधी के सबसे प्रिय सिद्धान्त अहिंसा का एक सफल प्रदर्शन था । लेकिन गांधी का मत यह नहीं था । यह एक ऐसी अहिंसा थी जिसने सशस्त्र अंगरेजी राज्य की नींव हिला दी । गांधी-इर्विन समझौते में उल्लिखित राजबंदियों की रिहाई की धारा में गढ़वाली सिपाहियों को खास तौर से अलग रखा गया ।'' , पृ० 376

6- ए० आर० देसाई की पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', पृ० 308

7- 'हिन्दुस्तान की कहानी', पृ० 499

8- 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' पाद टिप्पणी, पृ० 310'311

9- 'Economic Problems of Modern India' edited - Radha Kamal Mukherjee में 'The Depression'

शीर्षक - श्री एस० एन० सेनगुप्त के लेख के आधार पर ।

10- ''..... इस महान विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनायेंगे, यह तो भविष्य की बात है, पर यह एक ऐसी विजय है, जिसकी नजीर संसार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी। हम भी उस नये देवता की पूजा करने के लिए, उस विजय की यादगार कायम करने के लिए, अपना मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं और हमारी बिसात ही क्या है ? शायद आप पूछें, संग्राम शुरू होते ही विजय का स्वप्न लेने लगे । उसकी यादगार बनाने की भी सूझ गई । मगर स्वाधीनता एक मन की वृत्ति है । इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है । अब तक इस विचार ने जन्म ही न लिया था । हमारी चेतना इतनी मन्द, शिथिल और निर्जीव हो गई थी कि उसमें ऐसी महान कल्पना का आविर्भाव ही न हो सकता था ; पर भारत के हमेशा

महात्मा गांधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी । अब वह बढ़ेगा, फले-फूलेगा । अबसे पहले हमने अपने उद्धार के जो उपाय सोचे, वे व्यर्थ सिद्ध हुए, हालांकि उनके आरंभ में भी सत्ताधारियों की ओर से ऐसा ही विरोध हुआ था । इसी भांति इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे । वह दिन देर में आएगा या जल्द, यह हमारी परिश्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है । हाँ, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द-से-जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहें । यही 'हंस' का ध्येय होगा और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी । कहते हैं जब श्री रामचन्द्र समुद्र पर पुल बांध रहे थे, उस वक्त छोटी-छोटी पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद दी थी । इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है । भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है । 'हंस' भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्हीं-सी चोंच में चुटकी-भर मिट्टी लिये हुए, समुद्र पाटने—आजादी की जंग में योग देने — चला है । समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन श्रद्धा शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है, समुद्र पटने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो कौन ज्योतिषी ही जाने, पर हमें ऐसा विश्वास है कि 'हंस' की लगन इतनी कच्ची न होगी । यह तो हुई उसकी राजनीति । साहित्य और समाज में वह गुणों का परिचय देगा, जो परंपरा ने उसे प्रदान कर दिए हैं ।'' 'हंस का मजदूर -प्रेमचंद' से उद्धृत, पृ० 204-205

11- चिट्ठी पत्री, भाग -2, पृ० 21।

12- '' प्रेमचन्द जी भौतिकवादी नहीं, बुद्धिवादी थे । उनका आधार विवेक अर्थात् विवेद विज्ञान था । फिर भी आज के युग की पश्चिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी । उनके जीवन में, उनके साहित्य में, उस आशंका के

लक्षण अति प्रकट हैं, और उसके प्रति तुली चेतावनी और तुली चुनौती है।'' — प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व', पृ० 54, ले० जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1973

13- वही, पृ० 27

14- कलम का मजदूर : प्रेमचंद, पृ० 210

15- प्रेमचन्द घर में, पृ० 145

16- वही, पृ० 172,

17- प्रेमचंद स्मृति, पृ० 29

18- वही, पृ० 23

19- प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व, पृ० 74-75

20- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 157

21- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 188

22- चिट्ठी पत्री, भाग-1, पृ० 184

23- एक में उन्होंने लिखा '' धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे ख्वाहिश नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य - विजय ही है।'', चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 77

24- '' वह वितंडतावादी नहीं, सत्य का पुजारी होगा, चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो। वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न चूकेगा। वह केवल दूसरों के दोष न देखेगा, बल्कि अपने दोषों को स्वीकार करेगा। बिना अपने दोषों को दोष समझे उनके सुधार की इच्छा नहीं होती। वह निर्भीक होगा, पर दुस्साहसी नहीं। वह सत्यवादी होगा, सत्य से जौ भर नहीं टलेगा, पर पक्षपात से अपना दामन बचायेगा।

वह बूढ़ों में बूढ़ा, जवानों में जवान और बालकों में बालक होगा। वह जिस दृढ़ता से न्याय का पक्ष लेगा, उतनी ही दृढ़ता से अन्याय का विरोध करेगा, चाहे वह राजा की ओर से हो, समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से। वह सबसे मित्रता रखेगा, पर किसी पर उनके जुल्म को सहन न कर सकेगा। समाज का दुखी और दुर्बल जीव उसे सदा अपनी वकालत करते हुए पाएगा। वह कोरा न्यायवादी, गंभीर और शुष्क न रहेगा। वह मनुष्य केवल आधा ही जिन्दा है, जो कभी दिल खोलकर नहीं हँसता, विनोद से आनंदित नहीं होता।''

विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 538

25- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 27

26- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 542

27- वही, पृ० 545

28- चिट्ठी पत्री, भाग-2, बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम पत्र, पृ० 82

29- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 41

30- कलम का मजदूर : प्रेमचंद, पृ० 274

31- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 257-258

32- ''..... ये प्रोड्यूसर किस ढंग की कहानियाँ बनाते जाते हैं उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। वलैरिटी को यह लोग एंटरटेनमेंट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नकली लड़ाई, बीसि-बाजी यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे लेकिन उनकी फिल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा काना है ही। कर्जदार हो गया था। कर्ज पटा दूँगा। मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास के अंतिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं, उधर मन ही नहीं जाता। यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने

अड्डे पर जा बैठूँ । वहाँ धन नहीं है मगर संतोष अवश्य है । यहाँ तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट का रहा हूँ ।'' – चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ0 51

33- वही, पृ0 52

34- वही, पृ0 93

35- वही, पृ0 241

36- वही, पृ0 250

37- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 42

38- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 43

39- वही, पृ0 45

40- 'एस' अप्रैल 1930 में 'आजादी की लड़ाई' शीर्षक टिप्पणी, विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 53

41- नवंबर 1930 के 'एस' में टिप्पणी है — 'सिविल आर्डिनेंस'। इसमें उन्होंने लिखा '' इस आंदोलन का और कोई फल निकले या न निकले ; लेकिन एक फल तो अवश्य निकला, कि नौकरशाही अपने नग्न रूप में जाहिर हो गयी । अब किसी अधिकारी का यह कहने का मुंह नहीं है, कि अंगरेज लोग भारत को न्याय और सभ्यता का सबक सिखाने के लिए उस पर राज्य कर रहे हैं । अंगरेज शासन का उद्देश्य केवल एक है, और वह है भारत में अंगरेजी व्यापार का प्रसार और शिक्षित नौकरों के लिए बड़ी-बड़ी जगहों का आयोजन । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भारत की गर्दन पर सवार है और उसे यह किसी तरह स्वीकार नहीं है, कि उसके स्वार्थ में जो बात बाधक हो । आप उसके स्वार्थ में हस्तक्षेप न करें, तो वह एक सौम्य दासी के रूप, आपके साथ न्याय, मनुष्यत्व और सौजन्य का व्यवहार करने को राजी है ; लेकिन आपने उसके स्वार्थ की ओर आँख भी उठायी, तो आपकी कुशल नहीं ।

वह न्याय, मनुष्यत्व और सौजन्य सब गायब हो जायगा और शासन का विकराल रूप आपके सामने आ खड़ा होगा ।'' — विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 67-68

42- वही, पृ० 54 , 'ऐस' मई 1930
'' जिस निर्दयता से दमन किया जा रहा है, उससे तो यह साफ मालूम होता है, कि सरकार भारत की जाग्रति से घबड़ाई हुई है । Law and Order का टकोसला बनाकर सरकार खुद Law and order की धज्जा उड़ा रही है । कानून केवल प्रजा की के लिए नहीं है । सरकार पर भी उसके बनाये हुए कानून उतने ही लागू होते हैं, जितने प्रजा पर ; मगर हम यहाँ देखते हैं, कि इस जाग्रति को दबाने के लिए सरकार किसी कानून की परवा नहीं कर रही है ।''— पृ० 55

43- वही, पृ० 65 , 'ऐस', नवंबर 1930 की टिप्पणी — 'स्वराज्य संग्राम में किसकी विजय हो रही है' ।

44- प्रबंध - प्रतिमा, पृ० 24, ले० निराला, भारती-भण्डार, इलाहाबाद 1963

45- ''..... हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि हमने पैरों पश्चिमी चीज के पीछे आँखें बंद करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण । हमारी सभ्यता में भी रोग है, मगर उसकी दवा योरोपीय सभ्यता की अंध-भक्ति नहीं है । उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति में खोजनी थी ।..... यह समझ लीजिए कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी ; पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व को खो दिया, अपने धर्म की सत्ता दी, अपनी संस्कृति खो बैठे, तो हमारा अंत हो जायगा ।'' — विविध प्रसंग, भाग-3, (मानसिक पराधीनता, जनवरी 1931), पृ० 193

46- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 74

47- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 363

48- वही, पृ० 364

49- ''..... खेद तो यह है कि हमारी राष्ट्रीय नेता भी उस प्रवृत्ति से खाली नहीं हैं । और यही कारण है कि हम एकता-एकता चिल्लाने पर भी उस एकता से उतने ही दूर हैं । जरूरत यह है कि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल डालें और देश-काल को भली-भाँति विचार करके अपनी धारणाएँ स्थिर करें । तब हम देखेंगे कि जिन्हें हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव में दलितों का उद्धार किया है । हमारी जात-पाँत के कठोर बन्धनों को सरल किया है, और हमारी सभ्यता के विकास में सहायक हुए हैं । यह कोई छोटी और महत्वहीन बात नहीं है कि 1857 के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही ने जिसे अपना नेता बनाया, वह दिल्ली का शक्तिहीन बादशाह था ।'' — विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 377

50- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 76

51- वही, पृ० 85

52- वही, पृ० 80

53- वही, पृ० 90

54- वही, पृ० 88-89

55- वही, पृ० 91

56- ''..... इसके विपरीत पश्चिम में स्वार्थ और लोभ का राज्य है । कलों के आविष्कार ने व्यवसायिकता की एक हवा-सी फैला दी है । यह व्यवसायिकता पश्चिमी सभ्यता का कलंक है । संसार का जितना अहित इस व्यवसायवाद से हुआ है और आगे होगा, वह अभूतपूर्व है । इसी का यह दुष्परिणाम है कि जो लोग अपने घरों में बैठकर अपना काम करते थे, वे अब मिलों में आकर गुलामी करने पर मजबूर हैं ।..... व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद इस तरह एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं ।'' -('जागरण' 12 सितम्बर 1932 में 'जागृति' शीर्षक टिप्पणी) —विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 207-208

57- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 101

58- ''..... जब मुसलमानों को कुछ अधिकार अधिक मिल जाते हैं, तो हमें तुरंत यह विचार होता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ । कारण यही है, कि हम मुंह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें, दिल में हम सभी सम्प्रदायवादी हैं और हरेक बात को सम्प्रदाय की आंखों से देखते हैं । क्या यह सत्य नहीं है, कि जब कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है, तो हम तुरन्त यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उस दंगे में कितने हिन्दू एताहत हुए और कितने मुसलमान । अगर हिन्दुओं की संख्या अधिक होती है, तो हम कितने उत्तेजित हो जाते हैं । इसके विपरीत अगर मुसलमानों की संख्या अधिक होती , तो हम आराम की सांस लेते हैं । यह मनोवृत्ति राष्ट्रीयता का गला घोंटने वाली है ।'' – ('अब हमें क्या करना है', 'जागरण', 29 अगस्त 1932) विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 381

59- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 488

60- '' कई दिन हुए प्रो० रामदास जी गौड़ ने 'आज' में एक पत्र लिखकर बतलाया था कि आजकल जिन पेटेन्टपेनों को हम स्वदेशी समझते हैं, वे सर्वथा विदेशी हैं, उनमें कोई भाग स्वदेशी नहीं, सभी चीजें विदेश से मंगाकर यहां जोड़ ली गयी हैं । यही कलमें धड़ल्ले से बाजार में बिक रही हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है । मगर इन कलमों के अतिरिक्त और भी कितनी विदेशी चीजें स्वदेशी के नाम से बिक रही हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है..... '' ।('असली और नकली स्वदेशी चीजें', 14 नवम्बर 1932), विविध प्रसंग, भाग-3, पृ०168

61- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 165

62- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 496

63- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 130-131 । इसी टिप्पणी में अंग्रेजी उपन्यास का जिक्र करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है कि '' भारतीय नारी पर पारंत

सरकार का ऐसा नियंत्रण एक ओर यह परंपरा स्थापित करता जा रहा है कि ब्रिटिश भारतीय सरकार देशी रियासतों में हस्तक्षेप कर सकती है— और बुरी तरह हस्तक्षेप कर सकती है। इस परंपरा के स्थापित हो जाने से, आगामी भारतीय सरकार भी उसी के अनुसार कार्य कर सकेगी— एसे इस बात की प्रसन्नता है। पर, आश्चर्य इतना ही है कि इस परंपरा का उपयोग हिन्दू राजाओं से ही क्यों हो रहा है। हिन्दू-सभा चिल्लाती हुई मरी जा रही है। पर भोपाल में हिन्दुओं की दशा दी जाँच नहीं हो रही है।'' – पृ० 131

64- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 132-133

65- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 503

66- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 508 ('यू०पी० काउंसिल में कृषकों पर अन्याय' शीर्षक टिप्पणी, 26 फरवरी 1934)

67- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 506

68- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 507

69- वही, पृ० 209

70- वही, पृ० 510

71- वही, पृ० 415-416

72- वही, पृ० 424

73- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 235

74- वही, पृ० 152-153

75- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 131-132

76- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 472

77- वही, पृ० 116 इससे पहले 2 जनवरी 1933 को लिखा :

'' हम आगे बढ़ना चाहते थे। हमें पीछे ढकेल दिया गया। हम राष्ट्र-निर्माण का अधिकार चाहते थे, उस अधिकार को सात तालों के अन्दर बन्द कर दिया गया। आज भारत अपने शासकों के प्रति है

नींव पड़ा सिसक रहा है, परास्त और पददलित ।'' , पृ० 113-114

78- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 128

79- वही, पृ० 168

80- वही, पृ० 180

81- वही, पृ० 219

82- वही, पृ० 153

83- '' हमारी राजनैतिक और वास्तविक जीवन में मानो कोई दीवार, खिंची हुई है । हमारी शादी-विवाह, मेले-तमाशे, उत्सव-पूर्व पूर्ववत होते रहते हैं । दीवाली में दीपक जलते हैं और जुआ होता है, होली में गुलाल उड़ती है और पकवान पकते हैं ।..... जिस राष्ट्र के यथार्थ जीवन में राजनैतिक अक्षमता इतना गौण स्थान रखती हो, उसके विषय में यही कहा जा सकता है, कि अभी राजनीतिक केवल उसके ओठों तक है, नींव नहीं उतरने पायी ।'' — विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 187

84- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 258

85- वही, पृ० 218

86- वही, पृ० 264

87- वही, पृ० 268

88- '' इस विषय में कट्टरपंथी तथा लिबरल नेता मौन रहकर ही काम चलाना चाहते हैं, यह कहकर चुप रह जाना कि हम तो बर्मा को अपने साथ रखना चाहते हैं । पर इसका निर्णय बर्मा स्वयं का ले, एक धातक मूर्खता-सी है ।'' (बर्मा - संबंधी निर्णय, 3 फरवरी 1933), विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 136

89- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 50

90- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 223

91- वही, पृ० 262 ('कांग्रेस की विधायक योजना', 30 अप्रैल 1934)

92- वही, पृ0 333

93- वही, पृ0 334

94- '' दो तीन साल पहले इंग्लैंड में मजूर पार्टी का अधिकार, रूस और चीन आदि में सोवियत की सफलता और अन्य देशों में जनपद की प्रधानता देखकर यह अनुमान किया जाने लगा था कि संसार से साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद का प्रभुत्व उठने वाला है, या बहुत थोड़े दिनों का मेहमान है, लेकिन यकायक नक्शा जो पलटा तो इंग्लैंड में साम्राज्यवादियों का फिर जोर हो गया। जर्मनी और इटली में पूंजीवाद ने एक नये रूप में अपना चमत्कार दिखाया, चीन पर जापानी साम्राज्यवाद ने धावा बोल दिया और ऐसा जान पड़ता है कि कई सालों तक संसार में यह दौरदौरा चलेगी। एक ओर पूंजीवाद का जोर, दूसरी ओर समष्टिवाद का जोर।'' विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 309

95- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ0 236

96- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 224-225

97- साहित्य का उद्देश्य, पृ0 144, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967

98- प्रेमचंद स्मृति, पृ0 264, चमन- अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

99- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ0 286

100- 'हंस' अप्रैल 1931, पृ0 40

101- '' यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों – जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।'' – 'साहित्य का उद्देश्य', पृ0 63

102- ''सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेंडा करते हैं — सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक । अगर प्रोपेगेन्डा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे, जो प्रोपेगेन्डा नहीं कर सकता वह विचार शून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं । मैं इस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ ।'' ('हंस' के मई 1932 के अंक में 'परितोष' शीर्षक टिप्पणी से उद्धृत), विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 122

103- हंस, अप्रैल 1931, पृ० 40

104- हंस, अप्रैल 1931, पृ० 42

105- चिट्ठी-पत्री, भाग-2, पृ० 166

106- 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० 22 इसके अलावा अप्रैल 1936 के 'हंस' में 'भारतीय साहित्य परिषद' पर लिखते हुए उन्होंने लिखा : 'पुराने जमाने में साहित्यकार केवल समाज का एक भूषण मात्र होता था, उसका संचालन और नेतृत्व करते थे, मगर नये जमाने का साहित्यकार इतना संतोषी नहीं है । वह समाज के परिष्कार में दखल देना चाहता है, राजनीतिज्ञों की गलतियों को सुधारना चाहता है, जो काम व्यवस्थापक लोग कानून और दण्ड विधान से करना चाहते हैं वही काम वह आत्मा को जगाकर आन्तरिक आदेशों से पूरा करने का इच्छुक होता है।'' विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 117

107- प्रबंध-प्रतिमा, पृ० 189

108- चाबुक, पृ० 68

109- प्रेमचंद घर में, पृ० 148

110- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 127

111- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 58

112- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 473 इसके बाद उन्होंने अपनी असमर्थता की ओर इशारा करते हुए लिखा है कि हमने उसकी यथार्थ तस्वीर पेश ही नहीं की । '' मगर यह हमारी कमजोरी है — कि हम बहुत सी बातें जानते हुए भी उनके लिखने का साहस नहीं रखते और अपने

प्राणों का भय भी है, क्योंकि यह समुदाय कुछ भी कर सकता है । शायद इस साम्प्रदायिक प्रसंग को इसीलिए उठाया भी जा रहा है कि पंडों और पुरोहितों को हमारी विरुद्ध उत्तेजित किया जाय ।'', पृ० 474

113- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 475

114- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 291

115- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 97

116- साहित्य का उद्देश्य, पृ० 104

117- साहित्य का उद्देश्य, पृ० 130 इसके अलावा प्रेमचंद ने लिखा : '' हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अंग्रेजी में होती है, अंग्रेजी में भाषण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा - पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है । यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के आमुलचूल हक-बरदार हैं, सभी कार्रवाई अंग्रेजी में करते हैं ।'' 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० 122-123

118- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 81

—

चौथा अध्याय

सर्जनात्मक उत्कर्ष और किसान जीवन की जटिलता में अन्तः प्रवेश

(1930-36 ई०)

प्रेमचंद के साहित्य का समग्र अध्ययन उनके साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन से ही संभव हो सकता है । प्रेमचंद अपने युग के साथ भी रहे और युग के आगे भी रहे । वे ऐसे साहित्यकार नहीं थे जिनके विचार और जीवन पद्धति एक बार निर्मित हो जाने के बाद फिर नहीं बदला करती । ऐसे व्यक्ति न तो अपने जीवन में और न अपने साहित्य के प्रति ही आलोचनात्मक दृष्टि अपना पाते हैं । अपने कृतित्व के प्रति निर्मम आलोचना दृष्टि उसी व्यक्ति में होगी, जो अनिवार्यतः किसी विशिष्ट जीवन मूल्यों और उद्देश्य से जुड़ा हुआ होगा । जो लोग 'स्वान्तः सुखाय' साहित्य-सर्जन करते हैं, उनमें अपने साहित्य के प्रति तुष्टि का भाव मिलता है । फलतः उनकी रचनाएँ एक ही पद्धति में चलती रहती हैं । प्रेमचंद इस प्रकार के आत्ममुग्ध साहित्यकार नहीं थे । उनके दिमाग में भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की योजना थी, जिससे वे रागात्मक रूप से जुड़े हुए थे । अतः बार-बार उनके रचनाकार मानस में अपने साहित्य की सार्थकता का सवाल उठ खड़ा होता था । इसी सार्थकता के सवाल से उनमें आत्मालोचना की प्रवृत्ति विकसित हुई । उन्होंने हमेशा अपने आपको 'सत्य' के करीब रखने का प्रयास किया है । जहाँ भी अपनी गलती देखी, उसे उन्होंने स्वीकार किया और सुधारने में लग गये । यह छोटी-सी किन्तु दुर्लभ विशेषता प्रेमचंद की थी । उनके साहित्य की विकासशील प्रवृत्ति का रहस्य यही है । इसीलिये प्रेमचंद के साहित्य का अध्येता महसूस करता है कि प्रेमचंद ने अपनी

विचारधारा, चिंतन पद्धति और कलात्मक सौष्ठव का लगातार विकास किया है । उनके सर्जन में कहीं भी गतिरोध नहीं आया । 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' (1907) से 'कफन' (1936) तक की यात्रा उनकी इसी विकासशील प्रवृत्ति की देन है ।

प्रेमचंद उस युग में पैदा हुए थे, जब भारत अपने आपको राष्ट्र के रूप में संगठित कर रहा था । इसका मूलभूत कारण देश में चल रहे व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आंदोलन थे । इन आन्दोलनों के कारण इस जमाने में राष्ट्रीयता लोक अनुभूति का अंग बन गयी । समाज में व्याप्त इस 'राष्ट्रीयता' की झांकी सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य में मिलती है ।

प्रेमचंद एक परिवर्तनशील युग में पैदा हुए, जब सामाजिक शक्तियों में भयंकर टकराव था । मुक्तिबोध ने प्रेमचंद और उनके युग के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि '' प्रेमचंद उत्थानशील भारतीय सामाजिक क्रांति के प्रथम और अन्तिम महान कलाकार थे । प्रेमचंद की भावधारा वस्तुतः आगे चलती रही, किन्तु उसके शक्तिशाली आविर्भाव के रूप में कोई लेखक सामने नहीं आया । यह संभव भी नहीं था, क्योंकि इस क्रांति का नेतृत्व पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग के हाथ में था, और वह शहरों में रहता था । बाद में वह वर्ग अधिक आत्मकेन्द्रित और अधिक बुद्धि-जीवी हो गया तथा उसने काव्य में प्रयोगवाद को जन्म दिया।''। भारतीय पूंजीपति वर्ग अपना अस्तित्व बनाए और बचाए रखने के लिये सावधानी पूर्वक स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था । इस वर्ग ने एक ओर तो साम्राज्यवादियों के खिलाफ संघर्ष किया, दूसरी तरफ किसान-मजदूरों की संघर्षशील चेतना और क्रियाशीलता को कम करने का प्रयास किया ; ताकि भारत में भावी बोल्शेविक क्रांति के खतरे को टाला जा सके । प्रेमचंद धीरे-धीरे इस तथ्य को समझ रहे थे । इस चरण में उन्होंने 1933-34 से ही इस बढ़ते हुए पूंजीवाद की खुलकर भर्त्सना करनी शुरू कर दी थी । कुल मिलाकर संपूर्ण प्रेमचंद साहित्य में दो मुख्य समस्याएँ दिखलायी पड़ती हैं और कहना मुश्किल है कि प्रेमचंद उनमें से किस समस्या को ज्यादा महत्व देते थे और किस को कम । इनमें पहली

किसान-समस्या है और दूसरी स्वाधीनता आंदोलन की समस्या है ।

प्रेमचंद के साहित्य के मूल में भारतीय किसान की वास्तविक हालत है । इस अंतिम दौर में प्रेमचंद ने किसान जीवन के बोध पक्ष को — जैसा कि वह है, उसी रूप में सामने रखने का प्रयास किया है और यह प्रयास कहीं बिल्कुल नहीं है । प्रेमचंद ने किसान जीवन की जटिलता में अंतः प्रवेश किया है । किसान की कथा कहते-कहते गोया वे खुद किसान हो गये हैं । इसके बावजूद प्रेमचंद ने इस दौर में भी सिर्फ किसान जीवन के बारे में ही साहित्य नहीं लिखा है । जैसा कि अन्यत्र दिखाया जा चुका है कि उनका विषय तत्कालीन भारतीय समाज है — अतः इस दौर में भी उन्होंने भारतीय जीवन के अन्य पहलुओं को भी लिया है । प्रेमचंद साहित्य का समग्र अध्ययन तभी के लिए उसे समग्रता में सामने रखना जरूरी है ।

'हंस' और प्रेमचंद के साहित्य में नया मोड़ :

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ ही प्रेमचंद के साहित्य में नया मोड़ आता है । इसी से प्रभावित होकर प्रेमचंद ने 'हंस' निकालना शुरू किया। 'हंस' के माध्यम से प्रेमचंद ने नये प्रकार के राजनैतिक साहित्य का प्रचार किया । इसके साथ-साथ उन्होंने सामाजिक जीवन संबंधी कहानियां भी लिखीं, जो 'माधुरी','विशाल भारत' आदि पत्रिकाओं में छपी । इन सबका एक साथ अध्ययन जरूरी है । इस अध्याय में हमारा प्रयास है कि प्रेमचंद के इस दौर के सर्जनात्मक साहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाय ।

प्रेमचंद ने मार्च 1930 से 'हंस' निकालना शुरू किया । 'हंस' के प्रवेशांक में 'जुलूस' नामक कहानी छपी । इस पर सविनय अवज्ञा आंदोलन का स्पष्ट प्रभाव है । इसके पहले 'दो बैलों' (जनवरी 1930) और 'धिक्कार' (फरवरी 1930) प्रकाशित हुईं थीं । दोनों कहानियों में मध्यवर्गीय परिवेश है और वे समाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति करती हैं । वास्तव में मानव हृदय एक

पयुत की जटिल प्रक्रिया से निर्मित होता है । सामाजिक जीवन में परिवर्तन होने और वैचारिक संघर्ष के दिनों में मनुष्य का बौद्धिक व्यक्तित्व कुछ खास बातों को सही और ग्राह्य मान लेता है और धारणाओं का प्रचार भी करता रहता है ; लेकिन उसका भाव जगत फिर भी पुरानी संस्कारों और मान्यताओं से संचालित होता रहता है । बुद्धि और भावना का यह अन्तराल मनुष्य के व्यक्तित्व को विभाजित कर देता है । 'दो बहनें' कहानी में प्रेमचंद ने इस विभाजन को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो तद्युगीन सामाजिक कार्यकर्ताओं में था। वेश्या के प्रति बौद्धिक दृष्टि उस युग के एक वर्ग में समतावादी बन गयी थी, लेकिन भावात्मक रूप अब भी कैसे पुरातनपंथी है — इसे प्रेमचंद ने रामेन्द्र और सुहासिनी की शादी करवाकर दिखाया है । समाज के तथाकथित उदारतावादी व्यक्तियों ने इसका बहिष्कार किया, कुलवधुओं ने घर आना जाना छोड़ दिया और यहाँ तक कि कहानी के अंत में प्रेमचंद ने रामेन्द्र के उदारतावाद की सीमाएँ भी स्पष्ट कर दी । प्रेमचंद ने जिन कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का सफल - असफल प्रयास दिखाया है, उन सबका अंत करुण रहा है । पात्र कहानी में कुछ दिनों तक अपनी ऐसियत कायम करके मर जाते हैं । 'दो बहनें' की वेश्या पुत्री का वही हाल हुआ, 'धिक्कार' की मानी की भी यही दशा हुई । इससे प्रकट है कि सामाजिक परिवर्तन का कार्य कितना कठिन और दारुण है ।

'रूस' के प्रवेशांक में 'जुलूस' नामक कहानी छपी । इसमें स्वाधीनता आंदोलन का उत्साह है । इसमें स्वाधीनता आंदोलन के नये दौर की शुरुआत की प्रक्रिया है । कुछ कश्मिरी शहर में जुलूस निकलते हैं, शेष जनता दूर खड़ी तमाशा देखती रहती है । जुलूस निकलता है, पुलिस वाले जुलूस को पीटते हैं, फिर भी अहिंसा बनी रहती है । इस घटना से धीरे - धीरे सारे देश की जनता में स्वात्मभाव का उदय होता है और सारी जनता बदला लेने के लिए उतारू हो जाती है । जुलूस लौट जाता है क्योंकि '' उनकी विजय

का सबसे उज्ज्वल चिह्न यह था कि उन्होंने जनता की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी । वही लोग, जो पहले उन पर हँसते थे, उनका धैर्य और साहस देखकर उनकी सहायता के लिए निकल पड़े थे । मनोवृत्ति का यह परिवर्तन ही हमारी असली विजय है ।''[2] इस जुलूस का नेता मुसलमान (फ्रांसीस) है, जो शहीद होता है । लाखों की भीड़ उसके अंतिम संस्कार में शामिल होती है । पत्नी के व्यंग्य-बाण से दरोगा वीरपाल सिंह का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है ।

इस कहानी में पुलिस के प्रति आदर्शवादी और वैयक्तिक रुख अपनाया गया है ।[3] ऐसे कार्यों में 'पुलिसमैन' का निजी व्यक्तित्व ही सक्रिय नहीं होता — अगर होता भी है तो उसकी मात्रा बहुत कम होती है । उसमें सारतः साम्राज्यवादी कार्यकर्ता ही क्रियाशील होता है ।

प्रेमचंद ने एक तरफ तो स्वाधीनता आंदोलन को साहित्य की विषय-वस्तु बनाया, दूसरी तरफ सामाजिक कहानी ('सुभागी' मार्च 1930) भी लिखी । प्रेमचंद का दिमाग एक साथ ही दो स्तरों पर सक्रिय था । एक तरफ तो वे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष देख रहे थे, कांग्रेस की गतिविधियों पर नजर रख रहे थे और 'आदर्श' भावों से भरपूर साहित्य लिख रहे थे । दूसरी तरफ वह भारतीय समाज के वास्तविक रूप की झलक पाना चाहते थे । इस कहानी में प्रेमचंद ने देहात के जीवन का पुनर्सृजन किया है ।

प्रेमचंद अपनी कहानी की समस्या की जब पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं तो उनके सामने सिर्फ वह समस्या ही नहीं होती, बल्कि उससे लिपटा हुआ सारा समाज, समाज का अन्तर्विरोध चला आता है । भारत में लड़के और लड़की के प्रति माता-पिता के व्यवहार में अन्तर पाया जाता है । लड़के प्रिय होते हैं, लड़कियाँ अभागिनें मानी जाती हैं । जीवन का यथार्थ इस धारणा को कहीं ज्यादा तोड़ भी देता है । लड़कियाँ प्रिय भी हो जाती हैं । 'सुभागी' में इसी तरह की लड़की की कहानी है । '' और लोगों के यहाँ चाहे जो होता हो, तुलसी महतो अपनी लड़की सुभागी को लड़के रामू से जौ भर कम प्यार न

करते थे ।'''[4] फिर सुभागी के गुणों का बखान करते हुए प्रेमचंद ने बताया कि ग्यारह साल की उम्र में वह विधवा हो गयी । कहानी की मुख्य वस्तु विधवा की स्थिति नहीं है, बल्कि वर्तमान समाज में नारी की स्थिति है ।

फिर जवान सुभागी की हालत ; भाई-भावज और माता-पिता के साथ संबंधों का ताना-बाना बुना गया है । अंत में रामू और सुभागी में पटती नहीं । बँटवारा होता है । उसके बाद माता-पिता की मृत्यु होती है । कैसे सुभागी परिस्थितियों से संघर्ष करती है, कर्जा उतारती है । फिर गाँव के मुखिया जाति-बंधन तोड़कर उसे अपने बेटे की बहू बनाते हैं । इस पूरी कहानी में राष्ट्रीय आंदोलन का कहीं आभास नहीं मिलता । इस कहानी से भारतीय देहात जीवन की जानकारी हमें मिलती है और हमारा बोध थोड़ा बढ़ता है । इसमें चरित्र के परिवर्तन पर बल नहीं है, बल्कि हमारी समाज की प्रकृति पर बल है ।

स्वाधीनता आन्दोलन का उभार (1930-31):

'हंस' के माध्यम से जो कहानियाँ आईं, उसमें दो तरह की कहानियाँ मुख्य हैं । एक तरफ उनकी कहानियों की विषयवस्तु स्वाधीनता - आंदोलन की गतिविधियाँ, अन्तर्विरोध और प्रकृति है । दूसरी तरफ किसान जीवन संबंधी कहानियाँ हैं । किसान जीवन संबंधी कहानियों में स्वाधीनता आंदोलन का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है । 'समर यात्रा'(अप्रैल 1930) में एक परंपरागत समाज का आधुनिक राजनीतिक आंदोलन से संबंधी द्वन्द्व, तनाव और सम्मिलन दिखाया गया है । इस कहानी में आदर्श और यथार्थ का ऐसा मेल है कि इसे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की उत्तम रचना कहा जा सकता है । यह कहानी 'लाग डाँट' की परंपरा की है । इसमें देहातों में स्वराज्य आंदोलन के प्रचार की प्रक्रिया है । पचहत्तर साल की गरीब बुढ़िया नोहरी इस कहानी की मुख्य

पात्र है । प्रेमचंद ने दिखाया है कि आज सत्याग्रहियों का जत्था गाँव में आने वाला है । लोगों में उमंग, उत्साह और त्याग के पवित्र भाव भरे हुए हैं । इस उमंग के मूल में यह धारणा है कि अब जुल्म खत्म होगा और अत्याचार बन्द होंगे । स्वराज्य सब रोगों की दवा है । लेकिन प्रेमचंद ने अद्भुत सरलता से दिखाया है (और यही उनका यथार्थवाद है) कि इस जत्थे का स्वागत गाँव के सबसे बड़े किसान चौधरी कादिर के घर में हो रहा है । जत्थे का वर्णन है :

"..... दो - दो आदमियों की कतारें थीं । हर एक की देह पर खद्दर का कुर्त्ता था, सिर पर गांधी टोपी, बगल में थैला लटकता हुआ, दोनों हाथ खाली, मानो स्वराज्य का आलिंगन करने को तैयार हों।"[5]....

इस वर्णन से स्पष्ट है कि यह शिक्षित वर्ग ही है, जो आंदोलन के प्रचार-प्रसार में लगा हुआ है । गाँव की जनता भक्ति-भाव से इन्हें अपना उद्धारक समझती है, एमसफ्फ नहीं । एक दूरी दोनों के बीच बनी हुई है फिर भी एकता की जमीन तैयार हो रही है । कहानी में स्वराज्य की उमंग और अहिंसा के साथ पुलिस का आतंक भी मौजूद है — फिर भी किसानों की भागीदारी बढ़ रही है । इस वर्णन में प्रेमचंद की आकांक्षा भी व्यक्त हुई है कि किसान आंदोलन में सक्रिय हिस्सा ले ।

वास्तव में प्रेमचंद ने जिन आदर्श चरित्रों की सृष्टि की है, वे मात्र उनकी निजी दृष्टि और विवेक के ही परिणाम नहीं हैं, बल्कि हमारा स्वाधीनता आंदोलन (जिसने इन चरित्रों को पैदा किया है) की कुछ आध्यात्मिक और आदर्शवादी मूल्यों की सहायता से लड़ा जा रहा था । प्रेमचंद का निजी विवेक इस तथ्य में है कि संख्या में कम होते हुए भी उन्होंने अपनी रचना दृष्टि ऐसे 'आदर्श' चरित्रों पर ही केन्द्रित की । 'समरयात्रा' की नोहरी या 'पत्नी से पति' का अंधा भिखारी (जिसने भिक्षा में मिला हुआ सिक्का पहिले ही चंदे में दे दिया) आदि इसी तरह के पात्र हैं ।

प्रेमचंद ने इन कहानियों में साम्राज्यवादियों द्वारा प्रचारित कुछ मिथकों को तोड़ा (जिसे मूलतः स्वाधीनता आन्दोलन ने तोड़ा था) । जैसे कि किसान बिचारा क्या कर सकता है, सरकार शक्तिशाली है और निहत्थी जनता कमजोर है, जो राजा है, वह राजा है; जो परजा है वह परजा है, भला परजा कभी राजा हो सकता है । आदर्शवादी साहित्य और चरित्रों ने इन मिथकों को तोड़ने में मदद की । वास्तव में प्रेमचंद की कमी इस बात में नहीं है कि उन्होंने आदर्शवादी चरित्रों को गढ़ा, बल्कि कमी है कि उन्होंने उनके मनुष्य और उनकी शक्ति को अतिरंजित रूप में देखा । आदर्शवादी पात्र भीतर से खोखला होता है और उसके अधःपतन की संभावना ज्यादा होती है । इस तथ्य को भी प्रेमचंद ने 'त्यागी का प्रेम' कहानी में दिखाया है । विनय, चक्रधर, समरकांत का आत्मसंघर्ष इन पात्रों की आदर्शवादिता में निहित है ।

कांग्रेस ने राष्ट्रीय आंदोलन के साथ शराब-बन्दी आंदोलन भी चलाया । इस पृष्ठभूमि पर भी प्रेमचंद ने 'शराब की दुकान', 'मैकू' जैसी कहानियां लिखी । प्रेमचंद के साहित्य में स्वराज्य की अस्पष्ट धारणा मिली है । उन्होंने साफ लिखा : '' रामणि ने कहा — अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूंगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा । अंग्रेजी महाजनों की धन-लोलुपता और शिक्षितों का स्वार्थ ही आज हमें पीसे डाल रहा है । जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी है । कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाय ।''[6]

1931 में जब आंदोलन बढ़ा, तब सरकारी दमन भी तेज होता गया । इसके साथ ही कांग्रेस की कार्यपद्धति के प्रति भी बुद्धिजीवियों

में आलोचनात्मक रुख बढ़ने लगा । फरवरी 1931 में प्रेमचंद की कहानी 'जेल' छपी । इसमें सरकारी दमन का विस्तृत वर्णन है । सारे भारत में — शहर हो या गाँव — सभी जगह पुलिस अत्याचार बढ़े और सामान्य जनता जेलों में जाने लगी । यही नहीं, बल्कि नारियों ने भी जेल-यात्रा की । प्रेमचंद ने इस परिवर्तन को कहानी में उद्घाटित किया । इस वर्ष प्रेमचंद ने स्वदेशी के प्रचार संबंधी भी कहानियाँ लिखीं । 'होली का उपहार' और 'आखिरी तोहफा' में स्वदेशी का प्रचार है ।

कांग्रेस ने विदेशी वस्तुओं की दूकान पर पिकेटिंग का कार्य करना शुरू किया । दूकानदारों में कुछ गरीब लोग थे, अतः वे कांग्रेस की मुहर तोड़ दिया करते थे । इसे रोकने के लिये कांग्रेस ने तावान वसूल करना शुरू किया । इससे उत्पन्न प्रश्न और कुछ ऐतिहासिक हवालें तावान (सितम्बर 1931) कहानी में हैं । दबौड़ी लाल नामक दूकानदार पर 101 रुपये का दंड लग गया । उसने विनती की । कांग्रेस प्रधान ने एक नहीं सुनी । इस पर उसकी पत्नी ने कहा — ''..... कांग्रेस तुमसे साथ सत्याग्रह करती है, तो तुम भी उसके साथ सत्याग्रह करके दिखा दो । मैं इस मरी पुरी दशा में भी कांग्रेस को तोड़ डालूँगी । जो अभी इतने निर्दयी हैं, वह कुछ अधिकार पा जाने पर क्या न्याय करेंगे ।''[7] लेकिन इस शंका को प्रेमचंद ने 1931 में तो आशावाद से मिटा दिया, लेकिन आगे चलकर यह आशंका बढ़ती चली गयी ।

प्रेमचंद ने स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि में सभ्यता की समीक्षा भी की है । प्रेमचंद ने जगह-जगह लिखा है कि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से हमारी शिक्षित समुदाय में नैतिक दुर्बलता और स्वार्थ-लिप्सा के भाव पनप गये हैं । 'उन्माद' (जनवरी 1931) के विश्लेषण से उनके मनोजगत का पता चल सकता है । मनहर शिक्षित युवक है । वह अपनी पत्नी वागीश्वरी के त्याग और तपस्या से पढ़ता है । विलायत जाता है । वहाँ जाकर वह उसे भूल जाता

है और अंग्रेज युवती जेनी से प्यार करने लगता है । प्रेमचंद ने मनोरमा की मनःस्थिति को यों चित्रित किया है :

'' वागीश्वरी उसके विद्याभ्यास में सहायक हो सकती थी ; पर उसे अधिकार और पद की ऊँचाइयों पर न पहुँचा सकती थी । उसके त्याग और सेवा का महत्त्व भी अब मनोरमा की निगाहों में कम होता जाता था । वागीश्वरी अब उसे एक व्यर्थ-सी वस्तु मालूम होती थी, क्योंकि उसकी भौतिक दृष्टि में हर एक वस्तु का मूल्य उससे होने वाले लाभ पर ही अवलम्बित था । अपना पूर्ण जीवन अब उसे हास्यास्पद जान पड़ता था । चंचल, विमुग्ध, विनोदिनी अंग्रेज युवतियों के सामने वागीश्वरी एक हलकी, तुच्छ-सी वस्तु जान पड़ती — इस विद्युत प्रकाश में वह दीपक अब मलिन पड़ गया था ।..... ''[8]

बातें ये सही हो सकती हैं, लेकिन इनको जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, वह एक आदर्श भारतीय पारिवारिक व्यक्ति का दिमाग ही हो सकता है । इस वर्णन में अन्तर्निहित व्यंग्य भाव उभरता रहता है । वास्तव में प्रेमचंद को 'परिवार' नामक सामाजिक संस्था से विशेष मोह था और वे उसे समाज की एक आवश्यक इकाई मानते थे । इस संस्था का टूटना प्रेमचंद समाज के लिये घातक समझते थे । प्रेमचंद ने यह भी समझ लिया था कि पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक - युवतियाँ इस संस्था से विमुख हो रहे हैं । वे संयुक्त परिवार के समर्थक थे । हालाँकि हमारे परिवारों में चल रहे पर्यंत अत्याचारों से वे वाकिफ थे ; फिर भी इस संस्था में ही उनको कुछ संभावनाएँ दिखाई देती थी । व्यक्ति के विकास के अवसर दिखाई देते थे, जिसे वे किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते थे । उसके मूल में संभवतः उनका अपना सफल पारिवारिक जीवन रहा हो । प्रेमचंद ने अपने अनुभव को आदर्शीकृत किया और उसे पर्याप्त महत्त्व दिया ।

वे ठाठ-बाट और फैशनेबुल लोगों के विरोधी थे और सादगी के कायल थे । जिसे उन्होंने जीवन का मानदंड बना रखा था और कई जगह निर्णायक की हद तक उसे महत्त्व देते थे । जो व्यक्ति फैशनेबुल है, वह मूलतः स्वार्थी है ; भौतिक सुख-सुविधाओं पर जान देता है, अतः आध्यात्मिक - धार्मिक

मूल्यों से शून्य है ; नयी सभ्यता के चमक-दमक में फँस गया है, अतः अल्पबुद्धि है । सबसे बड़ी चीज यह है कि उसमें देश प्रेम का अभाव है । अगर ऐसे व्यक्ति में कोई गुण बचा रह गया है तो इस 'पेशनिबुल' पन के बावजूद रह गया है । अभी भी उसमें मानवीयता यानी आध्यात्मिकता यानी भारतीयता की चिनगारी बची रह गयी है, जिसे विकसित करके प्रेमचंद उस व्यक्ति का परिष्कार करना चाहते हैं । उनकी आत्मा यह मान ही नहीं सकती थी कि साफ-सुथरे ढंग से कपड़े पहनने वाला व्यक्ति देशद्रोही, मानवीय, और आत्मिक गुणों से लैस हो सकता है ।

प्रेरणा (मई 1931) में यूरोप और भारत की तुलना करते हुए भारतीय जीवन की प्रशंसा की है । यूरोप के इस विश्लेषण के पीछे निश्चित रूप से पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण है । इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रेमचंद पुनरुत्थानवादी हैं, बल्कि यह कि समकालीन विश्व की जो व्याख्या पुनरुत्थान-वादियों ने की थी, उस व्याख्या के एक बड़े भाग से — पश्चिम विरोधी भाग से प्रेमचंद सहमत थे । इसका एक कारण हमारा स्वाधीनता आंदोलन भी हो सकता है । उस समय यह ऐतिहासिक जरूरत थी कि एकांगिता की हद तक जाकर भी उन शक्तियों को प्रोत्साहित किया जाय, जो पश्चिम का — यानी अंग्रेजों का विरोध करती हों । साथ ही हमारे देश, इतिहास, समाज और संस्कृति की महिमा गायी जाय । इसी से हमारी शिक्षित वर्ग में व्याप्त हीन भावना को खत्म करके उनमें आत्मसम्मान की भावना पैदा की जा सकती है । 'हम आपसे किसी भी तरह से छोटे नहीं हैं' — इससे यह विचार-प्रणाली शुरू हुई और इस तान पर टूटी कि तुम इस तरह से हमसे छोटे हो, पतित हो । तुम्हारा मुँह नहीं है कि हमारी आलोचना करो ।

इन कहानियों के अलावा 'लांछन', 'दरोगाजी', 'आखिरी हीला', 'डिमॉस्ट्रेशन', 'प्रेम का उदय', 'शाप', 'सौत' आदि कहानियाँ प्रेमचंद ने लिखीं । इनमें सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है ।

किसान (1930-31):

इस दौर में प्रेमचंद ने किसानों के जीवन पर स्वतंत्र साहित्य लिखना शुरू किया। 'समरयात्रा' में किसानों के जीवन में राजनीति के प्रवेश का वर्णन है। बाद की कहानियों में ऐसा नहीं है। प्रेमचंद ने 'पूस की रात' (मई 1930) में किसान की वास्तविक हालत की नाटकीय अभिव्यक्ति की है। इसकी पृष्ठभूमि में मंदी की भूमिका है। किसान विशेष रूप से छोटे किसानों की तबाही की दास्तान इसमें है। किसान (हल्कू) कर्जदार है। उसने मजदूरी करके तीन रुपये कमाये हैं ताकि कम्बल खरीदा जा सके, जिससे पूस की रात में खेत की रखवाली कर सके। उन रुपयों को महाजन ले गया। हल्कू की पीड़ा (सर्दी के कारण) और कुत्ते से उसका आत्मीय संबंधों की मार्मिकता इसमें है। पड़ोस्यकायी खड़ी फसल को पशु चर रहे हैं, जबरा भौंक रहा है, हल्कू अपनी हानि महसूस कर रहा है — लेकिन जान लेवा ठंड ऐसी है कि उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। खेती उजड़ गयी।

> '' मुन्नी ने चिंतित होकर कहा — अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।
>
> हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा — रात को ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।''[9]

इस तरह हल्कू किसान से मजदूर बन जाता है। प्रेमचंद की नजर में, स्वयं हल्कू की नजर में और ग्राम्य समाज की नजर में उसका पतन हो जाता है। प्रेमचंद ने दिखाया है कि अपने पतन पर भी हल्कू प्रसन्न है। एक ट्रेजडी के नायक की हँसी हल्कू की हँसी है, जो रुला देती है। इसके अलावा प्रेमचंद ने दिखाया है कि हल्कू औद्योगिक मजदूर नहीं बना है, बल्कि खेत मजदूर बन गया है। उसकी स्थिति में परिवर्तन हो गया है, पर चेतना वही है।

'सुजान भगत' और 'पूस की रात' की परंपरा में ही उन्होंने 'स्वामिनी' (सितम्बर 1931) कहानी लिखी है। भारतीय संयुक्त परिवार में मुखिया की स्थिति के इर्द-गिर्द कहानी घूमती है। रामप्यारी और रामदुलारी दो सगी बहनें हैं। दोनों का विवाह बिरजू और मथुरा दोनों भाईयों से हो गया। यह भारतीय किसान परिवार का आम रिवाज है। बिरजू बीमार पड़ा और चल बसा। अब शिवदास ने बिरजू की पत्नी रामदुलारी को घर की स्वामिनी बना दिया। मुखिया बनते ही रामदुलारी में कैसे कर्मठता, प्रवणता, अनुशासनबद्धता आती है — इसका विस्तृत वर्णन कहानी में है। उसकी इन्हीं विशेषताओं के कारण घर का मुखिया भी सबसे ज्यादा चिंतित रहता है। थोड़े दिनों बाद मथुरा अपनी पत्नी को लेकर मजूरी करने चला जाता है। उनके जाने के बाद कई दिन तक तो प्यारी परेशान रही। और इस प्रक्रिया में अकेली स्वामिनी की मनोव्यथा को प्रेमचंद ने मार्मिक ढंग से देखा है और हिंदी में पहली बार किसान के अकेलेपन की पीड़ा को वाणी दी है। फिर जीवन चल पड़ता है। रलवाहा छोकू और प्यारी में आत्मीय संबंध विकसित होते हैं। प्रेमचंद ने इस संबंध का वर्णन इस तरह से किया है जिससे लगता है कि दोनों ने शादी कर ली। किसानों में विधवा - विवाह की प्रथा है। प्यारी ने स्वामित्व के मोह में दूसरा घर नहीं किया, परन्तु जब घरवालों ने ही साथ छोड़ दिया, तब वह शादी क्यों न कर लेती।

किसानों से प्रेम करने का तात्पर्य है, उनके गाय - उनके बैलों से प्रेम — खेती और खेती के औजारों से प्रेम। अतः प्रेमचंद ने किसान जीवन का वर्णन करने में पशु-जगत को भी समेट लिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। 'दो बैलों की कथा' (अक्टूबर 1931) के हीरा मोती प्रेमचंद के अमर पात्रों में से हैं। किसान की जान उसके बैलों में होती है। इस कहानी में प्रेमचंदनेकिसान का जीवन, उसकी मनोवृत्ति, बैलों का मनोविज्ञान आदि को अभिव्यक्त किया है। और एक तरह से पशुओं को मानवीय रूप में उपस्थित किया है।

'सद्गति' (अक्टूबर 1931) में अछूतों की स्थिति के प्रति मानवीय सहानुभूति प्रकट की गयी है और टकेंथी ब्राह्मणों की अमानवीय प्रकृति को स्पष्ट किया गया है । ये कहानी शहरी शिक्षित वर्ग को संबोधित की गयी है, अतः उसमें ऐसे विवरण और निर्देश हैं, जो देहात में सामान्य चेतना के अंग बन चुके हैं । पंडित घासीराम के यहाँ दुखी चमार मुहूर्त पूछने जाता है । पंडित जी उससे बेगार लेते हैं और खाना भी नहीं देते । फलतः वह मर जाता है । इस कहानी में प्रेमचंद ने अतिरंजना का दी है । वे पश्चिम से भारत की जब तुलना करते हैं तो भारत के आतिथ्य - सत्कार का जिक्र करते हैं और ऐसा लगता है मानो खाना खिलाने का कर्तव्य सभी भारतीय निभाते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में चूंकि टकेंथियों की भर्त्सना करनी थी, अतः एक चमार को भूख से मरवा दिया ।

गबन :

यह उपन्यास स्त्रियों की आभूषणप्रियता की मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर शुरू किया गया है । यह समस्या नौकरी पेशा मध्यवर्ग में होती है । इसके मुख्य पात्र कायस्थ परिवार के हैं, जिनकी आय 50/- रुपये या 30/- रुपये मासिक होती है । प्रेमचंद हिन्दुस्तान में व्याप्त इस आभूषणप्रियता से बहुत परेशान थे । इस विषय वस्तु पर उन्होंने कुछ कहानियाँ भी लिखी थीं । 'गबन' में उन्होंने बार-बार लिखा :

''..... गहनों का मोह न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया । जिन लोगों को भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं । एक साल अरबों रुपये केवल सोना - चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं । संसार के और किसी देश में इन धातुओं की इतनी खपत नहीं । तो बात क्या है, उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है, जिससे लोगों की परवरिश होती है, और धन बढ़ता है । यहाँ धन शृंगार में सर्फ होता है, उससे उन्नति और उपकार की जो महान शक्तियाँ हैं, उन दोनों का ही अन्त

ही जाता है । बस यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे, वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा ।.....''10

यही नहीं, अगि उन्होंने लिखा है कि आभूषणों की यह गुलामी पराधीनता से भी कहीं बढ़कर है । ऐसा लगता है कि प्रेमचंद ने इस उपन्यास की शुरुआत एक सामाजिक उपन्यास के रूप में की ; (क्योंकि तब तक सविनय अवज्ञा आंदोलन चला नहीं था) लेकिन अगि चलकर उपन्यास राजनैतिक होता चला गया । विषय वस्तु का यह परिवर्तन सामाजिक-परिवर्तन के समानान्तर ही हुआ । अमृतराय ने ठीक ही लिखा है — '' एक अच्छे शिल्पी के सधे हुए हाथों का काम है, इसलिए जोड़ का पता नहीं चलता, मगर गौर से देखो तो 'गबन' के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में जोड़ है । दोनों का रंग, दोनों की हवा, दोनों की बू-बास — सब कुछ अलग है । रमानाथ के इलाहाबाद से भागकर कलकत्ते पहुँचते ही दुनिया बदल जाती है । सामाजिक रूढ़ियों की कारें और गर्द और धुंधलके में लिपटे हुए मर्दों और औरतों की टोली पीछे छूट जाती है और आजादी की लड़ाई में अपने दो होनहार बेटों की भेंट चढ़ा देने वाली देवीदीन का तेजस्वी चेहरा उभरकर सामने आ जाता है ; सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय के संघर्ष में आत्मा के नये शिखर दिखाई पड़ते हैं ; ..... सामाजिक उपन्यास राजनीतिक उपन्यास बन जाता है ।''11

इस उपन्यास का नायक रमानाथ है । यह भावुक परन्तु अविचारशील युवक है । प्रेमचंद ने अब तक जिन युवकों को चित्रित किया है, वे अधिकतर राजनीतिक कार्यकर्ता रहे हैं जैसे विनय और चक्रधरी। इस बार गबन का शिक्षित युवक अराजनीतिक है । लेकिन मजे की बात यह है कि इन सब युवकों के भाव-जगत में अद्भुत रूप से समानताएँ मौजूद हैं । अराजनीतिक युवक समाज में कितना भयानक हो सकता है, रमानाथ इसका उदाहरण है । वह शिक्षित निम्नमध्यवर्ग का व्यक्ति है । जीवन का कोई ऊँचा आदर्श उसके पास नहीं है । भोग-विलास की इच्छा मन में दबाए हुए है, जो पूरी नहीं

होती, उसे पूरा करने का प्रयास करता रहता है । धोखा और सिद्धान्तहीनता उसके जीवन में मुख्य भूमिका निभाती है, जिसके मूल में स्वार्थपरता है । ऐसे व्यक्ति में आत्मसम्मान और आत्मविश्वास के भाव नहीं होते । सामाजिक जिम्मेवारी के बजाय निजी सुख-दुख से वह संचालित होता है । यह व्यक्ति पूरी तरह आवेगों से संचालित होता है । उसके कार्य संगत मूल्यों के परिणाम नहीं होते, बल्कि आवेगपरक होते हैं । लेकिन ऐसे व्यक्ति पाप और अन्याय से भी डरते हैं । उसे जितना डर जेल से लगता है उतना ही ईश्वर से भी । इसी कारण वह सरकारी गवाह बनने के लिए तभी तैयार होता है, जब उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि सरकारी मुकद्दमा सच्चा है । प्रेमचंद ने रमा के चरित्र के इस अन्तर्विरोध को पकड़ा है और उसके व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं का बराबर ध्यान रखा है ।

रमानाथ उधार गहने लेता है और सरकारी रकम खर्च कर डालता है और मुकद्दमे के डर से कलकत्ता भाग जाता है । रास्ते में उसे देवीदीन खटीक मिलता है, जो उसकी सहायता करता है । प्रेमचंद के उपन्यासों के केन्द्र में अधिकतर सत्साव रहे हैं । 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर और 'रंगभूमि' में जान-सेवक केन्द्र में है । लेकिन 'गबन' के केन्द्र में पहली बार एक सकारात्मक व्यक्तित्व है और वह है — देवीदीन खटिक । उसकी मानवीयता और जिन्दादिली उसकी संघर्षशील प्रकृति की देन है । उपन्यास में देवीदीन के आगमन के साथ ही उपन्यास की विषयवस्तु में राजनीति का प्रवेश हो जाता है । वह स्वदेशी का प्रेमी है । विदेशी वस्तुओं का उपयोग नहीं करता । यही नहीं उसके मन में स्वराज्य की बड़ी ही स्पष्ट कल्पना है । देश के नेताओं से वह एक बार पूछता है :

"..... साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है ? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे ; तुम भी औरों की तरह बंगली में रहोगे, पलटन हो एवा खाओगे, औरों ठाट बनाये घूमोगे ; इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा ?

तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बन्दों की जिन्दगी भले आराम और ठाट से गुजरे ; पर देश का तो कोई भला न होगा । यह बगलें झाँकने लगे ।.....''[12]

हालांकि देवीदीन के अंतिम दो उपन्यास में राजनीति का प्रवेश हो गया था, फिर भी केन्द्र में समाज ही था । राजनीति उपन्यास के केन्द्र में पृष्ठ 214 से आती है, जब रमानाथ को मुखबिर बनाने की योजना सोची जाती है । इसके बाद उपन्यास क्रमशः स्वाधीनता आंदोलन के दमन का दृश्य देने लगा और आम जनता के त्याग, साहस और बलिदान के भावों को व्यक्त करने लगा । प्रेमचंद ने अप्रत्यक्ष रूप से बताया है कि 15 कैदी स्वाधीनता आंदोलन के सिपाही हैं, उनके विरुद्ध पुलिस ने झूठा मुकदमा तैयार किया है । एक जगह दरोगा जालपा के बारे में कहता है ''..... मालूम होता है, स्वराज्य वालों ने उस औरत को मिला लिया है । यह सब एक ही शैतान हैं ।''[13] इसी वाक्य से लगता है कि गिरफ्तार व्यक्तियों का संबंध स्वराज्य वालों से है । फिर प्रेमचंद ने उनका वर्णन भी किस पावन सदृश्य से किया है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है ।''[14]

प्रेमचंद ने इस उपन्यास में ब्रिटिश साम्राज्य की पुलिस के आतंक का भयानक वर्णन किया है । एक बार धर्मभीरु रमानाथ जालपा के समझाने से बयान बदलने पर उतारू हो जाता है । इस पर पुलिस सिपाही कहता है :

'' तोम पुलिस को धोखा देना दिल्लगी समझता है । अभी दो गवाह देकर साबित कर सकता है कि तुम राजद्रोह की बात कर रहा था। दस चला जायिगा सात साल के लिए । चक्की पीसते-पीसते हाथ में घट्टा पड़ जायिगा । यह सिकड़ा - सिकना गाल नहीं रहेगा ।''[15]

उपन्यास का अंत आशावादी रूप । जालपा के सदुपदेश और साहस से रमानाथ ने बयान बदल दिया, जिससे झूठा मुकदमा खारिज हो गया। जोहरा (क्रिया) की मृत्यु हो गयी । वकील साहब की पत्नी रतन भी मर गयी । शेष पात्र देहात में चले आये और खेती करने लगे । देवीदीन भी साथ में आ गया । इस तरह उपन्यास के अंत में प्रेमचंद ने शहर बनाम गाँव के द्वन्द्व को सामने रखा और दिखाया कि चैन की जिन्दगी सिर्फ गाँव में ही

दिखायी जा सकती है ।

कर्मभूमि (1932 ई०):

इस उपन्यास की शुरुआत वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की आलोचना से होती है । ''..... वही हृदयहीन दफ्तरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारी शिक्षालयों में भी है । चाहे जहाँ से लाओ ; कर्ज लो, गहने गिरो रखो, लोटा-थाली बेचो, चोरी करो, मगर फीस जमा दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी, या नाम कट जायेगा । जमीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रियायत की जाती है । हमारी शिक्षालयों में नर्मी को घुसने ही नहीं दिया जाता । वहाँ स्थायी रूप से मार्शल-ला का व्यवहार होता है ।..... यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफों के पुल बाँधे जाते हैं । यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या ?''16

शुरुआत से ही स्पष्ट है कि प्रेमचंद अपने जमाने के शिक्षित वर्ग की उत्पत्ति, विकास और प्रकृति को रेखांकित करना चाहते हैं । यदि बुद्धिजीवी वर्ग में धन-लोलुपता और स्वार्थप्रियता है, तो उसका कारण हमारी इन्हीं सामाजिक संस्थाओं में होना चाहिये । अमरकान्त के पिता लाला समरकान्त महाजन थे । अमरकान्त आदर्शवादी युवक है, अतः उसके पिता से वैचारिक और राजनीतिक मतभेद है । उसकी माँ का देहान्त हो गया, पिता ने दूसरी शादी की और विमाता से अमरकान्त की पटी नहीं । सुखदा नामक धनवान लड़की से उसकी शादी हुई और उसमें विलासिता के भाव पनपने लगे ।

अमरकान्त की पारिवारिक पृष्ठभूमि का वर्णन करने के बाद प्रेमचंद ने कुछ पात्रों को देहात भेजा और वहाँ की हालत का वर्णन सुनाया । रास्ते में अमर, सलीम आदि ने देखा कि दो-तीन गोरे सिपाहियों ने एक भारतीय स्त्री की इज्जत लूट ली । इस पर इन युवकों ने गोरों की खूब पिटाई की । प्रेमचंद ने यह उपन्यास स्वाधीनता - आंदोलन के आशावादी दौर में लिखा था,

जब छोटी-से-छोटी घटना से सारे देश में हलचल मच जाया करती थी । एक स्त्री के बलात्कार का मामला प्रेमचंद ने राष्ट्रीय अपमान का मामला बना दिया। उपन्यास में मुन्नी का अपमान भारतीय नारी का अपमान है । और यह भारतीय नारी भारत माता की प्रतीक बन जाती है और अंग्रेज सिपाही अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रतीक बन जाते हैं ।

इस उपन्यास में तीन तरह की कथाएँ चलती हैं । एक आयाम अमरकान्त का पारिवारिक जीवन है, जिसमें पुत्रदा, अमरकान्त , नैना आदि के आपसी संबंध हैं । दूसरा आयाम अमरकान्त का सकीना से प्रेम-संबंध है । इसमें इस युवक के भावात्मक स्तर का पता चलता है । परंपरागत समाज के विरुद्ध व्यक्ति का वैयक्तिक विद्रोह इस प्रसंग में उद्घाटित होता है । इसके अतिरिक्त कथा का तीसरा आयाम राजनीतिक है । इसमें अमरकान्त एक राजनीतिक कार्यकर्ता है, कांग्रेस का मेम्बर है । सलीम, डा० शांति कुमार, मुन्नी आदि का जीवन है । इसी में लगान-बन्दी आंदोलन का प्रकरण है । कथा के इन तीनों आयामों के केन्द्र में शोभित युवक अमरकान्त का जीवन है ।

अमरकान्त ने अपने पिता से विद्रोह किया । वह औसत पारिवारिक व्यक्ति का जीवन नहीं जीना चाहता था । पिता ने उसे घर से निकाल दिया, तब वह त्यागी बन बैठा । प्रेमचंद ने उसके इस परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि :

"त्यागी दो प्रकार के होते हैं । एक वह जो त्याग में आनंद मानते हैं ; जिनकी आत्मा को त्याग में संतोष और पूर्णता का अनुभव होता है, जिनके त्याग में उदारता और सौजन्य है । दूसरे वह, जो दिलजले त्यागी होते हैं, जिनका त्याग अपनी परिस्थितियों से विद्रोह मात्र है, अपने न्याय पथ पर चलने का तावान संसार से लेते हैं, जो खुद जलते हैं इसलिए दूसरों को भी जलाते हैं । अमर इसी तरह का त्यागी था ।"[17]

दरअसल वह भोगी था, परन्तु सम्मानपूर्वक, आदर्शवादी दृष्टि से भोग करना चाहता था । उसकी सामाजिक आलोचना में भी उसकी यह स्थिति स्पष्ट होती रहती है ।

उपन्यास का पहला भाग कथा की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है । अमरकांत सकीना के प्रेम का राज खुलता है, बुढ़िया पठानिन उसे डाँटती है और विद्रोह तथा क्रांति का गायक अमरकांत भाग खड़ा होता है । इस भाग के सारे क्रियाकलाप शहर में होते हैं, जहाँ धन का शासन है । फलतः ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और स्वार्थ का यहाँ राज्य है ।

दूसरा भाग एक गाँव के प्राकृतिक वर्णन से शुरू होता है । यहाँ सरलता, सत्य, मेवा और सुहापन का साम्राज्य है । यहाँ अछूत बसते हैं । मुन्नी और अमरकान्त को भी इसी जगह लाया गया है । यह पूरा भाग सामाजिक है । अमर यहाँ समाज सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता बना हुआ है, मुन्नी उसे प्रेरणा और सहायता देती है । यहाँ वह गो-मांस भक्षण को बन्द करवाता है और शराब बन्दी करवाता है । गाँव की हालत पर टिप्पणी करते हुए अमरकांत कहता है :

''..... वह ग्रामवासियों की सरलता और सहृदयता, प्रेम और सन्तोष से मुग्ध हो गया है । ऐसे सीधे-सादे, निष्कपट मनुष्यों पर आये दिन जो अत्याचार होते रहते हैं, उन्हें देखकर उसका खून खौल उठता है । जिस शांति की आशा उसे देहाती जीवन की ओर खींच लायी थी, उसका यहाँ नाम भी न था । घोर अन्याय का राज्य था और अमर की आत्मा इस राज्य के विरुद्ध झण्डा उठाये फिरती थी ।''[18]

तीसरे भाग में वह फिर शहर आता है । इसमें लाला समरकांत का पारिवारिक जीवन है, जो एकदम टूट रहा है । उनका परिवार जीवन मूल्यों के संघर्ष का केन्द्र बना हुआ है । अमर के चले जाने के बाद लाला समरकांत की धर्मबुद्धि जागृत होती है । मन्दिरों में ब्याज देने लगती है । यहाँ फिर अछूतों के मन्दिर प्रवेश की समस्या उठ खड़ी होती है । अछूतों और सवर्णों का संघर्ष हुआ । पुलिस ने सवर्णों की और सेवाश्रम के लोगों ने अछूतों की मदद की ।

उधर सलीम सरकारी नौकर बनकर उसी जिले में आ रहा है, जहाँ अमर कार्य कर रहा है । इस उपन्यास में नारियाँ भी सामाजिक कार्यकर्ताओं के रूप में सामने आयी हैं । विलासिनी सुखदा जैसे एक सामाजिक कार्यकर्ता बन गयी, इसका इसमें वर्णन है । नारियों का सामाजिक जीवन में यह प्रथम सक्रिय अहिंसा आंदोलन की देन है । उपन्यास की नायिका सुखदा है । वह डा० शांतिकुमार से मिलकर म्युनिसिपैलेटी से गरीबों के मकान के लिए जमीन माँगती है । शहर के रईस इसका विरोध करते हैं, फलतः हड़ताल होती है । सुखदा कहती है :

'' जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के अलावा और क्या दवा हो सकती है ; लेकिन उसे कोई यह न समझे कि यह आंदोलन दब जायेगा, उसी तरह जैसे कोई गेंद टक्कर खाकर और जोर से उछलती है, जितने ही जोर की टक्कर होगी, उतने ही जोर की प्रतिक्रिया भी होगी । ''[19]

तीसरा भाग समाप्त होते-होते हड़ताल के कारण सुखदा को गिरफ्तार कर लिया जाता है ।

उपन्यास के चौथे भाग में लगान बन्दी आंदोलन है । विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी से किसान तबाह हो रहे थे, अतः उन्होंने स्वतंत्र रूप से किसान सभाओं का संगठन किया और लगानबंदी आंदोलन चलाया । कांग्रेस ने परिस्थिति पुर कहीं इस आंदोलन का साथ दिया, कहीं विरोध किया और कहीं तटस्थ रही अमर, सलीम और मुन्नी इस भाग में है । अमर कार्यकर्ता है, सलीम अफसर है । दोनों दोस्त हैं । प्रेमचंद ने अप्रत्यक्ष रूप से बताया है कि हमारी स्वाधीनता आंदोलन के नायक वे लोग हैं जो आंदोलन में न आते तो सरकारी अफसर बनते । यानी हमारी नेताओं और अफसरों की उत्पत्ति एक ही वर्ग से हुई है । अमर ने जो संगठन बनाया, उसमें उसने जल्दी ही शासन करने की प्रवृत्ति का विकास कर लिया । '' अमर ने अपनी लगन, उत्साह, आत्मबल और कर्मशीलता से अपने सभी सहयोगियों में सेवा भाव उत्पन्न कर दिया था और उन पर शासन

भी करने लगा था । सभी उसका रौब मानते थे । उसके गुलाम थे ।''[20]

यहाँ के जमींदार मन्नतजी हैं, जो धर्म और धन का दुहरा शोषण करते हैं । एकाएक मंदी हुई और भाव इतने गिर गये जितने चालीस साल पहले थे । किसानों की हालत खराब हो गयी । फलतः उत्तर प्रदेश के किसानों में असन्तोष फैलने लगा । मन्नतजी जैसे जमींदारों ने सरकार को लिख दिया कि जितनी छूट सरकार मालगुजारी में देगी, उतनी लगान भी छोड़ दिया जायेगा । किसान असन्तोष बढ़ा, तो समाज सेवक राजनीतिक कार्यकर्त्ता बन गये । सरकार ने विद्रोह के लक्षण देखे तो नेताओं को गिरफ्तार कर लिया । अमरकान्त भी गिरफ्तार हो गये ।

यह उपन्यास प्रेमचंद का बहुत कमजोर उपन्यास है, जिसमें नवीन कल्पना और मौलिकता का अभाव है । पात्र वही हैं, जो पिछले उपन्यासों में आ चुके हैं । समाज के प्रति लेखक की दृष्टि और विषय-वस्तु भी लगभग वही है । 'कर्मभूमि' के लेखक के पास कलात्मक संयम और धैर्य नहीं है, यही नहीं, बल्कि अपने विषय के प्रति कलात्मक लगाव भी नहीं है । वह आदतवश कथा जरूर चलता है, उस कथा का मार्मिक प्रभाव नहीं पड़ता ।

फिर भी, देश प्रेम, इतिहास चेतना और ऐतिहासिक आशावाद इस उपन्यास के मूल में भी मौजूद है । इसे लगानबन्दी आंदोलन का उपन्यास कहा जाता है, जबकि इसका विषय क्षेत्र संपूर्ण स्वाधीनता आंदोलन और राष्ट्रीय जागृति है । इस दृष्टि से यह काफी महत्त्वाकांक्षी से पूर्ण उपन्यास है । इसमें लेखक ने 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' को जोड़ने का प्रयास किया है । किसान-आन्दोलन के साथ-साथ शहर के गरीबों की आवास-समस्या को लेकर आंदोलन भी छिड़ा हुआ है । दोनों का नेतृत्व एक ही वर्ग के हाथ में है । इस दृष्टि से शहर का आन्दोलन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यही आन्दोलन गाँधी को भी नेतृत्वकारी लोग प्रदान करता है ।

लगानबंदी में यहाँ प्रेमचंद ने जमींदार, वकील, पुलिस आदि की शृंखला को सीधे ब्रिटिश सरकार से जोड़ दिया है । 'प्रेमाश्रम' में वे इसे जोड़ नहीं पाये थे । वास्तविक शत्रु मन्नतजी नहीं, ब्रिटिश सरकार है, इसे

'कर्मभूमि' का लेखक जानता है ।

इसमें जेल-व्यवस्था की भी काफी चर्चा है । जिसमें बी० और सी० क्लास के कैदियों के भेद को दिखाया गया है । प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने कमिश्नर से अपील की थी, कि इस भेद को मिटाया जाय परन्तु वह भेद बना रहा । बाद में समरकान्त — जैसे परिवार के मर्यादा-प्रेमी लोग अपने राजनैतिक बेटों की सुविधा के सामान जुटाते रहे । जो साधनहीन थे, वे मुन्नी और पुष्पा पठानिन की तरह अत्याचार सहते रहे । अमरकान्त जैसे कुछ आदर्शवादी युवकों ने जानबूझकर इन सुविधाओं को त्यागा भी ।

इस सारी प्रक्रिया में जो जन-जागृति हुई है, उसे रेखांकित करते हुए लाला समरकान्त सलीम से कहते हैं :

"देख लेना । मैंने भी इसी दुनिया में बाल सफेद किये हैं । हमारे किसान अफसरों की सूरत से काँपते थे ; लेकिन जमाना बदल गया है । अब उन्हें भी मान-अपमान का खयाल होता है ।..... "[21]

इस सारी संघर्ष के अंत में अमरकांत सोचता है कि कहीं इस आंदोलन से अनर्थ तो नहीं हो जायेगा । उसकी यह चिंता राष्ट्रीय नेताओं की ऐतिहासिक चिंता का प्रतिफलन है :

"वह किधर जा रहा है और अपने साथ लाखों निरुपाय प्राणियों को किधर लिये जा रहा है ? इसका क्या अन्त होगा ? इस काली घटा में कहीं चाँदी की रेखा है ? वह चाहता था, कहीं से आवाज आये — बढ़े आओ । बढ़े आओ । यही सीधा रास्ता है ; पर चारों तरफ निस्तब्ध, सघन अन्धकार था । कहीं से कोई आवाज नहीं आती, कहीं प्रकाश नहीं मिलता । जब वह स्वयं अन्धकार में पड़ा हुआ है, स्वयं नहीं जानता कि आगे स्वर्ग की शीतल छाया है, या विध्वंस की भीषण ज्वाला, तो उसे क्या अधिकार है कि इतने प्राणियों की जान जोखम में डाले । इसी मानसिक परावन की दिशा में उसके अन्तःकरण से निकला — ईश्वर मुझे प्रकाश दो, मुझे उबारो । और वह रोने लगा ।"[22]

उपन्यास में संघर्ष के बाद शांति स्थापित हुई । कितनी अजीब बात है कि अंग्रेजों ने 'सज्जनता' और 'सहृदयता' का सिक्का प्रजा में बिठाते हुए यह काम किया और पंच आदमियों की कमेटी बना दी । प्रेमचंद इस आन्दोलन के समर्थक थे क्योंकि इससे जनता में जागृति फैली है, वह बिना इस आन्दोलन के संभव नहीं थी । मजे की बात यह है कि इस आन्दोलन के बाद आन्दोलनकारियों और सरकार के बीच एकता कायम करवाने का काम सेठ धनीराम ने किया ।

राजनीति और कहानियां (1932-36):

समाज की सामान्य चेतना से जब कोई व्यक्ति ऊपर उठता है, या उससे अलग हटता है, या नई चेतना का निर्माण करता है, तो उसे कई प्रकार के संघर्षों से गुजरना पड़ता है । जब वह समाज में व्याप्त मूल्य चेतना का विरोध करता है, तब समाज भी उसे माफ नहीं करता । उसे तिरस्कार, भर्त्सना, निन्दा, सामाजिक बहिष्कार, जेल, देश निकाला और फांसी की सजा समाज या राज्य की ओर से मिलती रही है । लेकिन समाज में नई मूल्य चेतना फैलाने वालों ने ऐसी इन कठिनाईयों को झेला है और अपने युग में सत्य-न्याय के आलंबन बने हुए ऐसे पात्र तब श्रद्धा के पात्र बनते हैं जब समाज में नई चेतना व्याप्त हो जाती है । स्वाधीनता आंदोलन के जमाने में ऐसे कई सामाजिक कार्यकर्ता उत्पन्न हुए, जिनको परिवार वालों ने, संबंधियों और अन्य लोगों ने 'मूर्ख' और 'बौड़म' की उपाधि से विभूषित किया । 'गिला' (अप्रैल 1932) का नायक ऐसा ही एक पात्र है । कहानी उसकी पत्नी के स्वगत पर चलती है । पत्नी पुरातन मूल्य चेतना की वाहक है और पति नई चेतना के । दोनों का संबंध बहुत महत्वपूर्ण है । कहानी में यह संबंध संघर्ष के रूप में व्यक्त हुआ है । पत्नी यानी पुरानी मूल्य चेतना आक्रामक की स्थिति में और पति यानी कि नया जीवन दर्शन बचाव के प्रयास में है । फिर भी नये में शक्ति होती है और उसे विजय मिलती है । इसमें पत्नी अपने पति का बखान करती है — उसकी

उदारता, दया, सच्चाई के व्यावहारिक पक्षों को उजागर करती है, उसके सम्य - चातुरी के अभाव का रोना रोती है, उसके गरीब दोस्तों पर कुंझलाती है, उसकी मानवीय चेतना से परेशान होती है । फिर भी ''.....विडम्बना यह है कि इन सारी दुर्गुणों के होते हुए भी मैं इनसे एक दिन भी पृथक नहीं रह सकती — एक क्षण का वियोग नहीं सह सकती । इन सारी दोषों पर भी इनसे प्रगाढ़ प्रेम है ।''[23]

जार्ज लुकाच ने 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक ग्रंथ में लिखा है कि इतिहास की धारणा आधुनिक युग की देन है — विशेष रूप से फ्रेंच क्रांति और नेपल्यिन युग की देन है । औद्योगीकरण के साथ राष्ट्रीयता की भावना और इतिहास चेतना आयी । लेकिन अजीब बात है कि इतिहास का उपयोग प्रति-क्रियावादी ताकतों ने फ्रेंच क्रांति का विरोध करने के लिये किया । बाद में प्रगतिशील चिंतकों ने भी इतिहास का संगत उपयोग किया ।[24] हिन्दुस्तान में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से इतिहास चेतना की शुरुआत हुई । बीसवीं शताब्दी के मध्य तक आम जनता के भाव-बोध में इतिहास और राष्ट्रीयता का केन्द्रीय स्थान है । यहाँ पर भी पहले-पहल पुनरुत्थानवादियों ने इतिहास का उपयोग किया ; उन्हीं के विरोध में प्रेमचंद जैसे बुद्धिजीवियों ने इतिहास के प्रति वैज्ञानिक रुख अपनाया । 'चांदी' (अगस्त 1932) का नायक सोचता है, '' अगर अम्मा ने अपनी सास की साड़ी धोई है, उनके पाँव दबाए हैं, उनकी झुड़कियाँ खाई हैं, तो आज वह पुराना हिसाब वह से क्यों चुकाना चाहती है ? उन्हें क्यों नहीं दिखाई देता कि अब समय बदल गया है । बहुएँ अब सच्ची सास की गुलामी नहीं करतीं । प्रेम से चाहे उनके सिर के बाल नोच लो, लेकिन जो रौब दिखाकर उन पर शासन करना चाहो, तो वह दिन लद गए ।''[25] इस तरह प्रेमचंद ने अपनी अन्य अनेक कहानियों में भी सामाजिक संबंधों के परिवर्तन और विकास को रेखांकित किया है ।

1932 से, जब कांग्रेस आंदोलन मंदिधम पड़ने लगा, तब बुद्धिजीवियों में आत्मालोचना की प्रवृत्ति बढ़ने लगी । प्रेमचंद कांग्रेस के प्रति

अधिकाधिक आलोचनात्मक होते चले गये । 'दुस्सा' (जुलाई 1932) में कांग्रेस कार्यकर्ताओं के प्रति एकान्त आलोचनात्मक रुख है । कहानी में पात्रों के नाम क० स० ग० हैं । नायक के घर पर कार्यकर्ता आते हैं और शिकायत करते हैं कि 'क' महाशय के दिमाग में एक खब्त समाया है, 'ख' का पेशा घटिया है, 'ग' महाशय शराब पीते हैं आदि आदि ।

'' जिन शराब की दुकानों पर हम धरना देने जाते थे, उन्हीं दुकानों से उनके लिए शराब आती थी । इससे बढ़कर बेशर्मी और क्या हो सकती है ? मैं ऐसे आदमी को देशद्रोही कहती हूं ।''[26]

इन आलोचनाओं से सहमत होते हुए भी नायक ने एक बौद्ध बच्ची को ऐसे झूठा बताया और झूठ बोलकर वह प्रसन्न हुआ । अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए वह कहता है :

''..... हम और तुम इस संस्था के शुभचिंतक हैं । हमें कार्यकर्ताओं का अपमान करना उचित नहीं । हमें तो इतना ही देखना चाहिए कि वे हमारी कितनी सेवा करते हैं । मैं यह नहीं कहता कि क, ख, ग में बुराइयां नहीं हैं । संसार में ऐसा कौन है, जिसमें बुराइयां न हों, लेकिन बुराइयों के मुकाबले में उनमें गुण कितने हैं, यह तो देखो ।..... ''[27]

स्पष्ट है कि यह दलील लचर है । इस आदर्शवाद के पीछे यथार्थवाद चीखता रहता है । यह कहानी 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की कहानी है । इसी तरह 'डामुल का कैदी' (नवम्बर 1932) में हृदय परिवर्तन की धारणा है ।

वास्तव में प्रेमचंद ने राजनीतिक विषयों पर कहानियां लिखना अब कम कर दिया था । इसका एक कारण यह था कि प्रेमचंद के कांग्रेस से मतभेद बढ़ते जा रहे थे, फिर भी वे उस संस्था के सदस्य थे, क्योंकि वही संस्था समर्थ ढंग से साम्राज्यवादियों से संघर्ष कर रही थी । ऐसी संस्था का विरोध करके वे अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन नहीं करना

चाहते थे । फिर भी उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी हैं ।

फरवरी 1934 में उनकी कहानी 'नशा' छपी । उन्होंने यह देखा कि हमारी समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति क्रांतिकारी कहलाने लगे हैं, जिनका क्रांतिकारीपन किसी स्थायी सिद्धान्त या लोकप्रेम पर आधारित नहीं है, बल्कि उनकी निजी दशा पर निर्भर है । यदि उनकी दशा सुधर जाये तो उनके भाव और विचार भी बदल जायें । इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए उन्होंने उदाहरण के रूप में इस कहानी को गढ़ा ।

'क्रांतिकारी' नायक को लेखक ने जमींदार के घर भेजा । वहाँ पर उसे बड़ा दर्प बताया गया और उसकी खूब आव-भगत की गयी, परिणामतः वह नाजुक मिजाज हो गया । वहाँ से वापस आते समय उसका यह 'नशा' उतरा ।

सामाजिक कहानियाँ :

सजग साहित्यकार प्रेमचंद ने अपने युग की अनेक मानवीय समस्याओं को अपने साहित्य में स्थान दिया । हिन्दू समाज में व्याप्त अछूतों की समस्या उनमें से एक है । सवर्णों का अछूतों पर यह अत्याचार राजनीतिक नहीं, सामाजिक है, अतः इनका हल भी सामाजिक उदारता और प्रजातांत्रिक जीवन मूल्यों के व्यापक प्रचार से ही होगा । स्वाधीनता आन्दोलन में जब प्रजातांत्रिक भारत की परिकल्पना की गयी तब बुद्धिजीवियों का ध्यान इस समस्या की ओर गया । 'रंगभूमि' तक प्रेमचंद ने इस समस्या पर गहराई से विचार नहीं किया था । 'ठाकुर का कुआँ' (अगस्त 1932) में इस समस्या की भीषणता का एहसास होता है । इसकी कथा और घटनाएँ साधारण हैं । जोखू बीमार है, घर में साफ पानी नहीं है । उसकी पत्नी रात को चोरी से पानी लेने जाती है ज्यों ही वह पानी निकालने लगती है, त्यों ही ठाकुर बाहर निकलता है और गंगी भाग खड़ी होती है । इसमें अछूतों की पीड़ा के पीछे बुद्धिवादी दृष्टि

है । लेखक का चिंतन पात्रों के मुख से प्रकट होता रहता है । यथा :
''..... चोरी ये करें, जाल फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें । अभी उस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारी गड़रिए की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मारकर खा गया । इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है । यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं । काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है । किस-किस बात में ये हमसे ऊंचे ?''[28]

वास्तव में, इस कहानी में अहल्या की वास्तविक चेतना की अभिव्यक्ति नहीं हुई है, बल्कि संभावित चेतना की अभिव्यक्ति हुई है । भारतीय समाज में ऊंच-नीच की भावना मात्र सवर्णों में ही नहीं है, बल्कि अहल्या में भी है । (या कम से कम उस जमाने में तो व्यापक रूप से थी, आज भी इस भाव-बोध के अवशेष देहातों में मिल जायेंगे) प्रेमचंद चाहते हैं कि अहल्या खुद सोचे कि वे किस बात में नीचे हैं और सवर्ण भी सोचें कि वे किस बात में ऊंचे हैं ? चिंतन के विकास और परिष्कार से ही इस समस्या का हल संभव है ।

प्रेमचंद बहुत कुछ एक आदर्शवादी समाज में जी रहे थे । ऐसे समाज में विचारधारा और जीवनमूल्यों के स्तर पर काफी एकता मिलती है । वर्ग-संघर्ष जब तीव्र नहीं होता तब समाज के सभी स्तरों में एक खास तरह का सामंजस्य उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण सभी वर्ग एक ही प्रकार के मूल्यबोध से संचालित होते रहते हैं । भीतर-भीतर प्रत्येक वर्ग अपनी ही विचारधारा को शाश्वत सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है या प्रचलित जीवन मूल्यों की अपने लिये नवीन व्याख्या करता रहता है । ऐसे समाज में कुछ ऐसे विचारक पैदा होते हैं जो अपनी विचारधारा में सभी वर्गों के लिए फायदेमन्द जीवन मूल्यों की तलाश करते हैं, जिससे कि यह सामाजिक सामंजस्य बना रहे । जिस दौर में यह सामंजस्य बिखरता है, उस दौर में ऐसे चिंतक अधिक पैदा होते हैं । प्रेमचंद का आदर्शवाद इसी तरह के सामंजस्य का एक असफल प्रयास है । स्वयं प्रेमचंद का साहित्य ऐसे खंडित करता है ।

प्रेमचंद ने स्त्री-पुरुष संबंध पर भी कुछ कहानियां लिखी हैं । इस संदर्भ में उनकी कुछ निजी मान्यताएं हैं । वे मानते हैं कि आकर्षण, प्रदर्शन, और रूप पर आधारित प्रेम कभी स्थायी नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें वासना की, लोभ की मात्रा अधिक होती है ; बल्कि सेवा और आत्म-बलिदान पर आधारित सामाजिक संबंध ही स्थायी होता है । वे स्त्री-पुरुष संबंध को निजी मामला नहीं मानते, बल्कि उसको सामाजिक और आध्यात्मिक मानते हैं । हमारे समाज में हो रहे परिवर्तन का भी इन संबंधों पर असर पड़ा है, इसे भी प्रेमचंद ने महसूस किया है । 'कायर' (जनवरी 1933) में सह शिक्षा के कारण पनपे प्रेम का जिक्र है । '' केशव नए विचारों का युवक था, जात-पात के बन्धनों का विरोधी । प्रेमा पुरानि संस्कारों की कायल थी, पुरानी मर्यादाओं और प्रथाओं में पूरा विश्वास रखने वाली ; लेकिन फिर भी दोनों में गाढ़ा प्रेम हो गया था और बात सारे कॉलेज में मशहूर थी ।''[29] केशव ब्राह्मण था, प्रेमा क्षत्रिय - कन्या । अब प्रेमचंद ने दिखाया है कि कैसे नये विचारों का क्रांतिकारी युवक संघर्ष के समय कायर साबित होता है ; लेकिन पुरानि संस्कारों की रूढ़िवादी प्रेमा घर-परिवार वालों से संघर्ष करती है । लेकिन ब्राह्मण - पुत्र जायदाद को न त्याग सका । इस कहानी में प्रेमचंद ने प्रेम - संबंधी नये विचारों की कमजोरी का मखौल उड़ाया है । उन्होंने उन विचारों में निहित विकासमान शक्ति को न पहचान का उपलब्ध शक्ति की जाँच की और फलतः नये विचारों के नायक को कायर पाया । पुराने विचारों और संस्कारों के पीछे परंपरा की सुदृढ़ जमीन होती है, अतः उसमें आरंभ में शक्ति ज्यादा होती ही है ।

'कुसुम' (अक्टूबर 1932) में प्रेमचंद ने दिखाया है कि वर्तमान शिक्षा से हमारे युवक कितने स्वार्थी हो गये हैं कि पत्नी का त्याग करके श्वसुर के धन से विलायत जाना चाहते हैं ।

प्रेमचंद के जमाने में साहित्यिक जगत में एक नयी घटना घटी, वह यह कि अनेक नारी लेखिकाएं साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुईं । इससे पुरुष प्रधान साहित्य को एक चुनौती मिली । साथ ही कुछ लेखिकाओं में हमने

को प्रतिष्ठित करने के लिये साहित्येतर उपाय भी किये । कुछ लम्पटों ने नारियों की इस प्रवृत्ति को उकसाया और बढ़ावा दिया । फलतः सम्पादकों के नाम व्यक्तिगत पत्र आने लगे । सम्पादक भी लेखिका की रचना को न देखकर अपना ध्यान उसके निजी पत्र पर केन्द्रित करते और उन्हें साहित्य में प्रतिष्ठित करवाने के साथ-साथ निजी संबंधभी बनाने लगे । इससे पत्रिकाओं का स्तर भी गिरने लगा । कुछ प्यूरिटन मनोवृत्ति वाले लोगों ने नारी विरोधी रुख अख्तियार किया और कहने लगे कि नारियों का काम केवल पतिसेवा करना है, साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में उनके आने की जरूरत नहीं है । कुछ लोगों ने उदारता बरतते हुए कहा कि हिन्दुस्तान की स्थिति अभी ऐसी नहीं है कि सम्भ्रांत नारियां सम्मान पूर्वक यह धन्धा कर सकें । बहुत कम ऐसे सम्पादक थे जिन्होंने नारियों की रचनाओं को सहानुभूतिपूर्ण समानता से देखा और बचपन के बावजूद उनको वास्तविक प्रोत्साहन दिया था । इसी पृष्ठभूमि में प्रेमचंद ने 'रसिक सम्पादक' (मार्च 1933) कहानी लिखी, जिसमें लम्पट सम्पादकों को पात्र और व्यंग्य का आलंबन बनाया गया है । 'मनोवृत्ति' (मार्च 1934) में इसी तरह से नारी के प्रति दृष्टि को रेखांकित किया गया है ।

प्रेमचंद की इस दौर की कहानियों में दलितों और गरीबों के प्रति उद्धार की दंभमय आकांक्षा नहीं है और न ही बौद्धिक सहानुभूति मात्र-ही है, बल्कि कथाकार उनमें रम गया है और उनकी पीड़ा का वर्णन करते - करते खुद बही हो गया है । 'दिगाह' (अगस्त 1933) इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण कहानी है । यह उद्देश्यपूर्ण और प्रचारात्मक कहानी नहीं है, बल्कि इसमें अपने आसपास का जीवन है । प्रेमचंद ने जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिये एक निश्चित 'समय' चुना है, जब जीवन अधिक मुखर रूप में सामने आता है । उत्सव और त्यौहार इसी तरह का समय होता है । इस कहानी में प्रेमचंद ने ईद का दिन चुना है । पांच - छः घंटे के इस जीवन में प्रेमचंद ने विशाल जीवन की घनीभूत छाँही दिखायी है ।

कहानी के तीन भाग हैं । पहले भाग में लेखक ने गरीब मुस्लिम परिवार के सांस्कृतिक परिवेश की कहानी कही है । इसमें हामिद के मनोभाव स्पष्ट होते हैं और उनको एक परिप्रेक्ष्य मिलता है । संपूर्ण कहानी में एक खास तरह का बाल मनोविज्ञान है, लेकिन कहानी बाल मनोविज्ञान की कहानी नहीं है । इसमें ग्राम यथार्थ को बच्चे की निर्दोष आँखों से दिखाया गया है । प्रेमचंद मानते हैं कि समाज के पीड़ित और दलित लोगों में ही मानवीयता का निवास है । हामिद के माँ-बाप नहीं है, दादी है । दादी (अमीना) का चरित्र इसमें अविस्मरणीय है । वह एक ऐसी औरत है जिसमें ममता का अक्षय भंडार है, जैसा कि हिन्दुस्तान की संयुक्त परिवार की गृहिणियों में होता है । ऐसी औरतों के परिवार में जब ममता का एकमात्र पालनहार — बच्चा चला गए जाता है, तो उसकी ममता की सघनता का अंदाज लगाया जा सकता है । शुरू में ईदगाह जाने की तैयारी का वर्णन है ।

ईदगाह शहर में है और यहाँ प्रेमचंद ने बच्चों की आँखों से शहर और शहरी सभ्यता को दिखाया है । शहर के वर्णन में व्यंग्य के साथ विरोध का भाव मिलता है । ईदगाह के पावन दृश्य के बाद पहला भाग समाप्त हो जाता है ।

दूसरा भाग कहानी का अन्तःसंघर्ष है । हामिद के सिवा अन्य बच्चों के पिता साथ हैं, अतः वे सुरक्षित महसूस करते हैं । इस सुरक्षा के माहौल में उनका बचपन भी सुरक्षित रहता है । वे उत्साह से मिठाईयाँ खाते हैं, खिलौने खरीदते हैं, चर्खी में घूमते हैं । लेकिन हामिद गरीब है उसका बाप नहीं है, अतः भोले-भाले हामिद के मन में पहला द्वंद्व सवाल बनता है कि वह इन पैसों को कैसे खर्च करे । पैसे का अभाव पैसे की सार्थकता का सवाल उठाता है । वह बच्चे से प्रौढ़ बन जाता है और जिम्मेवार व्यक्ति की तरह एक चिमटा खरीदता है ।

तीसरे भाग में वापस लौटने का जिक्र है । इसमें अमीना और हामिद के संबंध को मुख्य स्थान दिया गया है । और सबों के रिश्ते टूट गये, लेकिन चिमटे ने दादी-पोती के संबंध को भी तोड़ दिया । इसीलि ''.... एक बड़ी विचित्र बात हुई है । हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र । अभी हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था । बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गयी । वह रोने लगी । दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती जाती थी । हामिद इसका रहस्य क्या समझता ।''30

प्रेमचंद ने नारी-स्वाधीनता के लिए भी आवाज उठायी । प्रेमचंद जब समानता के हकदार थे, तब समाज में स्त्री और पुरुष की समानता के भी हकदार थे । उस समय तक भारत में कानून था कि पति के मरने के बाद सम्पत्ति पर पुत्रों का अधिकार हो जाता है, या संयुक्त परिवार हुआ तो वह सम्पत्ति सारे परिवार की सम्पत्ति बन जाती है । पत्नी का अधिकार केवल रोटी-कपड़े तक का है । संयुक्त परिवार में नारी की क्या हालत हो जाती है, इसका वर्णन प्रेमचंद ने 'गबन' में भी किया है । वकील साहब की मृत्यु के बाद रतन की स्थिति कितनी दयनीय हो गयी थी । इसी विषय पर उन्होंने 'बेटों वाली विधवा' (नवम्बर 1932) कहानी लिखी । आज के स्वार्थ प्रधान जमाने में विधवा की हालत अत्यंत शोचनीय हो गयी है, जैसे अयोध्यानाथ की पत्नी फूलमती ही जानती है ।

भोजन भट्ट ब्राह्मणों को परिहास का पात्र बनाना प्रेमचंद की पुरानी आदत रही है । ऐसा लगता है कि इस श्रेणी के चरित्र को प्रेमचंद काफी करीब से जानते हैं । पंडित मोटेराम उनका नाम होता है । ये अज्ञानी और मूर्ख होते हैं ; परन्तु विद्वान समझे जाते हैं । यही नहीं, बल्कि वास्तविक विद्वानों को पछाड़ देते हैं । ये हिन्दू जनता के मनोभावों को जानते हैं । पक्के सिरे के धूर्त और पाखंडी ये लोग होते हैं, पर निर्लिप्त और दयालु समझे

जाते हैं । 'पंडित मोटेराम की डायरी' (जुलाई 1934) के नायक ऐसे ही हैं। फिर भी इन पात्रों के अत्याचार शीघ्र से धुलकर कम हो जाते हैं । कहानी के आरंभ में ये अत्याचारी-से लगते हैं, लेकिन अंत में दयनीय हो जाते हैं ।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की उपज 'बड़े भाई साहब' (नवम्बर 1934) है । प्रेमचंद स्कूल मास्टर थे, अतः उन्हें विद्यार्थियों के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, और उनके आपसी अन्तर्विरोध की गहरी जानकारी थी । इस कहानी की पृष्ठभूमि से इस व्यापक जानकारी का एहसास होता है । बड़े भाई साहब एक खास प्रकार के सामंती पात्र हैं । लेखक की सहानुभूति का बड़ा हिस्सा उन्हें प्राप्त है, फिर भी वे अन्त में दयनीय की हद तक हास्यास्पद बन जाते हैं । वे इस शिक्षा-व्यवस्था से बहुत चिढ़े हुए और रुष्ट थे, लेकिन इस शिक्षा-प्रणाली को बहुत गंभीरता से लेते थे । घोर का एक-एक शब्द चाट जाते थे, फिर भी एक-एक दर्जे में दो-दो, तीन-तीन बार फेल हो जाते थे । छोटा भाई खेलता-कूदता है और दर्जे में अव्वल आता है । अतः अपने बड़े भाई के प्रति एक-सा अवमानना का भाव उसमें है । कहानी के अंत में दो विरोधी जीवन मूल्यों का समन्वय करवाया गया है । छोटे भाई की स्वच्छंदता (जो कि आधुनिक मानव की व्यक्ति - स्वतंत्रता का धुमिलसा रूप है) और बड़े भाई की कर्त्तव्यपरायणता के बीच के विरोध को मानवीयता का पुट देकर पाटा गया है । अंत बीते-बीते कहानी बड़े भाई के अनुशासन में चली जाती है ।

इस बीच प्रेमचंद ने किसानों पर बहुत कम कहानियां लिखी हैं । ज्योति (मई 1933), नेउर (जनवरी 1933), दूध का दाम(जुलाई 1934) आदि कहानियां मिलती हैं । इनमें किसान परिवार की आन्तरिक मूल्य-व्यवस्था का चित्रण है और उनके जीवन में चल रहे अंधविश्वासों का पर्दा खोला गया है । उनके सामाजिक-धार्मिक शोषण की प्रक्रिया भी इसमें दिखायी गयी है, और अधिकतर उनको चेतावनी दिया गया है, जो परंपरा से शोषण का रूप धारण कर चुके हैं ।

गोदान :

प्रेमचंद ने इस उपन्यास में किसान का सरल-सहज आंतरिक जीवन -- जैसा कि वह है, सामने रखने का प्रयास किया है । 'गोदान' की शुरुआत किसान जीवन के लम्बे, ऐतिहासिक आकलन पर आधारित है । उसके प्रथम अध्याय में होरी और धनिया के पिछले बीस-पच्चीस वर्षों की गृहस्थी की कहानी सारतः कह जाते हैं । ''पर एक गृहस्थ की भांति होरी के मन में भी कुछ गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी । यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न , सबसे बड़ी साध थी । बैंक सूद से चैन करने, या जमीन खरीदने या महल बनवाने की विशाल आकांक्षाएँ उनके नन्हे से हृदय में कैसे समाती ।''[31] इस तरह प्रेमचंद ने दिखाया है कि होरी का अब तक का जीवन एक अपूर्ण आकांक्षा का, एक अभाव का जीवन है । या कि उसने ऐसा जीवन जिया है जिसमें सिर्फ एक गाय पाल लेने की इच्छा ही पैदा हो सकती है ।

'गोदान' में सेमरी और बेलारी नामक अवध प्रान्त के दो गाँवों की कहानी है । जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह सेमरी में रहते हैं और होरी बेलारी में रहता है । जिस तरीके से प्रेमचंद ने रायसाहब के कर्म क्षेत्र का वर्णन किया है, उससे हमें स्वराज्य आन्दोलन की प्रकृति और उससे प्रेमचन्द के तीव्र मतभेदों का पता चलता है । पिछले सत्याग्रह-संग्राम में रायसाहब ने भाग लिया था और जेल भी हो आये थे ; अतः किसानों की श्रद्धा के पात्र बने हुए थे । फिर भी,

'' यह नहीं कि उनके इलाके के असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या ठाकुर और बेगार की कड़ाई कुछ कम थी ; मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी । रायसाहब की कीर्ति पर कोई कलंक न लग सकता था ।''[32]

प्रेमचंद की कुछ पुरानी मान्यताएँ 'गोदान' में ज्यों की त्यों है। जैसे गरीब किसान की आत्मा पाक साफ होती है। उसकी आत्मा पर थोड़े से स्वार्थ की छाप जरूर पड़ गयी है, पर अमीर तो स्वार्थ और नीचता के पुतले हैं। गरीबों का आत्मिक जीवन उन्नत है, अमीरों का भौतिक जीवन उच्चतर है। रायसाहब ने होरी के सामने अपने दुखों का जो विस्तृत वर्णन किया है, उसमें यह दृष्टि साफ झलकती है। वह कहते हैं: "मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि अगर सरकार हमारी जलकि दीनकर हमें अपनी रोजी के लिये मेहनत करना सिखा दे, तो हमारी साथ महान उपकार करे, और यह तो निश्चय है कि अब सरकार भी हमारी रक्षा न करेगी। हमसे अब उसका कोई स्वार्थ नहीं निकलता। लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारी वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।"[33]

इस उपन्यास में प्रेमचंद का प्रयास जमींदारी के आंतरिक शोषण को दिखाना नहीं रहा है और न ही किसान-जमींदार का संघर्ष मात्र दिखाना रहा है। बल्कि उनका प्रयास किसान के आन्तरिक - भावात्मक और पारिवारिक जीवन का चित्रण करना रहा है। प्रसंगवश भले ही सम्पूर्ण समाज का वर्णन कर दिया गया है, परन्तु उपन्यास की धुरी किसान का दैनिक जीवन है। अतः होरी का घर, पति-पत्नी के संबंध, उनका उठना-बैठना, चाल-चलन, उनकी भावात्मक स्थिति, आक्रोश और राग-द्वेष की प्रवृत्ति का वर्णन ही अधिक है। अपनी स्थिति को समाज के ठोस संदर्भों में रखता हुआ होरी भोला से कहता है:

"..... अनाज तो सब-का-सब लगान में ही तुल गया। जमींदार ने अपना लिया, महाजन ने अपना लिया। मेरे लिए पाँच सेर अनाज बच रहा। यह भूसा तो मैंने रातों-रात छोटकर दिया दिया था, नहीं तिनका भी न बचता। जमींदार तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग और मँगरू अलग और दातादीन अलग। किसी का ब्याज भी पूरा न चुका। जमींदार के भी आधे रुपये बाकी पड़ गए। सहुआइन से फिर रुपए

उधार लिए तो काम चला ।''[34]

होरी का गाँव शहर के करीब है, अतः अपनी प्रकृति में कुछ विशिष्ट है । दमड़ी बसोर ने होरी से बाँस खरीदते समय कहा कि दाँस के भाव ज्यादा इसलिए है कि यह शहर के नजदीक है । क्यों भारत में ऐसे गाँव भी मौजूद थे जिन पर शहरी जीवन की छाया बहुत दूर तक नहीं पड़ती। किसान सिर्फ भोला-भाला और सद्भावों से भरा हुआ ही नहीं होता, वह स्वार्थी भी होता है । संयुक्त परिवार के मर्यादा प्रेमी होरी ने भी बाँस के स्वार्थी से छुपाकर लेने का प्रयास किया था । इस प्रसंग से होरी की एक किसान के रूप में 'विश्वसनीय' तस्वीर उभरी ।

होरी ने भोला से गाय लेने का वचन ले लिया। प्रेमचंद ने होरी के घर में गाय के प्रवेश की बड़ी धूम-धाम से कही । पत्नी लगन से, परिवार के प्रत्येक सदस्य की अन्तर्वृत्तियों का चित्रण करते हुए, सबके मनोभावों और भावात्मक उद्‌गार को धैर्यपूर्वक सामने रखा है । यह किसान के साधारण जीवन को, जैसा कि वह है, महत्वपूर्ण मानने और उसका चित्रण करने के कारण हुआ है । अन्यथा 'एक दिन होरी के घर गाय आ गयी' कहकर व्यापार अन्य प्रसंगों के कर्ण में लग सकता था । जब गाय घर में आ गयी तो आश्वस्ति की साँस लेते हुए होरी ने कहा, '' आज मेरे मन की बड़ी भारी लालसा पूरी हो गयी ।''[35]

होरी और धनिया की मनः स्थिति के अंतर को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा :

'' होरी सचमुच आँख में न था । गऊ उसके लिए केवल पति और श्रद्धा की वस्तु नहीं, सजीव सम्पत्ति भी थी । वह उसके अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था । वह चाहता था, लोग गाय को द्वार पर बँधे देखकर पूछें — यह किसका घर है । लोग कहें — होरी महतो का । धनिया इसके विपरीत सशंक थी । वह गाय को सात परदों के अन्दर छिपाकर रखना चाहती थी । अगर गाय बाहर

पएा कोठरी में रह सकती, तो शायद वह उसे बाहर न निकालने देती । यों हर बात में होरी की जीत होती थी । वह अपने पक्ष पर अड़ जाता था और धनिया को दबना पड़ता था, लेकिन आज धनिया के सामने होरी की एक न चली ।..... ''36

इस अवसर पर सोना, रमा, गोबर और यहाँ तक कि सारे गाँव के मनोभावों को प्रेमचंद ने चित्रित कर दिया -- पंडित दातादीन को भी एक झलक मिल गयी । प्रेमचंद ने 'गोदान' में एक-एक घटना को इतनी सूक्ष्मता और सावधानी से चुना है कि भारतीय किसान की सूक्ष्म जानकारी रखने वाले पाठक को भी सुखद आश्चर्य होता है । मसलन गाय खरीदने संबंधी बातचीत का काम होरी का है, लेकिन भोला के यहाँ से गाय लाने का काम गोबर का है । भारतीय किसान परिवार में सामान्यत: ऐसा होता है गाय, बैल आदि खरीदने का काम तो घर का मुखिया करता है, लेकिन उसको पहले मालिक के यहाँ से लाने का काम बड़ा लड़का ही करता है और मुखिया परिवार व बाल-बच्चों के साथ, बच्चों की ही तरह नये सिरे से प्रसन्न होता है । भोला के यहाँ से गोबर द्वारा गाय का लाना बहुत महत्वपूर्ण है । कृषक जीवन के ऐसे पहलू के चित्रण में प्रेमचंद ने 'गोदान' में ज्यादा रुचि दिखलायी है ।

होरी की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है :

''..... इस फसल में सब कुछ खलिहान में तौल देने पर भी अभी उस पर कोई तीन सौ कर्ज था, जिस पर कोई सौ रुपए सूद के बढ़ते जाते थे । मंगरू साह से आज पाँच साल हुए, बैल के लिए साठ रुपए लिए थे, उसमें साठ दे चुका था; पर वह साठ रुपए ज्यों-के-त्यों बने हुए थे । दातादीन पंडित से तीस रुपए लेकर आलू बोए थे । आलू तो चोर खोद ले गए, और उस तीस के इन तीन वर्षों में सौ हो गए थे । दुलारी विधवा सहुआइन थी, जो गाँव में नोन, तेल, तमाखू की दुकान रखे हुए थी । पटवारी के समय उससे चालीस रुपए लेकर भाइयों को देना पड़ा था । उसके भी लगभग

सौ रुपए पेश गए थे ; क्योंकि आने रुपए का ब्याज था । लगान के भी अभी पच्चीस रुपए बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शगुन के रुपयों का भी कोई प्रबंध करना था ।''[37]

ऐसी आर्थिक कठिनाइयों के बीच गाय खरीदना कितना सुखद कितने साहस, उत्साह, खुशी और चिंता की बात थी । गाय जब घर में आयी तो सारा गाँव उसे देखने आया, केवल धोरी के भाई हीरा और शोभा सनदन के कारण नहीं आए । भातृ प्रेमी धोरी का हृदय मसोसने लगा ।

यहाँ प्रेमचंद ने रायसाहब के घर महफिल करवायी है जिसमें शहर के रईस, उद्योगपति, बुद्धिजीवी और बड़े सरकारी अधिकारी आते हैं । यहाँ उच्च बौद्धिक किस्म का वार्तालाप होता है । दर्शन के अध्यापक मि० मेहता कहते हैं — ''..... मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो । आप कृषकों के शुभचिंतक हैं, उन्हें तरह-तरह की रियायत देना चाहते हैं, जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं, फिर उन्हें आप समाज का अंग कहते हैं, फिर भी आप जमींदार हैं । अगर आपकी धारणा है कि कृषकों के साथ रियायत होनी चाहिए, तो पहले आप खुद शुरू करें — काश्तकारों को बेगार मजदूरी लिये पट्टे लिख दें, बेगार बन्द कर दें, एजाफा लगान की तिलांजलि दे दें, चरावर जमीन छोड़ दें । मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है, जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की सी, मगर जीवन है रईसों का-सा उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ ।''[38]

यह उद्धरण तो लेखक पात्र के मुख से बोलने लगा है और पीड़ी-सी जबर्दस्ती भी करने लगा है । दूसरे यह कि बड़े लोगों की महफिल में ये बातें भी शामिल हो गयी हैं, जिससे जमींदार-विरोधी जनमत के वैचारिक प्रभुत्व का एहसास होता है तथा यह भी कि हमारे जमींदार इतने सिकुड़े पड़ गये हैं कि इन बातों का भी उन पर कोई खास असर नहीं पड़ता ।

प्रेमचंद स्वाधीनता आंदोलन के सिपाही थे, इस कारण राष्ट्रभक्ति के कायल थे और इस हेतु प्रचारात्मक कहानियाँ भी लिख चुके थे । लेकिन

'गोदान' में रायसाहब की पार्टी में शराब की दावत होती है । यही नहीं, मिस मालती, मूर्ख बनाकर 'बिजली' सम्पादक पंडित दीवानाथ को पिलाती भी है । मिर्जा खुर्शेद जब शिकार पर जाते हैं तो वहाँ सारे गाँव वालों को शराब पिलाते हैं । मजे की बात है कि इस मामले में लेखक चुप है, यानि शराब पिलाने के पक्ष में है । इससे स्वाधीनता - आंदोलन की कुछ बातों के प्रति प्रेमचंद के रवैये का भी पता चलता है ।

होरी के घर में गाय आ गयी, यानी उसकी एक बहुत बड़ी, पर आधारभूत मानवीय लालसा पूरी हो गयी । इतनी कठिनाइयों और शोक चक्र के बीच खुशी का मौका आ गया । इस वर्ष आषाढ़ में वर्षा हुई । किसान खेत जोतने चले थे कि राय साहब ने संदेश भेजा कि जब तक लगान पूरा न चुक जायेगा, कोई खेत नहीं जोतेगा । यह विपत्ति सारे गाँव पर आयी, सबने अपने-अपने ढंग से उसे दूर करने का प्रयास किया । होरी ने चारों ओर नजर दौड़ाई । मंगरू साह, दातादीन, दुलारी या यह पुजारी था । तब गये झिंगुरीसिंह जो कि गाँव के सबसे बड़े महाजन थे । ''यह शहर के एक बड़े महाजन के एजेन्ट थे । उनके नीचे कई आदमी और थे, जो आसपास के देहातों में घूम-घूमकर लेन-देन करते थे । इनके उपरान्त और भी कई छोटे-मोटे महाजन थे, जो दो आने रुपये ब्याज पर बिना लिखा - पढ़ी के रुपए देते थे । गाँव वालों को लेन-देन का कुछ ऐसा शौक था कि जिसके पास दस-बीस रुपए जमा हो जाते, वही महाजन बन बैठता था ।''[9]

होरी उनके पास रुपए लेने पहुँचा । यहाँ प्रेमचंद ने दिखाया है कि जमींदार और महाजन, सबकी आँख गाय पर लगी हुई है । यानि ये लोग किसान की उस मामूली लालसा पर सबसे पहले आक्रमण करते हैं । झिंगुरीसिंह ने होरी से कहा कि गाय दे दो और रुपए ले जाओ । इस प्रस्ताव का जितना प्रभाव होना था, वह हुआ । इसके साथ ही लेखक ने दिखाया है कि आपसी कलह, द्वेष और प्राकृतिक विपदा का प्रभाव भी किसान की उसी

छोटी सी लालसा पर ही पड़ता है । होरी के भाई हीरा से एक दिन धनिया की कहा-सुनी हो गयी । उसने चुपके से गाय को माहुर खिला दिया और गाय मर गयी । '' होरी पण्डित दातादीन के पास दौड़ा । गाँव में पशु-चिकित्सा के वही आचार्य थे । पण्डित जी सोने जा रहे थे । दौड़े हुए आये । दम-के-दम में सारा गाँव जमा हो गया ।''[40]

इसके बाद पुलिस आयी । यहाँ पुलिस की निरंकुशता को एक झलक दिखायी गयी है, जिसे पुलिस की सामान्य कार्यपद्धति का एहसास होता है । गाँव के मुखिया और पुलिस के बीच रिश्वत के रुपयों का बँटवारा होता है, यह आम रिवाज है । थानेदार होरा के घर की तलाशी लेना चाहता है और किसान तलाशी को बेइज्जती समझता है, अतः होरी रिश्वत देने को तैयार हो जाता है । इसी समय धनिया का नाटकीय प्रवेश होता है :

''..... मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े । एम. जाबी चुकाने को पचीस रुपए माँगते थे, किसी ने न दिया । आज सँजुली भर रुपए ठनाठन निकाल के दे दिये । मैं सब जानती हूँ । यहाँ तो बाँट-खरा पीने वाला था, सभी के मुँह मीठे होते । ये सत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले । सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो । उस पर सुराज चाहिए। ऐल जनि से सुराज न मिलेगा । सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से ।''[41]

थानेदार को जब होरी से रुपए न मिले, तो उसने मुखियों को पकड़ा और पचास रुपए वसूल किये । मुखियों ने जब आना-कानी की तो वह बोला : '' तुमने अभी अन्धेर नहीं देखा । कहो तो वह भी दिखा दूँ ।एक-एक को पाँच-पाँच साल के लिए भिजवा दूँ । यह मेरे बाएँ हाथ का खेल है । डाकि मैं सारे गाँव को काले पानी भिजवा सकता हूँ । इस धोखे में न रहना।''[42]

इन सारे संकटों के बीच होरी सोचता है कि जीवन में ऐसा एक भी दिन नहीं आया, कि लगान और महाजन को देकर भी कुछ बचा हो । ऊपर से हीरा घर से भाग गया । उसकी खेती भी सँभालनी है, नहीं तो

लोग क्या कहेंगे । साथ ही गोबर और पुनिया का संबंध बढ़ता गया, जिससे पुनिया के पाँच महीने का गर्भ है और गोबर उसे धर पर छोड़कर शहर भाग गया । अभी तक होरी जमींदार, महाजन और पुलिस के अत्याचार से ही पीड़ित था, अब उसके सामने एक नया शक्तिशाली शत्रु था — बिरादरी । पुनिया को शरण देने के कारण होरी को जाति बाहर कर दिया गया । '' होरी नम्र स्वभाव का आदमी था ।..... पर समाज इतना बड़ा अनर्थ कैसे सह ले । और उसकी मुटमर्दी तो देती किसमाने पर भी नहीं रुकता। स्त्री-पुरुष दोनों जैसे समाज को चुनौती दे रहे हैं कि देखें, कौन उनका क्या कर लेता है । तो समाज भी दिखा देगा कि उसकी मर्यादा तोड़ने वाले सुख की नींद नहीं सो सकते ।''[43]

पंचायत की बैठक हुई और पंचों ने होरी पर सौ रुपए नकद और तीस मन अनाज का जुर्माना लगाया, परिणामतः उसका घर नीलाम कर दिया गया और खलिहान में ही सारा अनाज बिरादरी के लिए तुल गया । ''..... बिरादरी का यह आतंक था कि अपने सिर पर लादकर अनाज दे रहा था, मानो अपने हाथों अपनी जड़ खोद रहा है । जमींदार, साहूकार, सरकार किसका इतना रोब था ? उन्हें बाल-बच्चे क्या खाएँगे, इसकी चिन्ता प्राणी को सोने देती थी ; पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार अकिल दिये जा रहा था ।''[44] फिर भी होरी और धनिया पुनिया का कच्चा पाका सुख है ।

उधर गोबर गाँव से भागकर शहर — लखनऊ आ गया । इससे नगरीकरण की प्रक्रिया का एहसास होता है । किसान किस तरह मजूर बनने के लिए विवश हो रहे हैं ; होरी का पुत्र गोबर इस सामाजिक सत्य की पुष्टि कर रहा है । नगरीकरण के साथ औद्योगीकरण भी शुरू हो रहा है। किसान बातें कर रहे हैं कि अगले साल शक्कर की मिल खुलने वाली है, मिठाई उसे बोलते हैं । किसानों की जमीन खरीदी जा रही है । इस तरह गाँव और

शहर के अन्तः संबंध स्पष्ट होते चलते हैं । गोबर मिर्जा खुर्शीद के यहाँ 15 रुपए महीने का नौकर हो जाता है । शहर में आ जाने के बाद भी उसके स्वप्न गाँव के चारों ओर ही मँडराते रहते हैं :

'' सबसे पहले वह एक दुधारू गाय लाएगा, जो चार-पाँच सेर दूध देगी और दादा से कहेगा, तुम गऊ माता की सेवा करो । इससे तुम्हारा लोक भी बनेगा, परलोक भी ।''[45]

होरी का अनाज तुल जाने के बाद उसका बुरा हाल था, यहाँ तक नौबत आयी, कि उसके घर में एक दिन खाना नहीं बना । धनिया की पत्नी ने सहायता की, तो घर का काम चला । वह गाय, जिसको देवी समझ कर लाया गया था, कितने संकटों को अपने साथ लायी । एक दिन झींगा आया और उसने गाय के दाम माँगे, जब न मिले तो वह होरी के बैल खोल कर ले गया ।

इस सभ्यता में चोर के ऊपर भी चोर होता है । होरी से जब बिरादरी ने जुरमाना वसूल किया, तो उसकी खबर रायसाहब तक भी पहुँची । रायसाहब ने पंचों को डाँटा और रुपये रायसाहब को सौंपने के लिये कहा । होरी के बैल चले गये, तो उसने पं० दातादीन के खेत में खेती की । खेत मिल तुल गया । किसानों की खड़ी ऊख खरीद ली गयी । रुपये के वक्त महाजन मिल वाले से मिल गये और रुपये पहले ही ले लिये । पटेश्वरी दबे हुए रुपये ले रहे थे । शोभा ने जब जानकारी की तो वह बोला :

''..... यह जो नित्य तुला तोलते थे, वह एक रपट में निकल जायगा । मैं जमींदार या महाजन का नौकर नहीं हूँ, सरकार बहादुर का नौकर हूँ, जिसका दुनिया भर में राज है और जो तुम्हारे महाजन और जमींदार दोनों का मालिक है ।''[46]

प्रेमचंद ने दिखाया है कि एक ओर रायसाहब और ताल्लुकेदार ज्वालामुखी के मुँह पर बैठे हुए हैं । उन पर लाखों रुपयों का कर्ज है, विलासिता

का उनके यहाँ साम्राज्य है, अकर्मण्यता उनकी नस-नस में बस गयी है और कुल मर्यादा की रक्षा करने में उनकी जान निकल रही है। कहने को तो वे मालिक हैं, लेकिन उनकी कुंजी अब धीरे-धीरे खन्ना जैसे चेकरी के हाथ में है।

गोबर शहर में आकर कुछ आधुनिक हो गया है।'' उसने दाढ़ीजी पेशान के बाल कटवा लिए हैं, मशीन धोती और पम्प शू पहनता है। एक लाल ऊनी चादर खरीद ली और पान-सिगरेट का शौकीन हो गया है। सभाओं में आते जाते से उसे कुछ-कुछ राजनीतिक ज्ञान भी हो चला है। वादु और वर्ग का अर्थ समझने लगा है। सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा और लोक निन्दा का भय अब उसमें बहुत कम रह गया है।''[47]

प्रेमचंद मानते हैं कि ('गोदान' में) राजनीतिक ज्ञान अभी गाँवों तक किसानों में नहीं पहुँचा है। जो किसान शहर में आ गये हैं; चाहे मजदूर बनकर ही सही, उनका राजनीतिकीकरण हो रहा है। होरी को किसी प्रकार से आधुनिक राजनीति का ज्ञान नहीं है। न तो वह स्वाधीनता आंदोलन के बारे में जानता है, न उसके प्रति आशा का भाव है। बलराज को रूसी क्रांति की जानकारी थी, पर होरी को गाँधीजी के आन्दोलन का भी पता नहीं है। यह ज्ञान अभी तक रायसाहब, मि० खन्ना और मिस मालती जैसे लोगों तक ही सीमित है।

गोबर जब पत्नीवार शहर से गाँव आता है, तो बड़े ठाठ-बाट से आता है। वह समाज के परंपरागत नेताओं को चुनौती देता युवा उत्साही युवक होता है। अति ही गाँव में युवकों का नेता बन जाता है और गाँव में चल रहे शोषण की पद्धति और प्रक्रिया का पर्दाफाश करता है। दातादीन से कहता है: '' तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ, कुछ न कुछ मार ही लाओगे। जनम में लो, मरन में लो, सादी में लो; गमी में लो; खेती करो ही, लेन-देन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूल-चूक हो जाय, तो

डाँड लगाकर उसका घर लूट लेते थे । पतनी कमाई से पेट नहीं भरता ?
.....'48

ग्रामीण समाज गोबर का मूल्यांकन करता है कि गोबर शहर जाकर बड़ा चंट हो गया है, कानून बघारना सीख गया है, अदब लिहाज भूलकर काफी निर्भीक — यानी उद्दंड हो गया है । इसी उत्साह में प्रेमचंद ने होली का वर्णन किया है । होली के पूरे उत्सव के साथ उन्होंने महाजन सिंगारीसिंह के शोषण चक्र का पर्दाफाश किया है । होली के अवसर पर की गयी नकल में असल की झांकी प्रस्तुत की गयी है कि किस तरह महाजन दस रुपये उधार देता है और पाँच रुपये लेता है ; क्योंकि उनमें से एक रुपया नजराने का, एक तहरीर का, एक कागद का, एक दस्तूरी का और एक रुपया सूद का काट लेता है ।

प्रेमचंद ने इस उपन्यास में जमींदार को एक पतनोन्मुख शक्ति के रूप में चित्रित किया है, परन्तु महाजनों को कहीं भी कमजोर नहीं दिखाया है । उनकी बढ़ती पुरी शक्ति का जिक्र है । यहाँ तक कि उद्योगपति इन्हीं से लेन-देन करते हैं । यह महाजनी का धंधा व्यापक रूप से चल रहा है । इसकी चुंगल में होरी और गोबा ही नहीं, रायसाहब अमरपाल सिंह भी हैं । क्या वास्तव में महाजन ही समाज का मुख्य शत्रु है ।

प्रेमचंद ने बहुत सूक्ष्म तरीके से होरी और गोबर की चेतना में फर्क दिखाया है । हालांकि होरी की ट्रेजडी उन्हें ज्यादा आकर्षित करती रही है, पर व्यापक इतिहास बोध के कारण उन्होंने दिखाया है कि गोबर अगला पात्र है । वास्तव में होरी समस्त भारतीय किसानों का प्रतिनिधि नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक दौर में लुप्त होता हुआ, मिटता हुआ भारतीय किसान है । उसकी ट्रेजडी अनिवार्य है । पंडित दातादीन महाजन है । उन्होंने होरी को तीस रुपये दिये थे, जो अब दो सौ हो गये हैं । गोबर एक रुपया सैकड़ा ब्याज लगाकर सत्तर रुपए देने का प्रस्ताव रखता है । दातादीन उबल पड़ते हैं

और अपने ब्राह्मणत्व की दुहाई देते हैं । ''दातादीन उल्टे पुर लौट पड़े । गोबर अपनी जगह बैठा रहा । मगर धनिया के पेट में धर्म की क्रांति मची हुई थी । अगर ठाकुर या बनिये के घर होती, तो उसे ज्यादा चिन्ता न होती ; लेकिन ब्राह्मण के घर ।... ''[49]

इसी तरह एक दिन होरी और धनिया से गोबर कहता है कि '' मैं भी तो बाल-बच्चे हैं ।''[50] धनिया सोचती है कि आखिर गोबर में इतना स्वार्थीपन आया कहाँ से ? उसकी नजर बार-बार झुनिया की ओर पर जाती है । होरी चिढ़ते हुए धनिया को समझाता है कि '' जब देखो तब तू झुनिया ही को दोष देती है । यह नहीं समझती कि अपना सोना खोटा तो सोनार का क्या दोष ? गोबर उसे न ले जाता तो क्या आप से आप चली जाती ? घर का दाना-पानी लगने से लौंडे की अक्ल बदल गई, ऐसा क्यों नहीं समझ लेती ।''[51]

वास्तव में यह दो जीवन दृष्टियों का अंतर है । होरी संयुक्त परिवार की चेतना का व्यक्ति है, जबकि गोबर के जीवन में व्यक्तिवाद का प्रवेश होने लगा है । पिता-पुत्र के संबंधों में तनाव का कारण दृष्टि संबंधी यही भिन्नता है ।

प्रेमचंद ने शहर और गाँव दोनों जगह यह बताया कि पूंजीवादी समाज में धन की सत्ता है । मि० मेहता रूना से कहते हैं : '' लक्ष्मीपतियों की बदौलत ही हमारी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ चलती हैं । राष्ट्रीय आन्दोलन को दो-तीन साल तक किसने इतनी धूम-धाम से चलाया । इतनी धर्मशालाएँ और पाठशालाएँ कौन बनवा रहा है ? आज संसार का शासन-सूत्र बैंकरों के हाथ में है । सरकार उनके हाथ का खिलौना है ।''[52]

गाँव में सिलीसिले दातादीन से कहते हैं :

'' कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है, कानून तो है कि महाजन किसी आसामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी रियाया के साथ सख्ती न करे ; मगर ऐसा क्या है ? रोज ही देखते हो । जमींदार मुश्कें बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात

करता है ।''[53]

बुद्धिजीवी मेहता किसान-समस्या को दूसरी दृष्टि से देखते हैं । उनके अनुसार — ''..... काश, ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते, तो यों न ठुकराए जाते । देश में कुछ भी हो, क्रांति ही क्यों न आ जाए, इनसे कोई मतलब नहीं । कोई दल उनके सामने सबल के रूप में आये, उसके सामने सिर झुकाने को तैयार । उनकी निरीहता जड़ता की एक सतह पहुँच गई है, जिसे कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है ।''[54]

होरी की दशा यह हो गयी कि अंत में अपनी बेटी बेचनी पड़ी । रामसेवक नामक बूढ़े व्यक्ति से उसकी शादी कर दी गयी । होरी की यह सबसे बड़ी हार थी । जीवन से लड़ते-लड़ते अंत में होरी की मृत्यु हो जाती है । वही महाजन पंडित दातादीन कहता है गोदान करा दो । जिस गाय के लिए वह जीवन भर संघर्ष करता रहा, पर नहीं मिली, मरने पर ब्राह्मण उसी 'गाय' का दान मांगता है । धनिया कहती है —''महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा । यही पैसे हैं । यही इनका गोदान है ।''

'और पछाड़ खाकर गिर पड़ी ।''[55]

वास्तव में 'गोदान' के अंत में करुण प्रसंग सिर्फ होरी की मौत ही नहीं है, जैसा होरी है, उसकी मौत की कामना का एहसास तब होता है जब इसके कारण धनिया गिर पड़ती है । वह धनिया, जो किसी को कुछ नहीं समझती थी, आखिर उसकी शक्ति का स्रोत यह ढीला-ढाला गम्भीर होरी ही था । धनिया की शक्ति में होरी की उपस्थिति का तेज निहित है ।

अंतिम रचनाएँ :

प्रेमचंद ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में जो रचनाएँ लिखी थी, उनमें उनके साहित्य के नये मोड़ की सूचना मिलती है । प्रेमचंद का

चिंतन, जीवन दृष्टि और वस्तुपरकता की दृष्टि से 'कफन' पिछली परंपरा को नकारती हुई नये यथार्थवाद की घोषणा करती है ।

इस कहानी में प्रेमचंद का चुनाव बहुत महत्वपूर्ण है । गाँव जीवन की पृष्ठभूमि कहानी है । मुख्य पात्र चमार है । समाज में निहित अमानवीयता की सीमा इस कहानी में है, जहाँ घीसू और माधव में मानवीय भावों का चिह्न भी नहीं बचा है । उनके जीवन और पशुओं के जीवन क्रम में कोई अन्तर नहीं है । पेट भरना ही उनके जीने की शर्त है । इस संदर्भ में भी उनके पास कोई लम्बी योजना नहीं है । सामने पड़े आलुओं को खाना ही अभीष्ट है — कोई, चाहे वह उनका कितना ही बड़ा रिश्तेदार क्यों न हो, मर भी जाये तो भी वे उसको (बुधिया को) बचाने का प्रयास नहीं करते हैं । मानवीय भावों के अभाव का हाल तो यह है कि वे बुधिया की मृत्यु को इस तरह लेते हैं, जैसे यह कोई अतिसामान्य दैनिक घटना हो । अत्यंत गरीबी की हालत में भी वे मजूरी करने नहीं जाते । '' जिस समाज में रात दिन मेहनत वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी ।''[56] ऐसी पृष्ठभूमि से निकले हुए घीसू और माधव ऐसे पात्र हैं जिनको अपनी आवश्यकताओं का भी ज्ञान नहीं है । भयंकर अलगाव के शिकार ये पात्र पाठकों में दहशत के भाव पैदा करते हैं ।

इस कहानी के मूल में बुधिया की अकाल मौत है । लेखक ने जानबूझकर उसकी मौत का वर्णन संक्षेप में, चलताऊ ढंग से किया है । फिर भी पृष्ठभूमि के संगीत की तरह मौत की छाया कहानी में मँडराती रहती है । यह कहानी की घटना के एक मोड़ को अर्थ देती है, और उसे बिखरने नहीं देती । इस मौत के साथ शराबखाने के दृश्य को मिलाकर देखने पर दोनों की तीव्रता का एहसास होता है ।

प्रेमचंद ने इन दोनों को नायक नहीं बनाया है लेकिन खलनायक भी नहीं बनाया है । उनकी पतनशीलता को रेखांकित किया है । इस कारण कहानी में पात्र महत्वपूर्ण नहीं रहते, वह सामाजिक यथार्थ महत्वपूर्ण हो जाता है, जिससे कि उन पात्रों की उत्पत्ति हुई है । लेखक उनका आदर्शीकरण करके उन्हें 'नायक' भी बना सकता था और बुधिया के पत्थारे दिलाकर खलनायक भी बना सकता था । दोनों स्थितियों में कहानी बहुत कमजोर होती ।

पात्रों की स्थिति यह है कि वे अस्तित्व मात्र रह गये हैं । कहानी के तीनों पात्रों का संबंध संघर्षहीन स्थिति में है । यीशु और माधव कभी बाप-बेटे की तरह सामने नहीं आते और यहाँ तक कि बुधिया के प्रति भी दोनों के रुख में कोई विशेष अंतर नहीं लगता ।

इस कहानी में प्रेमचंद ने आशावाद को नहीं दिखाया है । बल्कि इसमें यथार्थवादी निराशा है । पिछली रचनाओं में प्रेमचंद ने समाज को बदलने की व्यक्ति की शक्ति को रेखांकित किया है — उनमें यथार्थ से एक खास तरह का अज्ञान भी था । यह निराशा व्यवस्था के वास्तविक ज्ञान से पैदा हुई है, अतः इसमें व्यवस्था की क्रूरता का एहसास ज्यादा है । कुल मिलाकर यह प्रेमचंद के परिवर्तित भाव-बोध को सूचित करता है । स्वाधीनता आंदोलन के विद्यमान रूप से उनका बढ़ता हुआ असंतोष और नयी शक्तियों का अभाव इस कहानी के मूल में है ।

मंगलसूत्र :

प्रेमचंद की जीवनदृष्टि में 1934 से ही कुछ परिवर्तन होने लगे थे(जिसका जिक्र हमने पिछले अध्याय में किया है) उन्हीं का विकसित रूप उनकी अंतिम कृतियों में मिलता है ।

'मंगलसूत्र' (1936) के मूल में एक नैतिक चिंता है । इसमें लेखक ने अपने जीवन और जीवनानुभवों को रेखांकित करने का प्रयास किया है और यह इस आतंक तथा एहसास के बीच किया है कि उनके अपने पिछले

जीवन में कितना 'आदर्शवादी मोह' रहा था । इस अधूरे उपन्यास में इस मोह के टूटने का एहसास और दर्द है । उन्हें एकाएक अपने चिंतन, अपने युग और राजनीति से अलगाव का एहसास होता है । देवकुमार के आत्मचिंतन में पूरे गांधी युग की समीक्षा है । देवकुमार की प्रेमचंद ने एक पतनोन्मुख समाज में 'शुद्ध चेतना' की तरह प्रस्तुत किया है ।

इसमें उन्होंने स्वतंत्रता की नवीन व्याख्या की और नारी - स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया । 'स्वतंत्रता' की पुरुषी धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा कि '' बाजार लगा हुआ है । जो चाहे वहाँ से अपनी रुचि की चीज खरीद सकता है । मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं । और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सबका बराबर का अधिकार कैसे माना जाय ।... ''[57]

इसी तरह आदर्शवादी देवत्व की धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा : '' हाँ, देवता ऐश्वर्य रहेंगे और ऐश्वर्य रहे हैं । उन्हें आज भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है । वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं । लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो ; आत्मसेवी कहो । देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे ।..... देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है । मनुष्य ने जब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिंदा रहने से कहीं अच्छा होता । नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा । दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए, हथियार बाँधना पड़ेगा ।''[58]

वास्तव में प्रेमचंद ने अपनी अंतिम रचनाओं में दिखाया है कि व्यवस्था कितनी भयावह और जटिल है, उसके मुकाबले आत्मगत तैयारी (विरोधीशक्तियाँ) कितनी कम या लगभग नगण्य है । 'दहन' और

'मंगलसूत्र' का लेखक राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति और प्रगति से काफी निराश लगता है । साथ ही विकल्प के रूप में नयी शक्ति भी उनके सामने नहीं है । यह अविश्वास और आस्थाहीनता अंतिम रचनाओं में मुख्य रूप में मिलती है । यह प्रेमचंद के 'आदर्शवाद' की पराजय है, जिसमें वह व्यक्ति को असीम शक्तियों और संभावनाओं का पुंज मानते थे । हालांकि व्यक्ति की शक्ति का एहसास अब भी कम नहीं हुआ, फिर भी इस व्यवस्था की उनकी पहचान ज्यादा गहरी हुई है और पहचान की वृद्धि के साथ 'शक्ति' की सीमा का भी पता चला है और लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता सा लगता है कि इस व्यवस्था से लड़ने के लिए मात्र 'शक्ति' की ही जरूरत नहीं है, सम्यक विवेक और सामाजिक सक्रियता भी चाहिए ।

—

टिप्पणियाँ

1- 'पूर्वाग्रह' (मासिक) अंक बीस, मई-जून, 1977 में प्रकाशित मुक्तिबोध का लेख -- 'माँ की मार्फत प्रेमचंद', पृ० 11

2- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 54, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

3- ''उसकी आत्मा इस समय स्वीकार कर रही थी कि उस निर्दय प्रहार में कर्त्तव्य के भाव का लेश भी न था — केवल स्वार्थ था, कृतघ्नता दिखाने की एवज और उसकी जो सुधा करने की लिप्सा थी।''
वही, पृ० 59

4- वही, पृ० 256

5- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 68, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976

6- कफन, ('आहुति' शीर्षक कहानी), पृ० 104-105, ऐस प्रकाशन, इलाहाबाद

7- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 303

8- मानसरोवर, भाग-2, पृ० 119, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

9- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 163

10- गबन, पृ० 50

11- कलम का सिपाही, पृ० 445-446

12- गबन, पृ० 172, ऐस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975

13- गबन, पृ० 287

14- ''..... सब कब्रों के बगल में जमीन पर बैठे हुए थे। सभी के हाथों में हथकड़ियाँ थीं, पैरों में बेड़ियाँ। कोई लेटा था, कोई पैठा था, कोई आपस में बातें कर रहा था। दो पढ़े लिखे थे। वे में किसी विषय पर बहस भी कर रहे थे। सभी प्रसन्नचित्त थे। घबराहट, निराशा या शोक का किसी के चेहरे पर चिन्ह भी न था।'' गबन, पृ० 267

15- गबन, पृ0 259

16- कर्मभूमि, पृ0 5

17- वही, पृ0 125

18- वही, पृ0 144

19- वही, पृ0 269

20- वही, पृ0 286

21- वही, पृ0 344

22- वही, पृ0 352

23- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 330

24- "The appeal to national independence and national character is necessarily connected with a re-awakening of national history, with memories of the past, of past greatness, of moments of national dishonour, whether this results in a progressive or reactionary ideology " . ' The Historical Novel' , pp. 23 by Georg Lukacs, Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middle sex, England, 1976.

25- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 165

26- मानसरोवर, भाग-2, पृ0 149

27- वही, पृ0 151

28- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 142

29- वही, पृ0 231

30- वही, पृ0 49

31- गोदान, पृ0 8

32- वही, पृ013

33- वही, पृ० 15

34- वही, पृ० 21

35- वही, पृ० 33

36- वही, पृ० 33

37- वही, पृ० 32

38- वही, पृ० 46

39- वही, पृ० 86

40- वही, पृ० 90

41- वही, पृ० 97

42- वही, पृ० 98

43- वही, पृ० 106

44- वही, पृ० 108-109

45- वही, पृ० 113

46- वही, पृ० 155

47- वही, पृ० 168

48- वही, पृ० 177

49- वही, पृ० 184

50- वही, पृ० 189

51- गोदान, पृ० 203, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, ई 1976

52- वही, पृ० 199

53- वही, पृ० 205

54- वही, पृ० 257

55- वही, पृ० 300

56- कफन, पृ० 7

57- प्रेमचंद स्मृति, पृ० 293

58- वही, पृ० 293

—

पाँचवाँ अध्याय

प्रेमचंद के साहित्य में किसानों के आर्थिक शोषण की प्रक्रिया

प्रेमचंद के साहित्य में उपनिवेशवालीन भारतीय किसान का चित्रण मिलता है । उनके साहित्य के कलात्मक पक्ष की समुचित व्याख्या करने के लिए उनके साहित्य के सामाजिक - आर्थिक पक्ष का अध्ययन भी अपेक्षित है । उनकी सर्जनात्मक कल्पना जिस सामाजिक यथार्थ के ज्ञान पर टिकी हुई है, उससे उनकी सर्जनात्मक कल्पना की शक्ति निर्धारित हुई है । प्रेमचंद साहित्य में साहित्यालोचकों और इतिहासकारों दोनों ने गहरी रुचि दिखाई है । साहित्यालोचकों ने प्रेमचंद की सर्जनात्मक प्रतिभा को परिभाषित करने का प्रयास किया है, जबकि इतिहासकारों ने तत्कालीन भारतीय समाज को समझने के लिए उनके साहित्य का उपयोग किया है । आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' की परिकल्पना की प्रशंसा या निंदा की, इतिहासकारों ने इस परिकल्पना के पीछे भारतीय किसान की वास्तविक हालत (जो 'प्रेमाश्रम' में चित्रित है) के चित्रण की दाद दी । तथ्य और कल्पना, इतिहास और परिकल्पना, समाज और कला का जो अन्तर्विरोध प्रेमचंद की रचनाओं में मिलता है, उसे समुचित रीति से समझने के लिए प्रेमचंद के विश्लेषकों में इतिहास और कला — दोनों की दृष्टियाँ अपेक्षित हैं । उसके लिए प्रेमचंद का साहित्य न तो तथ्यों का यथातथ्य संकलन है और न 'कालातीत कला कृति' के दुर्लभ नमूने । प्रेमचंद साहित्य के ऐतिहासिक आधार को समझकर ही उनके कलात्मक वैभव का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

प्रेमचंद साहित्य के केन्द्र में तत्कालीन भारतीय किसान है । उनकी संपूर्ण कला चेतना भारतीय किसान की जीवन पद्धति से प्रभावित और निर्धारित हुई है । उनके साहित्य के एक बड़े हिस्से का विषय सीधा किसान जीवन से लिया गया है । उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ वे ही मानी गयी हैं, जिनमें भारतीय किसान का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है । 'गोदान', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यासों

और 'सवा सेर गेहूँ', 'पंच-परमेश्वर', 'मुक्तिमार्ग', 'पूस की रात', 'कफन' जैसी कहानियों में मुख्य रूप से किसान जीवन के विविध पक्षों को ही उभार कर सामने रखा गया है। इसके अलावा, जिन रचनाओं के विषय किसानों से संबंधित नहीं हैं, उनमें भी कहीं न कहीं किसान दृष्टि का उपयोग किया गया है। इसलिए भारतीय किसान के जीवन यथार्थ की वास्तविक और ऐतिहासिक स्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में किसान को जिस 'जमीन' पर खड़ा किया है, उसकी पड़ताल आवश्यक है।

प्रेमचंद मानते हैं कि किसान समाज का आधार होता है। समाज का उत्पादक वर्ग किसान है। उसी की उन्नति से देश की उन्नति संभव है। उसकी बदहाली देश की बदहाली है। उपनिवेशिक भारत में किसान की हालत सचमुच दयनीय है। सभी उसके शत्रु हैं, उसका कोई मित्र नहीं। तत्कालीन समाज में किसान "सबका नरम चारा है। पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दे, तो गाँव में रहना मुश्किल। जमींदार के चपरासी और कारिंदों का पेट न भरे तो निबाह न हो। थानेदार और कानिसटिबल तो जैसे उसके दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, किसानों का धरम है, वह उनका आदर-सत्कार करें, नजर-नयाज दें, नहीं एक रिपोर्ट में गाँव का गाँव बँध जाय। कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जज, कभी कलक्टर, कभी कमिश्नर। किसान को उनके सामने हाथ बाँधे हाजिर रहना चाहिए। उनके लिए रसद-चारे, घी-मुर्गी, दूध-घी का इन्तजाम करना चाहिए।..... एक डाक्टर कुएँ में दवाई डालने के लिए आने लगा है। एक दूसरा डाक्टर कभी-कभी आकर ढोरों को देखता है, लड़कों का एग्जिबान लेने वाला एसपिट्टर है, न जाने किस-किस महकमे के अफसर हैं, नहर के अलग, जंगल के अलग; ताड़ी-सराब के अलग, गाँव-सुधार के अलग, खेती-विभाग के अलग। कहाँ तक गिनाऊँ। पादरी आ जाता है, तो उसे भी रसद देना पड़ता है, नहीं शिकायत कर दे। और जी करो कि इतने महकमों और इतने अफसरों से किसान का कुछ उपकार होता तो,

ही नाम की नहीं । कभी जमींदार ने गाँव पर हल पीछे दो-दो रुपये चंदा लगाया । किसी बड़े अफसर की दावत की थी । किसानों ने देने से इनकार कर दिया । बस, उसने सारे गाँव पर जाफा कर दिया । हालिम भी जमींदार ही का पक्ष करते हैं । यह नहीं सोचते कि किसान भी आदमी है, उनके भी बाल-बच्चे हैं, उनकी भी इज्जत-आबरू है । और यह सब हमारी दब्बूपन का फल है ।...[1] ये विचार 'गोदान' के अंतिम पृष्ठों में रामसेवक रखता है । एक तरह से होरी और स्वयं प्रेमचंद ने अपने जीवन के अनुभव और निरीक्षण का फल इन पंक्तियों में डाल दिया है । उपनिवेशवादी समाज में सबसे ज्यादा शोषित और पीड़ित अवस्था में होता है, तो वह किसान ही होता है ।

प्रेमचंद उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में किसान की भूमिका को निर्णायक मानते हैं, लेकिन वे यह भी मानते हैं कि राष्ट्रीय पार्टियाँ और आधुनिक बुद्धिजीवी ही किसानों का नेतृत्व कर सकते हैं । उपनिवेशवाद के विरोध में किसानों की भूमिका के संदर्भ में फ्रेंज फैनन का मत है कि उपनिवेशित देशों में मात्र किसान ही क्रांतिकारी होते हैं, क्योंकि उनके पास खोने के लिए कुछ नहीं होता जबकि पाने के लिए सभी कुछ होता है ।[2] प्रेमचंद की रचनाओं में किसानों की क्रांतिकारी कार्यवाही का चित्रण उतना नहीं मिलता, जितना उनकी बदहाली का मिलता है । उन्होंने किसानों की परिवर्तनकारी शक्ति की संभावनाओं का संकेत किया है । उनकी रचनाओं में ('कायाकल्प' और 'कर्मभूमि') किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के सुसंगत, सही सम्बंधों का भी चित्रण नहीं है । कमोबेश किसानों को संगठित करने का प्रयास करता है, किसान अपनी चेतना के अनुरूप प्रतिक्रिया करते हैं । फिर भी ऐसा नहीं लगता कि दोनों में वह संबंध स्थापित हो गया है, जिसे प्रेमचंद अपना आदर्श मानते हैं । वास्तव में यह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की सीमा है, जो उनकी रचनाओं में व्यक्त हुई है । पुरुषोत्तमदास टंडन, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने उस युग में किसानों को संगठित करने का प्रयास किया था । उनकी रचनाओं और भाषणों में भी वही क्षमता दिखाई देती है ।

प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में व्यवस्थित रूप से और विस्तार से किसानों की बदहाली के कारणों का जिक्र किया है। उनकी रचनाओं का विश्लेषण करने हम किसानों के दोस्तों और दुश्मनों को ज्यादा अच्छी तरह से समझ सकते हैं। साहित्यिक कृति ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं होती, सर्जनात्मक कृति होती है, अतः कृति में से तथ्यों को निकालना जोखिम भरा काम होता है। रचनाकार तथ्यों के आधार पर नवीन कल्पना करता है। एक तरह से वह तथ्यों की भाषा का अनुवाद कल्पना की भाषा में करता है। हमारे सामने यह अनुदित सामग्री ही आती है। इस कल्पना की भाषा का फिर पुनः तथ्यों की भाषा में अनुवाद करना होता है। इस अनुवाद में जरा-सी चूक होने पर कई गलत निष्कर्ष निकल सकते हैं। इसलिए कृति का अध्ययन करने के लिए कुछ प्रश्नों से शुरुआत की जानी चाहिए। इस अध्याय का मुख्य प्रश्न यह है कि प्रेमचंद की रचनाओं में चित्रित किसान के शोषण का मुख्य रूप क्या है?

प्रेमचंद की रचनाओं में किसान के शोषण की प्रकृति :

किसानों का शोषण सामंतवादी समाज में भी होता है और पूंजीवादी समाज में भी होता है, लेकिन उपनिवेशों में किसान के शोषण का रूप इन दोनों से अलग होता है। उपनिवेशवादी व्यवस्था में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण करता है, सिर्फ किसान का ही शोषण नहीं करता। चूंकि उपनिवेशों में किसान ही ज्यादा रहते हैं, या उनका ही शोषण मुख्य रूप से होता है; अतः किसान का शोषण राष्ट्रीय शोषण के रूप में सामने आता है। साम्राज्यवादी अंग्रेजों की आय का मुख्य स्रोत जमीन की मालगुजारी था। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवादियों द्वारा राष्ट्रीय शोषण का चित्रण मुख्य रूप से नहीं किया है, (इस ओर संकेत अवश्य किया गया है), इस रूप में नहीं किया है, जैसे कि अंग्रेज भारत का शोषण कर रहे हैं। उनकी रचनाओं की मुख्य चिंता यह नहीं है कि

अंग्रेजी पूंजी भारतीयों का शोषण कर रही है, कच्चा माल खरीदकर अंग्रेजी उद्योग धंधों को बढ़ाया जा रहा है, ऐसी - ऐसी योजनाएँ बनायी जा रही हैं, जिससे भारतीय पूंजी इंग्लैंड जा रही है । उनकी रचनाओं में इन सबका संकेत तो अवश्य है, लेकिन संकेत ही है, विस्तार से इसको मुख्य बिन्दु नहीं बनाया गया है । उनकी मुख्य चिंता किसान का शोषण है । उन्होंने किसान के शोषकों की एक कड़ी के रूप में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को देखा । उन्होंने यह भी दिखाया है कि किसान के शोषण का कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादी ही हैं, उन्हीं के कारण जमींदार और सूदखोर — तथा उनकी नौकरशाही शोषण कर रही है । प्रेमचंद ने उसे राष्ट्रीय शोषक के रूप में साम्राज्यवाद को न देखकर, नीचे से — किसानों के शोषक के रूप में साम्राज्यवाद को देखा । प्रेमचंद प्रथमतः किसानों के पक्षधर थे, इसी कारण साम्राज्यवाद विरोधी थे । वे साम्राज्यवाद विरोधी थे, इसलिए किसानों के पक्षधर नहीं थे ।

प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में संपूर्ण भारत के किसानों के शोषण के विविध रूपों का चित्रण नहीं किया है । जैसे अंग्रेजों ने बंगाल व बिहार (वर्तमान) के कुछ हिस्से में किसानों को नील की खेती करने के लिए बाध्य किया था, या कुछ स्थानों पर जूट, चाय आदि के अनिवार्य उत्पादन की व्यवस्था की थी, उनका चित्रण प्रेमचंद की रचनाओं में नहीं है । यह साम्राज्यवादियों द्वारा किसानों का सीधा और नग्न शोषण है । भारत में भूमि - व्यवस्था के रैयतवारी प्रदेश में किसानों के शोषण की प्रक्रिया का चित्रण भी नहीं किया गया है । 'प्रेमाश्रम' में तो मायाशंकर अपने भाषण में कहता है कि राजा (जो कि अंग्रेज है) को कर लेने का अधिकार है, राजा और किसानों के बीच शोषकों की विशाल श्रेणियाँ बनी हुई हैं, उन्हें नहीं होना चाहिए ।[3] उन्होंने 'देशी भारत' में किसानों के शोषण का चित्रण नहीं किया है । सिर्फ 'रंगभूमि' में किसानों की पीड़ाओं की सांकेतिक अभिव्यक्ति हुई है । उन्होंने मुख्य रूप से जमींदारी व्यवस्था में रह रहे उत्तरी भारत के किसानों की हालत का वर्णन किया है । विशेष रूप से रायपुरी, प्रतापगढ़,

permanent settlement

बनारस, लखनऊ, फैजाबाद के आसपास के किसानों को अपनी रचनाओं में उपस्थित किया है। 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' के अन्तर्गत किसानों के शोषण की प्रक्रिया का चित्रण उन्होंने किया है। 'प्रेमाश्रम' के अन्त में उन्होंने जमींदार द्वारा गाँव को आदर्श गाँव के रूप में उपस्थित किया है।

प्रेमचंद प्राथमिक रूप से जमींदार विरोधी थे और इसी प्रक्रिया में, परोक्षित साम्राज्यवाद विरोधी भी थे। साम्राज्यवाद किसान के शोषण की उदात्त और मुख्य कड़ी 'कर्मभूमि', 'गोदान' जैसी रचनाओं में है।

प्रेमचंद ने मुख्यरूप से शोषण के उन रूपों को सामने रखा, जो कि भारतीय किसान के दैनिक जीवन से संबद्ध थे, जिनका मूर्तिमान रूप किसान के सामने प्रत्यक्ष था, जिसे समझने में किसान समर्थ था। किसान के दैनिक अनुभवों से अलग, दूरस्थ साम्राज्यवादी नीतियों और रूपों को चित्रित करने का प्रयास प्रेमचंद ने नहीं किया। मसलन 'गोदान' में किसान के शोषकों की कतार में जो है, जो बैंकर है। रायसाहब बैंक से कर्ज लेना चाहते हैं, मगर उसके कमीशन माँगता है। जाहिर है कि रायसाहब जो कमीशन और सूद देंगे, वह चोरी जैसे किसानों से ही वसूल होगा। इस तरह चोरी के शोषण में बैंक का भी हाथ हुआ। मगर शंकर की मिल तोलता है, किसानों से गन्ने तौड़ता है, इस तरह गुड़ का कार्य बन्द करवाता है। मिल के मैनेजर से मिलकर सुदखोर झिंगुरी सिंह किसानों के रुपये ले लेता है। शोषण के इस अप्रत्यक्ष से उसके घनिष्ठ रूप को किसान अपनी व्यावहारिक बुद्धि से समझ सकता है। प्रेमचंद ने उसे समझाया है। लेकिन, वे कौन लोग थे, जिन्होंने इस बैंक को खोला, बैंक के माध्यम से भारतीय किसानों का अप्रत्यक्ष और 'सूक्ष्म' शोषण किस प्रकार से हो रहा है, साम्राज्यवादियों की किन नवीन नीतियों के तहत पूँजी भारत में आ रही है, इस लाभ का अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम क्या होने जा रहा है – और चोरी के व्यक्तिगत जीवन पर इन नीतियों का क्या प्रभाव पड़ने जा रहा है — इन प्रश्नों और समस्याओं का चित्रण प्रेमचंद की रचनाओं में नहीं मिलता। इन

लटिल सवालों की दीवार को और प्रेमचंद ने प्यारा पार कर दिया है। ये सवाल उनकी रचनात्मक योजना के अंग नहीं बन पाये। इसी तरह 'कर्मभूमि' में मंदी के दौर में भारतीय किसान की हालत का वर्णन मिलता है। यह मंदी क्यों हुई ? इस अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवादी संकट के कारण और परिणाम क्या होंगे ? अत्यधिक और अत्यधिक उत्पादन से उत्पन्न संकट विश्व में कौन-सा मोड़ ले रहा है ? इन सब बातों का विवरण 'कर्मभूमि' में नहीं है। इस संकट का भारतीय किसानों पर जो प्रभाव पड़ा है, प्रेमचंद ने उसी को रचनात्मक रूप प्रदान किया है। अतः कहा जा सकता है कि प्रेमचंद की रचनाओं में साम्राज्यवादियों के शोषण की संपूर्ण-प्रक्रिया नहीं मिलती है ; किसान किसे कहते हैं, उस शोषण को ही उन्होंने दिखाया है। रायसाहब और खन्ना का व्यक्तित्व तो उनकी रचनाओं में है, लेकिन इण्डीयन बैंक के मालिकों का व्यक्तित्व 'गोदान' में नहीं है। उन्होंने शोषण की अवैधता पर बल दिया है, शोषण के कारणों को उनकी तार्किक परिणति तक नहीं ले गये हैं।

उपनिवेशवादी शोषण और किसान :

प्रेमचंद की रचनाओं में किसान के आर्थिक, सामाजिक और मानसिक शोषण का स्वरूप मिलता है। उनके साहित्य के अध्ययन से सतही तौर पर यह लग सकता है कि उन्होंने जमींदारों के विरुद्ध अर्थात् सामंती शोषण के विरुद्ध ही जेहाद बोला है। उनकी राजनीतिक – सामाजिक टिप्पणियों में साम्राज्यवाद विरोधी भाव उभर कर सामने आये हैं, उनके सर्जनात्मक साहित्य में सामंतवाद विरोधी स्वर प्रमुखतः सुनायी देता है। प्रश्न यह उठता है कि जमींदारी-प्रथा का विरोध क्या सिर्फ सामंतवाद विरोध ही है, या वह साम्राज्यवाद विरोध भी है ? भारत में भूमि-व्यवस्था का पिछला इतिहास देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन जमींदारों की सृष्टि यहां अंग्रेजों ने की थी। अपने शासन को स्थायी बनाने

रखने के लिए उन्हें भारतीय समाज के एक वर्ग का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था । इस सामाजिक और राजनीतिक समर्थन के लिए जमींदारों को खड़ा किया गया । इतिहास गवाह है कि जमींदारों ने संघर्ष के प्रत्येक अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का साथ दिया । ''अंग्रेजों के आने से पहले भारत में एक परम्परा थी कि साल भर की उपज का एक हिस्सा 'राजा का भाग' माना जाता था जो खेती में खेती करने वाले किसान, जिनका जमीन पर संयुक्त स्वामित्व होता था, या अपने गाँव का खुद प्रबंध करने वाला ग्रामीण समाज, किराए या कर के रूप में शासक को दे देता था । सालाना पैदावार के घटने-बढ़ने के साथ 'राजा का भाग' भी अपने आप घट-बढ़ जाता था । अंग्रेजों ने इस पुरानी परम्परा को खत्म करके एक निश्चित नकद रकम के रूप में मालगुजारी लेना शुरू किया । यह रकम जमीन के हिसाब से तै की जाती थी, और साल भर में पैदावार चाहे कम हुई हो, या ज्यादा, जो रकम पहले से तै कर दी गयी थी वही वसूल की जाती थी । और ज्यादातर मालगुजारी अलग-अलग व्यक्तियों पर लगायी गयी थी, जो या तो खुद खेती करने वाले काश्तकार थे या सरकार द्वारा नियुक्त किये गये जमींदार थे । इसके बाद जो कुछ हुआ, वह भारत में इंग्लैंड के ढंग की जमींदारी प्रथा और वहाँ की पूँजीवादी कानून-व्यवस्था जारी करके पूरी कर दी गयी ।..... इस परिवर्तन के द्वारा व्यवहार में अंग्रेज विजेताओं की प्रभुसत्ता का सारी जमीन पर अन्तिम अधिकार कायम हो गया और किसान सबसे बुरी की जमीन पर लगान देकर खेती करने वाला बन गया । लगान न देने पर उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था । या, अंग्रेज सरकार ने जमीन कुछ ऐसे लोगों को दे दी जिनको उसने जमींदार नामजद करना पसन्द किया । ये लोग भी सरकार की मर्जी से ही जमीन के मालिक थे, और मालगुजारी न देने पर उनसे भी सारी जमीन छीन ली जा सकती थी ।''[3] वास्तव में भारत में यूरोपीय ढंग का सामंतवाद कभी भी नहीं था । किसानों का जो शोषण ब्रिटिश भारत में जमींदारों द्वारा होता था, उस तरह का शोषण यहाँ कभी नहीं होता

था । भारतीय इतिहास-कारों में सामंतवाद के भारतीय स्वरूप के संबंध में पर्याप्त बहसें हुई हैं ।

एक तो, परंपरा से किसान जमीन का मालिक हुआ करता था । जमीन का लगान कर के रूप में लिया जाता था, न कि लिपि के रूप में । अंग्रेजों ने जमीन के लगान को किराया बना दिया और इस तरह जमींदारों को किसानों को बेदखल करने का वैधानिक अधिकार दे दिया । मुगलों के समय जमींदार का काम कर वसूलना हुआ करता था । सरकार द्वारा नियत निश्चित कर को ही वह वसूल कर सकता था । उसमें से कमीशन के रूप में उसका हिस्सा उसे मिल जाता था जबकि अंग्रेजों ने एक निश्चित मालगुजारी में सारी जमीन जमींदारों को दे दी । जमींदार किसानों से जितना लगान वसूल कर सकता है । इन जमींदारों ने कानूनी लगान के साथ-साथ बेगार, शगुन, नजराना आदि कई गैरकानूनी कर लेने शुरू किये । चूंकि इन जमींदारों की सृष्टि साम्राज्यवाद की नीति के अन्तर्गत हुई थी, अतः इनका विरोध साम्राज्यवाद की नीतियों का विरोध था । स्वाधीनता - आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किसान - जमींदार संघर्ष को टालने, शांतिपूर्वक ढंग से सुलझाने का प्रयास किया और इस तरह उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन में जमींदारों का भी सहयोग लेना चाहा ।[4] प्रेमचंद ने कांग्रेस की इस नीति को हमेशा शंकित नजर से देखा । उनकी रचनाओं में किसानों का जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के आधारभूत ढंग के रूप में पाया है । 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में किसानों के आन्दोलन को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है । प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में जमींदार को किसानों पर अनावश्यक बोझ के रूप में चित्रित किया है । जमींदारों की न तो उत्पादन में कोई भूमिका है और न सामाजिक प्रगति में, बल्कि वे उत्पादन में बाधा उपस्थित करने वाले हैं ।

सामंतवादी समाज और औपनिवेशिक समाज के जमींदारों की प्रकृति में पर्याप्त अन्तर होता है । विशेष रूप से भारतीय सामंतों और किसानों का संबंध

भिन्न प्रकार का रहा है । सामंतवाद में जमींदारी प्रतिष्ठा की वस्तु होती है, जमींदार की कुछ मर्यादाएं होती हैं, जिनका पालन वह करता है । आर्थिक दृष्टि से वह स्वतंत्र होता है । उसमें किसानों के प्रति (शोषण के बावजूद या साथ ही) अपनत्व का भाव भी होता है । किसान से उसका व्यक्तिगत संबंध होता है । चूंकि वह परंपरागत रूप से जमींदार होता है, अतः परंपरा द्वारा प्राप्त अधिकारों का ही वह उपभोग करता है । जमीन का लगान वह अनाज के रूप में लेता है, अतः 'रुपये' का महत्त्व ऐसे समाज में कम होता है । ऐसे लोग अपनी संपत्ति का हिसाब बीघों के रूप में करते हैं । किसान की पैदावार का बड़ा हिस्सा स्थानीय उपभोग के लिए होता है । उसकी पैदावार से लगान देन-देन का अधिकतर कार्य अनाज से ही हो जाता है । जमींदार किसान का आर्थिक शोषण करता है, उसे कोड़ों से पिटवाता भी है, अपने गाँव से निकाल भी सकता है, लेकिन उसे बर्बाद नहीं करता । तंगी के अवसर पर वह किसान की मदद करता है, ताकि वह संभल जाय ।

उपनिवेशवादी समाज में स्थितियों में आधारभूत परिवर्तन हो जाता है । ऐसे समाज में किसान-जमींदार के सामाजिक संबंध तो वही रहते हैं, लेकिन आर्थिक संबंध बदल जाते हैं । जमींदारी का अस्तित्व साम्राज्यवादियों की कृपा पर निर्भर करता है । कहने को तो वे कहते रहते हैं कि "..... प्रजा मेरे पैरों की धूल है । मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूं, जैसा सदुपयोग करूं । किसी को हमारी और हमारी प्रजा के बीच में बोलने का एक नहीं है ।"[5] लेकिन वास्तविकता यह है कि अंग्रेज हाकिम उन्हें पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझते । यहाँ तक देशी रियासतों के राजा (जैसे 'रंगभूमि' में उदयपुर का राजा) पोलिटिकल एजेन्ट के सामने जाने से भी घबराता है । जमींदार किसानों का शोषण तो करते हैं, लेकिन शोषण का यह धन उनके पास नहीं रह पाता । जमींदार छोटा हो या बड़ा उसे राज्याधिकारियों को प्रसन्न रखना पड़ता है । 'गोदान' के जमींदार ओंकारनाथ कहते हैं कि "तुम समझते होगे कि हम ये रुपये लेकर

अपने धर में रख लेते हैं और चैन की बंसी बजाते हैं । लेकिन हमारी आत्मा जो कुछ गुजरती है, हमी जानते हैं । कहीं यह चंदा, कहीं वह इनाम । इनकम मारी रकम निकल जाता है । बड़े दिन में सैकड़ों रुपये डालियों में उड़ जाते हैं । जिसे डाली न दो, वही मुँह फुलाता है । जिन चीजों के लिए लड़के तरसकर रह जाते हैं, उन्हें बाहर मँगाकर डालियों में सजाता हूँ । उस पर जानवरों का गल, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी साहब का लश्कर आ गये । सब मेरे मेहमान होते हैं । अगर न करूँ तो नक्कू बनूँ और सबकी आँखों का काँटा बन जाऊँ । साल में हजार-बारह सौ मोटी रकम शराब के मद में देने पड़ते हैं । यह सब कहाँ से आवे ? बस, यही जी चाहता है कि छोड़कर निकल जाऊँ। लेकिन इन्हें तो परमात्मा ने इसलिए बनाया है कि एक से रुपया खसोटकर ले और दूसरों को रो-रोकर दे, यही हमारा काम है ।''[6]

लाला ओंकारनाथ के इस कथन से जमींदारी की हैसियत स्पष्ट हो जाती है । अकेले ओंकारनाथ की ही यह पीड़ा नहीं है, प्रेमचंद साहित्य का प्रायः प्रत्येक जमींदार अपनी इस व्यथा को घुमा - फिराकर व्यक्त करता है । जमींदारी को लगता है कि उसे निरपराध किसानों को सताना पड़ता है, उनको सताने के पाप का भागी तो जमींदार होता है, लेकिन उसे जो आमदनी होती है, उस पर उसका अधिकार नहीं होता । उसे अपनी मर्यादा का पालन करने के लिए हमेशा ऋण लेते रहना पड़ता है । प्रेमचंद साहित्य का प्रायः प्रत्येक जमींदार, तालुकेदार और रायसाहब कर्जदार है । 'गोदान' के रायसाहब कर्ज के लिए खन्ना की खुशामद करते हैं, 'प्रेमाश्रम' के रायसाहब पर भी कर्जा है । यहाँ तक कि कर्ज रईसों की शान में शामिल हो गया है । 'बड़े घर की बेटी' के तालुकेदार पिता का परिचय देते हुए प्रेमचंद ने लिखा है — '' विशाल-भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी-शिकरे, जाड़े-भानुस, आनरेरी मेजिस्ट्रेटी और ऋण, जो प्रतिष्ठित तालुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे ।''[7]

कि इतने भयंकर शोषण के बावजूद जमींदारी का कर्जदार रहना यह बताता है कि यह शोषण का स्वायत सामंती तरीका नहीं है, बल्कि उपनिवेशवादी तरीका है ।

प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में राज्य कर्मचारियों और पोलिटिकल एजेंट के दौरों का विस्तृत वर्णन किया है । ऐसे समय किसानों की जो दुर्गति होती है, उसके लिए जमींदारों को कतई दोष नहीं दिया जा सकता ।' रियासत का दीवान' में पोलिटिकल एजेंट अति है, उनके स्वागत के लिए जनता के श्रमबिंदु को पानी की तरह बहाया जाता है । इसमें उद्देश्य यह होता है कि एजेंट खुश हो जाये, ताकि सरकार के पास रियासत के पक्ष में रिपोर्ट लिखे । इसके लिए किसानों से चंदा लिया जाता है । '' पुलिस गाँव-गाँव चन्दा उगाहती फिरती थी । रस्म दीवान साहब नियत करते थे । वसूल करना पुलिस का काम था । फरियाद की कहीं सुनवाई न थी । चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी । हजारों मजदूर सरकारी इमारतों, सजावट और सड़कों की मरम्मत में बेगार पर रहे थे। बनियों के छप्पों के जोर से रसद जमा की जा रही थी ।''[8] आखिर किसलिए इतना अन्याय हुआ ? इसलिए कि रियासत का अस्तित्व अंग्रेजी साम्राज्य के प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेंट की प्रसन्नता-अप्रसन्नता पर निर्भर है । ऐसा कमजोर वर्ग अपनी आत्मरक्षा के लिए दूसरे पर अत्याचार करता है । 'कायाकल्प' के राजा शिवपाल सिंह को ठोकर मारते हुए जिम कहता है, ''..... तुम बागी का सिफारिश करता है, बागी को पनाह देता है । सरकार का दोस्त बनता है । अभी निकल जाओ । राजा और रैयत सब एक है । हम किसी पर भरोसा नहीं करता। अपने जोर का भरोसा है । राजा का काम बागियों को पकड़वाना, उनका पता लगाना है । उनका सिफारिश करना नहीं । अभी निकल जाओ ।''[9]

प्रेमचंद की रचनाओं में जमींदार एक पतनशील और कमजोर वर्ग के रूप में सामने आता है । जो सारतः कमजोर है, पराधीन है, लेकिन उपनिवेशवाद के अस्त्र के रूप में किसानों का निर्मम शोषक और अत्याचारी शासक है ।

उसके पंजों से किसानों को बचाना ही किसानों की तात्कालिक सहायता है । 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर अत्यंत क्रूर व्यक्ति है, लेकिन वह भी अपने सहपाठी दिप्टी ज्वालासिंह से ईर्ष्या करता है और कहीं न कहीं उसको अपने से 'बड़ा' मानता है । प्रेमचंद की रचनाओं के सारे जमींदार अंत में पराजित होते हुए, नष्ट होते हुए सामने आते हैं ।

प्रेमचंद की रचनाओं में दो शासकों की चेतना मौजूद है । सामान्य किसान भी समझता है कि जमींदार के ऊपर भी हाकिम का राज है, जहाँ फरियाद की जा सकती है । सुखू चौधरी कारिंदा की धमकी का जवाब देते हुए कहता है कि ''क्या हाकिम का राज नहीं है?'' [10] अंग्रेजों ने उपनिवेशवादी न्याय-व्यवस्था की भी स्थापना की थी, कुछ कानून बनाये थे, जिनका पालन करना आवश्यक था । हालांकि इस कानूनी लड़ाई में किसान अधिकतर पराजित ही होते थे, फिर भी वे जमींदारों के खिलाफ न्यायपालिका में फरियाद कर सकते थे। [11] ये दो शासकों की चेतना और उनका अस्तित्व प्रत्येक गाँव में मौजूद है । चौरी के गाँव में राजसत्ता का कारिंदा नौधिराम भी रहता है और अंग्रेज सरकार का नौकर (पटवारी) पटेश्वरी भी रहता है । चौरी के शोषण में इन दोनों की भूमिका होती है । तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद की रचनाओं में जमींदारों द्वारा किया गया किसानों का शोषण शुद्ध सामंती शोषण नहीं है, बल्कि उपनिवेशवादी शोषण है ।

इस तरह किसान के शोषण के मूल में साम्राज्यवाद है । जमींदार तो उनके लिए आड़ है । किसान उन्हें ही अपना मुख्य शत्रु समझकर लड़ते रहें और इस तरह साम्राज्यवाद सुरक्षित रहे — यह साम्राज्यवादियों की नीति थी । प्रेमचंद जैसे बुद्धिजीवियों ने इस आड़ की सैद्धांतिक व्याख्या कर दी ।

इसके अलावा उपनिवेशवाद में जमींदारी प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं रह जाती, बल्कि लाभ की वस्तु बन जाती है । प्रत्येक व्यक्ति इसलिए जमींदार बनना

चाहता है ताकि उसकी 'आय' बढ़े, इसलिए नहीं कि उसकी गिनती सम्मानित और बड़े लोगों में की जाय । इसलिए वह अपनी जमींदारी की जमीन का विनिमय चीजों के रूप में न करके उपज से प्राप्त आमदनी के रूप में करता है । 'प्रेमाश्रम' में लालपुर दो-ढाई हजार सालाना आमदनी का गाँव है । एजाफा लगान या दावा आदि के द्वारा ज्ञानशंकर वहाँ चार हजार रुपये 'कमाना' चाहता है । इसी तरह राय कमलानंद की आमदनी एक लाख रुपये वार्षिक थी । पुरानी जमींदार की दृष्टि कुल मर्यादा की रक्षा पर रहती थी, नये जमींदार की दृष्टि लाभ पर केन्द्रित हो गयी । दृष्टि परिवर्तन के साथ ही किसान जमींदार संबंध में भी परिवर्तन हो गया । 'प्रेमाश्रम' में मनोहर ने पुरानी और नयी मालिकों का जो अन्तर बताया है वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । '' भैया, तब की बातें जाने दो । तब साल-साल की देन बाकी पड़ जाती थी । मुदा मालिक कभी मुड़की-चेदखली नहीं करते थे । जब कोई काम-काज पड़ता था, तब रुपये मेवता मिलता था । लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी - सारा और 25/- रुपये बँधा हुआ था । यह सब जानते हो कि नहीं । जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे तो रैयत भी खुशी-खुशी उनकी बेगार करती थी। अब यह बातें तो गयीं, बस एक-एक पंजड़ लगा रहता है ।''[12]

इसका कारण यह है कि जमींदारी को जमींदार एक व्यवसाय समझता है । इस व्यवसाय की जितनी परंपराओं का तो वह पालन करता है और अपने लिए (जमींदार के लिए) आर्थिक दृष्टि से अहितकर परंपराओं को तोड़ देता है । यानि उसके व्यक्तित्व में सामंतवादी और पूंजीवादी तत्वों का मिश्रण होता है । 'सभ्यता का रहस्य' के रायसाहब परंपराओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, '' मेरे यहाँ कई पुश्तों से जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता था । कई हजार रुपयों पर पानी फिर जाता था । गाना होता था, दावतें होती थीं, रिश्तेदारों को न्योते दिये जाते थे, गरीबों को कपड़े बाँटे जाते थे । वाजिद सालिद के बाद पहले ही साल मैंने उत्सव

बन्द कर दिया । फायदा क्या ? मुफ्त में चार-पाँच हजार की चपत पड़ती थी ।..... अजी बड़ी दिल्लगी थी । बच्चे में किसी के यहाँ शादी थी ; लकड़ी मुझसे ले । पुश्तों से यह रस्म चली आती थी । वालिद तो दूसरों से दावत मोल लेकर यह रस्म को निभाते थे । थी हिमाकत या नहीं ? मैंने बीरन लकड़ी देना बन्द कर दिया ।..[13]

लेकिन सारी जमींदारी का यह मानसिक परिवर्तन नहीं हो पाया । उनकी मिथ्या मर्यादा चेतना उनके पतन का कारण बनी । 'गोदान' के राय साहब खन्ना के पास रुपये उधार लेने जाते हैं और बड़ी देर तक खन्ना की खुशामद करते हैं । इसी बीच में मि० मेहता स्त्रियों के लिए व्यायामशाला बनवाने के लिए चन्दा लेने आते हैं । पूंजीवादी खन्ना साफ मना कर देते हैं । लेकिन राय साहब को अपनी हैसियत देखनी पड़ती है और दस हजार रुपये चंदा दे देते हैं । इस तरह इन जमींदारों को अपने सामंती गौरव की रक्षा करनी पड़ती है लेकिन उनकी आय साम्राज्यवादियों की सेवा में खर्च हो जाती है ।

उपनिवेशवादी समाज में राज्य और समाज में एक आंतरिक अलगाव होता है । राज्य और राजकीय व्यवस्था एक दूसरे देश के पूंजीपति वर्ग के साथ में होती है, लेकिन राज्य सामाजिक जीवन में सामंती सामाजिक संबंधों को बनाए और बचाए रखता है । ऐसे समाज में किसानों के आर्थिक संबंध पूंजीवादी और सामाजिक संबंध सामंतवादी होते हैं । 'गोदान' का होरी बीज लेते समय अपने भाईयों से छिपाकर रुपये ले लेना चाहता है, लेकिन धनिया के घर से भाग जाने के बाद उसकी पत्नी पुनिया को आश्रय भी देता है ।

इसके अलावा सामंती अर्थव्यवस्था स्थानीय और आत्मनिर्भर होती है । किसान जमींदार से खेत लेता है और उपज का चौथाई हिस्सा उसे दे देता है । लगान अनाज के रूप में लिया जाता है । जबकि उपनिवेशवाद में किसानों की आर्थिक अवस्था विश्व अर्थव्यवस्था का अंग बन जाती है । लगान का रुपयों में लिया जाना इसका प्रमाण है । शगुन, नजराना, जुर्माना आदि सारी रस्में

व्यथा से ही पूरी होती है । अतः किसान अपने खेतों में उन जिंसों का उत्पादन करता है जिससे उसे रुपये मिलें । इसलिए मंडी के लिए उत्पादन होने लगता है । गोरी के गन्ने की पकाल मिल मालिक कम्ना खरीदता है, यही नहीं विश्व अर्थ-व्यवस्था का सीधा प्रभाव प्रत्येक किसान की आर्थिक हालत पर पड़ता है । सन् 1929-30 की 'मंदी' (जो कि यूरोपीय पूंजीवादी संकट की देन थी) का प्रभाव भारतीय किसानों पर भी पड़ा । सभी चीजों के भाव उस दिन (29-30) से 40 साल पिछले भावों के बराबर हो गये । 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने मंदी के इस व्यापक प्रभाव को दिखाया है । सारा अनाज तौल देने के बावजूद किसान इस हालत में नहीं है कि लगान दे सके । फलतः कुर्की और बेदखली होती है । किसान जमींदारों के पास फरियाद करने जाते हैं । जमींदार कहते हैं कि जब सरकार अपनी मालगुजारी में कमी नहीं करती तो हम लगान कैसे कम कर सकते हैं ? प्रेमचंद की रचनाओं में किसान के जिस शोषण का चित्रण किया गया है वह साम्राज्यवादी शोषण का ही रूप है ।

औपनिवेशिक तंत्र और राजकर्मचारी :

प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवाद के अमूर्त और अदृश्य रूप का ही चित्रण नहीं किया है, बल्कि उसे ठोस और अनुभवगत रूप में उपस्थित किया है । इस तरह किसानों के शोषण में लगे साम्राज्यवादी तंत्र को उघाड़ कर सामने रखा है । इस प्रक्रिया में उन्होंने पटवारी, कचहरी, पुलिस और वकील की कार्यपद्धति को चित्रित किया है । औपनिवेशिक तंत्र के माध्यम से किसानों का शोषण करते हैं । लेकिन ये राजकर्मचारी सिर्फ 'माध्यम' मात्र नहीं हैं, बल्कि इनका भी अपना अलग अस्तित्व और व्यक्तित्व है । प्रेमचंद ने इनकी दोहरी और जटिल भूमिका को स्पष्ट किया है । एक तरफ तो उन्होंने यह दिखाया है कि सहृदय और मानवीय राजकर्मचारी भी इस व्यवस्था में अत्याचार करने के लिए बाध्य है,[14] दूसरी तरफ यह भी दिखाया गया है कि किसानों की बदहाली में

उनकी स्वार्थपरता और अमानवीयता का दाव भी कम नहीं है । 'प्रेमाश्रम' में इस जटिल प्रक्रिया का विस्तृत चित्रण मिलता है ।

किसानों का परिचय जिन सरकारी कर्मचारियों से होता है, प्रेमचंद ने उन्हीं कर्मचारियों का चित्रण विस्तार से किया है । जिन कर्मचारियों को किसान नहीं जानते, उनका चित्रण प्रेमचंद भी नहीं करते । सरकारी कर्मचारियों से किसानों का सामना या तो कचहरी में होता है, या गाँव में दौरे पर आए हाकिमों के दौरों में होता है, या फिर पुलिस के रूप में होता है । इसके अलावा पटवारी के रूप में एक कर्मचारी गाँव में निवास भी करता है । प्रेमचंद ने इन सभी स्वतंत्र व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए भी किसानों के साथ उनके संबंध पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया है ।

किसानों के लिए ये कर्मचारी हिंसक जन्तु से कम नहीं होते । वार्षिक माल के बाद हाकिमों के दौरे होते हैं । इनका उद्देश्य किसानों की स्थिति की जानकारी करना होता है । लेकिन वहाँ जाकर ये लूट मचा देते हैं । ''जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं । घी से भरे हुए कनस्टर, दूध से भरे मटके, उपले और लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं । '' [5] इस सब सामूहिक लूट के अलावा इनको भी वे सभी अधिकार मिलते हैं, जो जमींदार के पास हैं — जिनमें बेगार, दंड आदि शामिल हैं । जमींदार के नौकर और पुलिस इनकी सहायता करती है । जिस तरह जमींदार से ज्यादा जमींदार का कारिंदा किसानों पर अत्याचार करता है, उसी प्रकार अफसर से ज्यादा अफसरी शान उसके मातहतों में होती है । किसान के लिए हाकिम का सवारी यम के दूत से कम भयावह नहीं होता । 'प्रेमाश्रम' के अलावा 'कर्मभूमि', 'गबन', 'गोदान' और अनेक कहानियों में प्रेमचंद ने ब्रिटिश नौकरशाही का चित्रण किया है ।

प्रेमचंद ने अंग्रेज और देशी हाकिमों में भी अन्तर करने का प्रयास किया है । 'प्रेमाश्रम' का मनोहर चाहता है स्वराज्य लाने का दावा देशी हाकिमों

की पचलास में पेश न हुआ की सी दशा है, क्योंकि '' हाकिम लोग वाद भी ली जमींदार होते हैं, इसलिए वह जमींदारों का पक्ष करते हैं ।''16 प्रेमचंद ने हाकिम को सिर्फ किसानों के शोषक के रूप में चित्रित नहीं किया है, बल्कि उसे राष्ट्रीय और मानवीय शोषक के रूप में चित्रित किया है । सरकारी नौकरी करने वाले युवक का चारित्रिक पतन दिखाते हुए प्रेमचंद ने अनेक कहानियाँ लिखी हैं । सरकारी नौकरी में धन दौलत मिलती है, लेकिन उसे अपनी आत्मा को बेचना पड़ता है । उसके व्यक्तिगत विचारों और भावनाओं का नाश हो जाता है, क्योंकि उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पुर्जे के रूप में काम करना होता है । अर्थात देश सेवा में लीन व्यक्ति का जीवन निर्धनता परन्तु आत्मिक स्वाधीनता से बीतता है । दो मित्रों का भिन्न विकास इसी कारण होता है । 'कर्मभूमि' के अमर और सलीम में एक देश सेवक और राजकर्मचारी का अन्तर है । 'दिल्ली के रसिये' में कैलाश और नरेश के माध्यम से प्रेमचंद ने इस अन्तर को स्पष्ट किया है । इस तरह का जीवन जीने वाला अन्ततः 'भड़ि का टूटट्' हो जाता है ।

ये राजकर्मचारी जिस तरह स्वाधीनता आंदोलन का दमन करते हैं, उसी तरह किसानों का भी शोषण करते हैं । जमींदार - किसान संघर्ष में अक्सर ये हाकिम जमींदारों का ही पक्ष लेते हैं, क्योंकि ये खुद भी जमींदार होते हैं । एक स्तर पर हालांकि राजकर्मचारियों और जमींदारों में अन्तर्विरोध होता है, लेकिन यह उनका मित्रतापूर्ण अन्तर्विरोध होता है । अक्सर अधिक सम्पत्तिवाले एक दूसरे को देखकर ये मित्र बन जाते हैं । पटवारी, कानूनगो, तहसीलदार आदि के रूप में ये किसानों के प्रत्यक्ष शोषक हैं और न्यायाधीश के रूप में परोक्ष ।

प्रेमचंद की रचनाओं में कचहरी एक 'संस्था' है, जहाँ न्याय के नाम पर न्याय का गला घोंटा जाता है । उनकी रचनाओं में कचहरी का वर्णन एक खास प्रकार के वितृष्णा भाव से किया हुआ मिलता है । यहाँ कचहरी का अर्थ है — रिश्वतखोरी, धोखा-धड़ी, बेईमानी और झूठ । इसमें न्यायाधीश और वकील से लगाकर अमले तक शामिल हैं । 'नमक का दरोगा' एक अति धनी

पंडित अलोपीदीन को गिरफ्तार करके कचहरी में ले जाता है। यहाँ 'पंडित अलोपीदीन इस अगाध धन के लिए थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील - मुख्तार उनके आज्ञापालक और अरदली, चपरासी और चौकीदार उनके बिना मोल के गुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ से दौड़े।...[17] 'ईश्वरीय न्याय', 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियों में तो नहीं, 'प्रेमाश्रम', 'गबन' जैसे उपन्यासों में प्रेमचंद ने इस न्यायव्यवस्था की न्याय विरोधी भूमिका को रेखांकित किया है।

प्रेमचंद की रचनाओं में पुलिस का भी वर्णन मिलता है। पुलिस ब्रिटिश राज्य के आन्तरिक शत्रुओं का दमन करती है और न्याय-व्यवस्था लागू करती है। स्वाधीनता आन्दोलन के इस युग में पुलिस दमन का दूसरा नाम था। राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों को पुलिस की ज्यादतियों का सामना सबसे पहले करना पड़ता था। प्रेमचंद ने इस दृष्टि से भी पुलिस का वर्णन किया है। लेकिन 'अमन-चैन' के दिनों में भी पुलिस सक्रिय रहती थी। झूठे मुकदमे बनाकर किसी को फँसा देना पुलिस के लिए बाएँ हाथ का खेल है। 'प्रेमाश्रम' में दरोगा कहता है — '' मैं दयाशंकर नहीं हूँ, मेरा नाम नूरआलम है। चाहूँ तो एक बार खुदा को भी फँसा दूँ।...[18] यूँ तो 'प्रेमाश्रम' से 'गोदान' तक की रचना-यात्रा में प्रेमचंद में बहुत परिवर्तन हुए हैं, लेकिन पुलिस की कार्यपद्धति में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'गोदान' के थानेदार पंडों को धमकाते हुए कहते हैं, '' तुमने अभी अन्धेर नहीं देखा। कहो तो वह भी दिखा दूँ। एक-एक को पाँच-पाँच साल के लिए भिजवा दूँ। यह मेरे बाएँ हाथ का खेल है। जाओ मैं सारे गाँव को काले पानी भिजवा सकता हूँ। इस धोखे में न रहना।...[19]

फसल के समय पुलिस भी गाँव में जाकर मुँहमाँगे दामों की तहसीलात करती है और इस बहाने रिश्वत लेती है। रिश्वत लेना पुलिस विभाग में आम बात है। 'उपदेश' कहानी में इसका चित्रण है। 'प्रेमाश्रम' में गौस खाँ की हत्या मनोहर ने की थी। उसने अपना जुर्म कबूल भी कर लिया, लेकिन

पुलिस ने सारे गाँव के आदमियों पर न केवल मुकद्दमा चलाया, बल्कि सजा भी करवा दी। उपन्यास में तो प्रेमशंकर की सहायता से सब बच गये, अन्यथा उन्हें सजा तो काटनी ही पड़ती। 'कर्मभूमि' में किसानों से जबर्दस्ती लगान वसूल करने के लिए पुलिस आती है और कुर्की आदि के माध्यम से लगान वसूल करवाती है। जमींदार से मिलकर पुलिस जमींदार विरोधी किसानों को छोटे मुकदमे में फँसाकर जेल भिजवाती है। 'प्रेमाश्रम' में सुखू चौधरी को दो साल की सजा पुलिस ने ही दिलवायी थी। पुलिस की इन करतूतों के कारण ही भारतीय किसान सिपाही से जितना डरता है, उतना शैतान से भी नहीं डरता। उसके इस आतंक के विरुद्ध प्रेमचंद का साहित्य घृणा और क्रोध का भाव जाग्रत करता है।

प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य में सेना का चित्रण नहीं मिलता। 'कर्मभूमि' में एक बार कुछ गोरी सिपाही जन्म आते हैं, जो मुन्नी का अपमान करते हैं, लेकिन इसके अलावा कहीं भी सेना की भूमिका नहीं दिखायी गयी है। निश्चय ही यह प्रेमचंद की रचनात्मक योजना का अंग नहीं बन पायी थी।

किसानों का शोषण — जमींदारों द्वारा :-

प्रेमचंद ने किसानों के शोषण का वर्णन या चित्रण करते समय हमेशा इस तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास किया है कि समकालीन समाज में किसानों की स्थिति और भूमिका क्या है और क्या होनी चाहिए ? उन्होंने प्रमुखतः किसानों की बदहाली का चित्रण किया है। जब भी उनका कोई शहरी पात्र गाँव में जाता है और जिसमें मानवीय भावनाएँ हैं, वह इसी तथ्य को रेखांकित करता है कि किसानों की दशा अत्यंत करुण है। यहाँ तक कि गोबर भी शहर जाकर जब वापस आता है तो उसे यह दीनावस्था खलती है। गाँववालियों को इसमें कोई खास बात नजर न आती है, क्योंकि यह दीनावस्था उनकी दैनिक जिन्दगी

का इतना अंग बन चुकी है कि वे इसे ही प्राकृतिक और सहज अवस्था मान लेते हैं। '' गोबर को उतनी देर में घर की परिस्थिति का अन्दाज हो गया था। धनिया की साड़ी में कई पैवंद लगे हुए थे। सोना की साड़ी सिर पर फटी हुई थी और उसमें से उसके बाल दिखाई दे रहे थे। रूपा की धोती में चारों तरफ झालरें-सी लटक रही थीं। सभी के चेहरे रूखे, किसी की देह पर चिक्कण नहीं। जिधर देखो, विपन्नता का साम्राज्य था।''[20] निश्चय और आदर्शवादी युवक मायाशंकर ने अपने पलकि का दौरा किया और उसे जो प्राथमिक ज्ञान हुआ, वह यह कि ''चारों तरफ तबाही छायी हुयी थी। ऐसा विरला ही कोई घर था जिसमें धातु के बर्तन दिखायी देते थे। कितने घरों में लेवे के लेवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर ओढ़ने में और कुछ दिखायी न देता था। न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत से घरों में खाट तक न थी और वह घर ही क्या थे। एक-एक, दो-दो छोटी कोठरियाँ थीं। एक मनुष्यों के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, बैठना — सब कुछ होता था। बस्तियाँ इतनी घनी थीं कि गाँव में खुली हुई जगह दिखायी ही नहीं देती थी। किसी के द्वार पर सघन नीम, हवा और प्रकाश का शहरों की घनी बस्तियों में भी इतना अभाव न होगा। जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे उनके बदन पर साबित कपड़े न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। सब के सब ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों के देखने को आँखें तरस जाती थीं। जहाँ देखो टूटे-टाटे मरियल, दुर्बल बैल दिखाई देते थे और खेत में रेंगते और चरनियों पर खीझते थे। कितने ही ऐसे गाँव थे जहाँ दूध तक न मयस्सर होता था।''[21] प्रेमचंद ने जिस आत्मीय करुणा से इस दृश्य का वर्णन किया है, उसमें उनका व्यक्तिगत अनुभव भी शामिल लगता है। मायाशंकर को जैसे प्रेमचंद अपनी आँखों से किसानों की हालत दिखा रहे हों। किसानों की वास्तविक हालत बतानेवाले ऐसे मार्मिक वर्णन उनकी रचनाओं में जगह-जगह मिल जायेंगे।

निश्चय ही चिंतक प्रेमचंद ने उनकी स्थिति को देखकर ही उस स्थिति के कारणों पर विचार किया होगा । इसी प्रक्रिया में उन्होंने बहुत सारे कारणों की ओर संकेत किया है । शायद यही कारण है कि उन्होंने किसानों की बदहाली के प्राथमिक और गौण कारणों को अलग-अलग करके नहीं दिखाया है । उन्होंने सारे कारणों के सामूहिक प्रभाव — किसान की बदहाली — पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है । 'गोदान' के अंतिम पृष्ठों में रामसेवक ने किसान की जो हालत बयान की है, उसके पीछे यही दृष्टि रही है ।

फिर भी, किसान की बदहाली का मुख्य कारण लगान है । किसान के शोषण का मुख्य स्रोत यही बड़ी हुई लगान और उससे संबंधित अन्य कानूनी तथा गैरकानूनी कर है । अपनी सर्जनात्मक रचनाओं की पृष्ठभूमि वर्णित करते हुए वे अक्सर इस ओर हल्के से इशारा कर देते हैं । रचनाकार तो इसे हल्के-फुल्के ढंग से ही बताता है, लेकिन पाठक पर उसका प्रभाव दुगने वेग से होता है । 'पूस की रात' कहानी में हल्कू की पीड़ा (जिसे बड़ी आसानी से दया जा सकता है) का कारण क्या है । उसकी पत्नी कहती है — ''न जाने कितनी बाकी है, जो किसी तरह चुकने ही नहीं आती । मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते ? मर-मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई । बाकी चुकाने के लिए तो हमारा जनम हुआ है।''[22] हल्कू ने कम्बल खरीदने के लिये तीन रुपये जमा कर (या कि चुराकर) रखे थे, उसे जमींदार का सहना ले गया । 'गोदान' की धनिया सोचती है कि — ''यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इस बीस वर्षों में उसे कड़वे तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो ; मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है ।''[23]

प्रेमचंद ने भूमि कर (जिसमें गैरकानूनी कर भी शामिल है) को किसान के शोषण का मुख्य माध्यम माना है । श्री रजनी पामदत्त ने भारतीय

राज में किसानों की हालत का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि उन पर तीन तरह के बोझ हैं — 1. सरकारी मालगुजारी का बोझ, 2. जमींदारों के लगान का बोझ और 3. साहूकार के सूद का बोझ। उन्होंने लिखा है "फिर भी, यह अनुमान भी, उसके साथ नमक कर का बोझ जोड़ देने पर, 20 रुपये फी किसान तक पहुँच जाता है। उसके मुकाबले में किसानों की औसत आमदनी भी देखिए। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी के बहुमत की रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि "ब्रिटिश भारत में किसान की औसत आमदनी 42 रुपये सालाना से ज्यादा नहीं बैठती"।"[24] पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है अवध में कुछ जमींदार किसानों से 50 से ज्यादा गैरकानूनी कर वसूल करते हैं।[25] नेहरू ने भी किसानों की बदहाली के तीन प्रमुख कारण बतलाये हैं — 1- राज्य के अनुचित कानून, जो किसान विरोधी हैं,

2- जमींदार, उनके एजेंट और पुलिस का अत्याचार,

3- किसानों का अज्ञान और उनकी रूढ़िवादिता।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किसानों के बीच काम करते हुए इन्हीं तीन मुख्य बिन्दुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

ब्रिटिश भारत में भूमि-संबंधी कानूनों में कभी भी एकरूपता नहीं रही है। रैयतवारी और जमींदारी भूमि-व्यवस्था तो अलग थी ही; जमींदारी प्रथा में भी कई स्थानीय असमानताएँ विद्यमान थीं। उन्हें देखकर ही किसानों की लगान-संबंधी समस्याओं की प्रकृति को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। 'बेंगाल टेनेन्सी एक्ट आव 1859' के अनुसार 12 वर्ष तक लगातार जोतने पर किसी जमीन पर किसान का मौरूसी अधिकार हो जाता है लेकिन 'अवध रेंट एक्ट आव 1886' में इस तरह का कोई प्रावधान नहीं है। अतः अवध में किसी जमीन कभी भी मौरूसी नहीं होती।[26] मौरूसी जमीन वह जमीन है जिस पर किसान का स्थायी अधिकार होता है, उसका लगान निश्चित होता है और पिता की मृत्यु के बाद पुत्र को उसी लगान से जमीन जोतने का अधिकार

मिल जाता है । सिक्मी जमीन पूरी तरह जमींदार के अधिकार में होती है, जो वह चाहे जब, चाहे जितनी लगान में, चाहे जिस किसान को दे सकता है । ऐसे स्थानों पर किसानों और जमींदारों के संघर्ष का मुख्य बिन्दु यही होता है । जमींदार चाहता है कि किसी न किसी तरीके से किसानों को उनके मौरूसी अधिकारों से वंचित कर दे । 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर इसी तरह से अपनी आमदनी बढ़ाना चाहता है । वह अगर मौरूसी किसान की लगान बकाया दिखा दे तो वह उस पर बकाया लगान का दावा करके उसे खेत से बेदखल करना चाहता है । 'गोदान' में नोखेराम भी होरी को इसी आधार पर धमकाना चाहते हैं । अक्सर जमींदार किसानों को लगान की रसीद नहीं देते । 'गोदान' में नोखेराम भी रसीद नहीं देता । 'प्रेमाश्रम' में भी गौस खाँ आम किसानों को लगान की रसीद नहीं देता। जब भी किसी किसान को जमींदार दंडित करना चाहता है, उस पर बकाया लगान का दावा कर देता है, इस तरह लगान दो-तीन बार वसूल कर लेता है। पंडित नेहरू ने भी इस तथ्य की ओर इशारा किया है ।[27] नोखेराम जब बेदखली की धमकी देता है तो गोबर उससे कहता है, ''..... मैं अदालत में तुम्हारी गोगाजली उठवाकर रमए दूँगा ; इसी गाँव में एक सौ सवादते दिलाकर साबित कर दूँगा कि तुम रसीद नहीं देते । सीधे - सादे किसान हैं, कुछ बोलते नहीं, तो तुमने समझ लिया कि सब दाब के उल्लू हैं ।''[28] किसानों से जब एक ही खेत का लगान दो-तीन बार वसूल किया जाता है, तब एक स्थिति ऐसी आती है जब वह रुपये नहीं जुटा पाता और इस तरह उसे मौरूसी खेत से बेदखल कर दिया जाता है और उसी खेत को सिक्मी बनाकर नजराने और लगान बढ़ाकर दूसरे किसान को दे दिया जाता है । ऐसे किसान पैतिहर मजदूर बनने के लिए मजबूर कर दिया जाता है ।

इसके अलावा जमींदार किसानों पर बकाया लगान का दावा ऐसे नाजुक अवसरों पर करने की ताक में रहता है जब किसान सबसे ज्यादा संकट में होते हैं, या जब वे किसी भी तरह से रुपये जुटा पाने में असमर्थ होते हैं । 'प्रेमाश्रम' में गौस खाँ की दया के मामले में गाँव के लगभग सभी मर्द ऐसे

में थे, फलतः फसल नहीं बोयी गयी । इसलिए उपज नहीं हुई । जरिया ने चैत तक सब्र किया और उसके बाद बकाया लगान का दावा कर दिया । ''इसी की देरी थी, नालिश हो गयी ; किन्तु गाँव में रुपयों का बन्दोबस्त न हो सका। उज्रदारी करने वाला भी कोई न निकला । सबको विश्वास था कि एकतरफा डिग्री होगी और सब-के-सब बेदखल हो जायेंगे । फेकू और कर्ता बाबा बगलें बजाते फिरते थे । अब मैदान मार लिया है । सौ साहब गये तो क्या, गाँव साफ हो गया । कोई दामिलदार आसामी रहेगा ही नहीं, जितनी चाहें जमीन दो दर बढ़ा सकते हैं । एजार की जगह दो एजार वसूल होंगे ।''[29] 'प्रेमाश्रम' के किसान का यह नाजुक संकट तो लेखक ने सुक्खू चौधरी से बचवा दिया, लेकिन साथ ही यह भी प्रकट कर दिया कि ऐसे समय में सारी किसान बेदखल कर दिये जाते हैं । यह प्रेमचंद का रचना कौशल और यथार्थवादी जीवन दृष्टि का सफल नमूना है । 'गोदान' में राएसाहब ने बकाया लगान की माँग तब की, जब बरसात हुई थी और किसान बीज बोने के लिए जा रहे थे । जाहिर है कि ऐसे संकट में सूदखोर महाजन ही किसानों के 'उद्धारक' (?) के रूप में सामने आता है और वे जमींदार के आक्रमण से बचकर महाजन की चुंगल में फँस जाते हैं । महामंदी के दौर में जमींदारों ने मौकसी किसानों को बेदखल करने के फिर प्रयास किये । 'कर्मभूमि' में इसका वर्णन मिलता है ।

कानूनी लगान को बढ़ाने के लिए जमींदार एजाफा लगान का दावा भी कर सकता है । इसके लिये यह दिखाना जरूरी होता है कि सिंचाई आदि की सुविधाओं के द्वारा जमीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई है और इसके लिए जमींदार ने विशेष प्रयत्न किया है । 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर एजाफा लगान का दावा भी करता है।लखनपुर के बारे में ज्ञानशंकर सोचता है, '' यहाँ कई एकों की सीर थी, एक कच्चा पर सुन्दर मकान भी था और सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ एजाफा लगान की बड़ी गुंजाइश थी । थोड़े उद्योग से उसका नफा दूना हो सकता था । दो-चार कच्चे कुएँ सुदवाकर एजाफे की कानूनी शर्त

पूरी की जा सकती थी ।''[30] तात्पर्य यह है कि लगान का दावा जमींदारी के नग्न शोषण का एक रूप है ।

इधर तो जमींदार यह प्रयास करते रहते हैं कि जमीन को सिक्मी बना दिया जाय, उधर किसान इस चिंता में लगे रहते हैं कि किसी तरह सिक्मी जमीन पर मौरूसी अधिकार प्राप्त कर ले । इसके लिए वह गाँव के चौधरी की खुशामद करता है उसको निश्चित देता रहता है और कुछ लोग किसानों से विमुख जमींदार से मिल भी जाते हैं । सुक्खू चौधरी (प्रेमाश्रम) दातादीन (गोदान) ऐसे ही किसान हैं, जो निजी हित रक्षा के लिए किसानों के सामूहिक हित पर चोट करते हैं । जमींदार या जारिंदा इसी प्रलोभन के द्वारा उन्हें अपने साथ मिलाये हुए रहता है । लेकिन जब किसान यह देखता है कि उसका मौरूसी हक छीना जा रहा है, तो वह मरने-मारने पर उतारू हो जाता है । किसान - जमींदारी के बीच क्लिष्ट हिंसा का तात्कालिक कारण अक्सर यही रहा है । प्रेमचंद ने भूमि का संबंधित समस्याओं को विवेचित करते हुए यह प्रकट किया है कि जमींदार उत्पादन में एक बहुत बड़ी बाधा है और जमीन पर तात्कालिक स्वामित्व जमींदारों का और वास्तविक स्वामित्व ब्रिटिश सरकार है । इसी में किसानों की माँग भी रेखांकित होती है और वह है कि जमीन का मालिक उसे जोतने वाला ही होना चाहिए ।

जिन स्थानों पर मौरूसी जमीन बिलकुल नहीं है (जैसे कि अवध में) वहाँ लगान की समस्या ज्यादा टेढ़ी है । सिक्मी जमीन को जमींदार किसान को बचाने के अस्त्र के रूप में काम में लेता है । जब कोई किसान जमींदार की किसी आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसे काबू में लाने के लिए, या उसे दंड देने के लिए उसके सिक्मी खेत छुड़ाने की धमकी देता है या छुड़ा लेता है । मनोहर जब जमींदार को रुपये सेर घी देने से इन्कार कर देता है, तो गौस खाँ उसके सिक्मी खेत छुड़ाकर दूसरे आसामी को दे देता है । 'पलिदान' कहानी में सिक्मी खेत के लगान की समस्या आती है । गिरधारी के पिता की मृत्यु के बाद

खेतों पर जमींदार ने फिर अधिकार कर लिया । उसके पिता ने 20 वर्ष तक खेत जोते थे । वह 8 रुपये बीघा लगान देता था । जमींदार ने अपनी तरफ से 'उदारता' दिखाते हुए गिरधारी से कहा कि वह 100/- रुपये नजराना और 10 रुपये बीघा लगान दे । उसने फिर 'उदारता' दिखायी और कहा कि लगान पुराना रहने देते हैं, लेकिन नजराना देना पड़ेगा । गिरधारी नजराना देने में असमर्थ है और जमींदार ने खेत दूसरे आसामी को दे दिया । नजराना वे थे 100/- रुपये अवैध है ।

खेतों की लगान की अधिकता ही किसान को ऋण लेने के लिए मजबूर करती है । इसलिए महाजनी शोषण भी सामंती शोषण का ही अंग है, जो उपनिवेशवादी दौर में खूब फला-फूला ।

प्रश्न यह उठता है कि क्या जमींदार के शोषण का जरिया सिर्फ लगान ही है ? नहीं, और भी है । लगान किसान के शोषण का कानूनी रूप है, इसके अलावा कुछ परंपरागत रूप भी हैं, जो भारतीय किसान सदियों से देता आया है अतः उसे भी वैध मानता है । प्रेमचंद की रचनाओं में जमींदारों के उन तमाम हथकंडों का चित्रण मिलता है, जिनसे वे किसानों का शोषण करते हैं । उत्पादन में जमींदार की कोई भूमिका नहीं होती, फिर भी वह ठाट-बाट से रहता है । न केवल वह ही नहीं, बल्कि उसके नाते-रिश्तेदार भी कुछ काम नहीं करते और किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते रहते हैं । गांधीजी ने इन मुफ्तखोर संबंधियों की शिकायत की है । [31] इन निठल्ले और निकम्मे लोगों का भरण-पोषण किसानों के शोषण से ही होता है ।

'गोदान' में रायसाहब के यहाँ एक पार्टी है और साथ ही रामलीला का आयोजन किया गया है । इसके लिए 'शगुन' के नाम पर 'बीस एकड़' रुपये इकट्ठा करना है । होरी को भी पाँच रुपये देने हैं, जिसकी चिंता उसे सताती है । 'कर्मभूमि' में जमींदार मरहत जी हैं । उनके यहाँ तो एक न एक झोंगा लगा ही रहता है ।'' कभी ठाकुरजी का जन्म है, कभी ब्याह है, कभी

यज्ञोपवीत है, कभी पूजा है, कभी जल-विहार है । असामियों को इन सबकी पर बेगार देनी पड़ती थी ; भेंट-न्योछावर, पूजा-चढ़ावा आदि नामों से रकमें चुकानी पड़ती थी ; लेकिन धर्म के मुआमले में कौन मुँह खोलता ?''[32] जिस समय राजा विशालसिंह का तिलक होता है, उस समय भी किसानों से बेगार के अलावा नकद रुपये वसूल किये जाते हैं । किसान से एक के पीछे 10 रुपये वसूल करने का निश्चय किया गया । '' जिसने खुशी से दिये, उसका तो 10 रुपया ही में गला छूटा । जिसने हील-हवाले किए, कानून बघारा, उसे 10 रुपये के बदले 20 रुपये, 30 रुपये, 40 रुपये देने पड़े ।''[33] इसके अलावा जब अँग्रेज अधिकारी या पोलिटिकल एजेन्ट का दौरा होता है, तब किसानों से चंदा वसूल किया जाता है । 'रियासत का दीवान' में ''पुलिस गाँव-गाँव चन्दा उगाहती फिरती थी । रकम दीवान साहब नियत करते थे । वसूल करना पुलिस का काम था । फरियाद की कहीं सुनवाई न थी । चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी ।''[34] नजराना, शगुन, जुर्माना, दस्तूरी, चंदा के अलावा भी किसानों से नकद रकम लेने के और भी तरीके हैं । गाँव की सम्पूर्ण जमीन का मालिक जमींदार होता है । अतः द्वार पर खूँटा गाड़ने के लिए भी नजराना देना पड़ेगा । छप्पर डालने पर भी नजराना देना है । गाँव के तालाब से मिट्टी खोदने पर भी कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा ।

इस सीधे शोषण के अलावा कुछ अन्य रूप हैं जिनसे किसानों का शोषण होता है । बेगार इनमें से मुख्य है । प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसी जमीन होती है, जिसे 'सीर' कहा जाता है । उस जमीन की सम्पूर्ण उपज जमींदार की होती है, लेकिन उसमें उत्पादन का सारा कार्य बेगार से करवाया जाता है । जमींदार के प्रशासनिक, सामाजिक या धार्मिक - प्रत्येक काम के लिए वह किसी भी व्यक्ति को बेगार में पकड़ सकता है । 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह के राजतिलक के अवसर पर हजारों लोगों को बेगार करने के लिए बाध्य कर दिया गया । जमींदार के घोड़ों के लिए घास बेगार में आती है (उपदेश), उनकी डाक लाने से लेकर

का काम भी बेगार में होता है ('उपदेश', 'प्रेमाश्रम') । नाई और कहार का काम तो बेगार करना ही है । 'प्रेमाश्रम' में बेगार के भय से कहार गाँव छोड़कर चले गये । नाई जमींदार की मालिश करता है (नशा), पैर दबाता है, बिस्तर बिछाता है, कहार पैर धोता है आदि । रामलीला का अवसर हो (गोदान) या धार्मिक उत्सव (प्रेमाश्रम), या राजतिलक (कायाकल्प) या पोलिटिकल एजेन्ट का स्वागत (रियासत का दीवान) प्रत्येक अवसर पर बेगार लेना जमींदार का एक बन गया सा लगता है । यहाँ तक कि कुछ ऐसे लोगों से भी बेगार ली जाती है, जो सिर्फ गाँव में निवास करते हैं । 'विध्वंस' की बुढ़िया गोंडिन से इसीलिए बेगार ली जाती है कि वह जमींदार के गाँव में रहती है । यह बात है सदियों जीती थी । '' वह पंडितजी के गाँव में रहती थी, इसलिए उन्हें उससे सभी प्रकार की बेगार लेने का पूरा अधिकार था ।''[35] और इस बेगार के बदले उसे खाना भी नहीं मिलता था अतः जिस दिन उसे बेगार करनी पड़ती थी, उस दिन उसे भूखे ही रहना पड़ता था । 'कायाकल्प' में भी बेगार करने वाले चमारों ने जब खाना माँगा तो उन्हें शारीरिक यातना सहनी पड़ी । 'गोदान' के रायसाहब भी बेगारों को खाना (तक) देने के पक्ष में नहीं थे । प्रेमचंद ने बेगार को जमींदार के अत्यंत सहज, साधारण और परंपरागत अधिकार के रूप में चित्रित किया है । जहाँ भी प्रेमचंद जमींदारों को उपस्थित करते हैं, वहाँ बेगार का वर्णन अवश्य करते हैं । बेगार के बिना जमींदार जमींदार ही नहीं लगता, चाहे वह व्यक्ति कितना ही छोटा जमींदार क्यों न हो ।

'प्रेमाश्रम' में जमींदार के शोषण का एक और रूप भी चित्रित किया गया है । एक तो जमींदार किसानों से कुछ खरीदता नहीं, उसे मुफ्त में लेना अपना अधिकार समझता है । खरीदा गोंस सौ गाँव में जाकर दस सेर दूध की माँग करता है । उसके रुपये देने के बारे में न तो वह सोचता है और न किसान सोचते हैं, देना तो उसके बाद की बात है । यदि कभी किसी वस्तु के रुपये देने ही पड़े, तो वह बाजार भाव से बहुत कम रुपये देता है ।

और अगर किसान के पास वह वस्तु नहीं है, तो वह बाजार से अधिक मूल्य देकर खरीदता है और तब जमींदार को जमींदार द्वारा नियत मूल्य में देता है। लाला जटाशंकर की बारी के अवसर पर घी देना है। बाजार भाव दस रुपये है, जबकि जमींदार रुपये का सेर घी लेगा। चाहे घी दो या न दो नियत राशि का घी लाकर जमींदार को देना ही पड़ेगा क्योंकि 'जमींदार के सेत जीतते हैं। चपरासी बड़ी सरलता से कहता है, '' जो चाहे करो, पर सरकार का हुक्म तो मानना ही पड़ेगा। लालगंज में 30/- रुपये दे आया हूँ। वहाँ गाँव में एक भैंस भी नहीं है। लोग बाजार से घी लेकर देंगे। पड़ाव में 20/- रुपये दिये हैं। वहाँ भी जानते हो किसी के पैसे नहीं है।''[36]

जमींदार के शोषण के ये वे रूप हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जमींदार सृजन करता है। ये सारा धन जमींदारों की जेब में जाता है। अन्य लोग उसमें शरीक नहीं होते। लेकिन इस जमींदारी व्यवस्था में, जमींदारी व्यवस्था को चलाने वाले कुछ और लोग भी होते हैं, जिनका किसानों के शोषण में हाथ रहता है।

कारिंदा, मुख्तार, चपरासी :

प्रेमचंद एक जागरूक और यथार्थवादी रचनाकार रहे हैं। इसलिए जमींदारी व्यवस्था की आलोचना करते हुए उन्होंने सिर्फ जमींदारों की ही आलोचना नहीं की, बल्कि इस व्यवस्था के भागीदारों, प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति की भूमिका को रेखांकित किया। राजनीतिज्ञों ने जहाँ जमींदारों की आलोचना तक ही अपने को सीमित रखा, वहाँ प्रेमचंद ने किसानों के शोषण के लिए कारिंदा, मुख्तार और यहाँ तक कि चपरासी को भी जिम्मेदार ठहराया। प्रेमचंद मानते हैं कि कारिंदा ही 'वास्तविक' जमींदार होता है। जमींदार कारिंदों की नजर से ही गाँव की प्रत्येक समस्या को देखता है और किसानों के बारे में अपनी दृष्टि तय करता है। उत्तरी भारत में इन पदों पर ब्राह्मण, कायस्थ, बनिया आदि

उच्च जातियों के लोग ही रहे हैं । चपरासी, पहरेदार, सेना जैसे पदों पर तथाकथित नीची जातियों के लोग भी पहुँच गये हैं । लेकिन उनके रीति और व्यवहार में उनकी जातियाँ आड़े नहीं आती । उपन्यास की नायिका के रूप में व्यंग्य का पात्र बनाती हुई गायिनी उसकी सामाजिक स्थिति को रेखांकित करती हुई कहती है — '' क्या करूँ, मेरी पुरखों ने भी बिना खेत की खेती, बिना रुपये की जमींदारी, बिना धन की महाजनी प्रथा निकाली होती, तो मैं भी आपकी ही तरह चैन करती ।''[37]

जमींदारी व्यवस्था में लोभी और स्वार्थी लोग जमींदारों के यहाँ ही नौकरी करना चाहते हैं । ''यथार्थ में रियासत की नौकरी सुख-सम्पत्ति का घर है । रहने के लिए सुंदर बँगला है, जिसमें बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था । सैकड़ों बीघे की सीर, कई नौकर-चाकर, कितने ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुन्दर टमटम, सुख ठाट-बाट के सारे सामान उपस्थित ।''[38] उसके अलावा जमींदार की तरह कारिंदा भी किसी से, कभी भी, किसी काम के लिए बेगार ले सकता है और लेता है । ''उसी से और कहीं की 30 रुपये की नौकरी छोड़कर भी जमींदारी की कारिंदगिरी लोग 8 रुपये, 10 रुपये में स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि 8 रुपये, 10 रुपये का कारिंदा साल में 800 रुपये, 100 रुपये से ऊपर कमाता है ।''[39] 'उपदेश' का जाबुलाल स्पष्ट कहता है कि '' जो किसान उनकी (कारिंदों की —रा0) मुट्ठी गरम करते हैं, उन्हें मालिक के सामने सीधा और जो कुछ नहीं देते, उन्हें बदमाश और सरकश बतलाते हैं । किसानों से बात-बात के लिए घूसते हैं, किसान धान दबाना चाहे तो उन्हें दे, दरवाजे पर एक खूँटा तक गाड़ना चाहे तो उन्हें पूजे, एक छप्पर उठाने के लिए दस रुपये जमींदार को नजराना दे तो दो रुपये मुंशीजी को जरूर ही देने होंगे । कारिंदे को घी-दूध मुफ्त मिलेगा, कहीं-कहीं तो गेहूँ-चावल तक मुफ्त में उन्हें जाते हैं । जमींदार तो किसानों को चूसते ही हैं, कारिंदे भी कम नहीं चूसते ।

जमींदार तीन पाव के भाव में रुपये का सेर भर घी ले, तो मुंशीजी को अपने घर अपने सम्बन्धियों के लिए डालडा चाहिए ही । तनिक - तनिक सी बात के लिए डांट और जुर्माना देते-देते किसानों की नाक में दम हो जाता है ।''[40] होरी धनिया को समझाते हुए भी लगभग इसी तरह की बातें करता है ।[41]

लखनपुर (प्रेमाश्रम) में जोरदार गौस खाँ का निरंकुश शासन है । मनोहर जमींदार को रुपये सेर घी देने से इन्कार कर देता है । गौस खाँ को लगता है कि उसका आतंक कुछ कम हो गया है । वह ज्ञानशंकर से जब मनोहर की शिकायत करता है तो सिर्फ यही घटना नहीं बताता, बल्कि उस घटना को पुनः सृजित करके कहता है, '' हुजूर, कुछ न पूछिए, गिरधर महाराज भाग न खड़े हों तो उनके जान की खैरियत नहीं थी ।''[42] ज्ञानशंकर के अन्यधिक क्रोध में गौस खाँ की इन उक्तियों की भूमिका भी कम नहीं थी । गौस की हत्या के बाद पेजू और कर्तार भी कम अत्याचार नहीं करते ।

प्रत्येक जोरदार में स्वभावतः जमींदार बनने की आकांक्षा रहती है। जमींदार बनने की यह आकांक्षा उनमें विश्वासघात, धोखा धड़ी, स्वार्थपरता, नीचता आदि दुर्गुणों को पैदा करती है । उन्हें स्वामिभक्ति और ईमानदारी की शिक्षा भी दी जाती है । अतः उसके हृदय में अन्तरिक संघर्ष होता रहता है । वह कभी स्वामिभक्ति से प्रेरित होता है और कभी स्वार्थ से संचालित होता है । अंत में किसी एक प्रवृत्ति की विजय हो जाती है और अक्सर स्वार्थ की विजय होती है। चूंकि सभी जोरदार जमींदार बनना चाहते हैं, अतः उनमें आपस में ईर्ष्या - द्वेष और वैमनस्य की भावना रहती है । कुछ चतुर-चालाक लोग मालिक के प्रति वफादारी का बाना पहनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं । 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर ने यही तरीका अपनाया था । ऐसे नौकरों के खिलाफ सभी एकजुट हो जाते हैं । और यदि ऐसे जोरदार पर विपत्ति आती है तो सभी दानव जैसे

है । 'ईश्वरीय न्याय' के सत्यनारायण के प्रति उनके सहकर्मियों का यही व्यवहार रहा है ।

अक्सर जमींदार यह जान लेता है कि कारिंदे उनके साथ विश्वासघात कर रहे हैं । 'विप्लव' के जमींदार इसलिए स्वयं सारी काम-काज करते हैं । लेकिन जानते-समझते हुए भी गायिनी सुद काम नहीं कर सकती । वह उन पर निर्भर होने के लिए बाध्य है । वह देखती है कि ''उसके इलाके में सर्वत्र लूट मची हुई थी, कारिंदे असामियों को नोचे खाते थे । सोचती, क्या इन सब मुख्तारों और कारिंदों को जवाब दे दूं ? मगर काम कौन करेगा ? और यही क्या मालूम है कि इनकी जगह जो नये लोग आयेंगे, वे इनसे ज्यादा मेहनीयत लेंगे।'' [43] 'कायाकल्प' में प्रेमचंद ने यह दिखाया है कि अगर कोई जमींदार सेवाभावी और परोपकारी हो, जो किसानों को कष्ट न भी देना चाहे, तब भी सारी व्यवस्था ऐसी है कि वह किसानों की कोई मदद नहीं कर सकता । 'कायाकल्प' के राजा विशालसिंह में भी आदर्शवादी आकांक्षाएँ थीं, लेकिन प्रजा पर उतने ही अत्याचार हुए (बल्कि ज्यादा हुए) जितने किसी भी अन्य जमींदार के अधीन होते ।

जमींदारी प्रथा के इन संचालकों और व्यवस्थापकों का चित्रण करके अप्रत्यक्ष रूप से प्रेमचंद ने दिखाया है कि जमींदारी उन्मूलन के बिना किसानों की गिड़गिड़ाना सरासर पुलाव है क्योंकि ''यह संबंध ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारों को अभिमानी, निर्दय और निरंकुश बना देता है।'' [44] अतएव प्रश्न मात्र किसी जमींदार के ईमानदार, दयालु या परोपकारी होने का नहीं है, और न किसी जमींदार विशेष के निरंकुश, अत्याचारी या धूर्त होने का है ; प्रश्न उन परिस्थितियों और उन सामाजिक संबंधों का है, जिनसे छुटकारा ही किसानों का भला हो सकता है । प्रेमचंद ने जमींदार के नौकरों के अत्याचारों का वर्णन इस दृष्टि से किया है जैसे ये अत्याचार जमींदारी के अन्दर ही अवांछित हैं । उन्हें दूर किया जा सकता है या करना चाहिए ।

महाजन और किसान का शोषण :

महाजनी द्वारा किसानों का शोषण, शोषण का सामंती रूप है। उपनिवेशवादी युग में भारत में यह धन्धा खूब फूला-फला। उत्तरी भारत में उस समय में शायद ही कोई किसान बचा हो, जिस पर कर्ज न हो। जिनके पास कुछ रुपये एकट्ठे हो गये, वही महाजन बन बैठता है, क्योंकि उद्योग धंधों के विकास की संभावनाओं को प्रयत्न पूर्वक अंग्रेजों ने रोक रखा था। फिर ब्याज की दर 25 रुपये सैकड़ा थी। '' उस पर नजराने की रकम अलग, सिंचाई अलग, दलाली अलग, अदालत का खर्च अलग। ये सब रकमें भी किसी न किसी तरह महाजन की जेब में जाती थी। यही कारण है कि यहाँ लेन-देन का धंधा इतनी तरक्की पर है। वकील, डाक्टर, सरकारी कर्मचारी, जमींदार, कोई भी जिसके पास कुछ फालतू धन हो, यह व्यवसाय कर सकता है।''[45] स्वयं होरी ने भी कुछ दिन महाजनी की थी। शहर में जाकर गोबर ने भी कुछ दिनों तक थोड़े-बहुत रुपये उधार देकर ब्याज कमाया था।

महाजनी के शोषण के भीषण रूपकों का अनुभव करते हुए प्रेमचंद ने इसे 'महाजनी युग' का भी नाम दिया है। 'गोदान' में उन्होंने उनके शोषण के तरीकों को चित्रित किया है। प्रेमचंद ने महाजनों के चरित्र को उपस्थित किया है। उनके चरित्र की कुछ मूलभूत विशेषताएँ होती है। एक तो ये बला के कंजूस होते हैं। 'तगादा' के महाजन की मनोवृत्ति का चित्रण प्रेमचंद ने यूँ किया है — '' सबने का बाप तगादा है। इसी सिद्धांत के वह अनन्य भक्त थे। जलपान के बाद संध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे असामियों के यहाँ दूध, पूरी, मिठाई आदि पदार्थ सभी को मिल जाते थे। एक बजे को भोजन बन जाना कोई साधारण बात नहीं है। एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद में उन्होंने अपने तीस वर्षों के महाजनी जीवन में कोई आठ सौ रुपये बचा लिए थे।

फिर लौटते समय दूसरी बेला के लिए भी दूध, दही, तेल, तरकारी, उपले-ईंधन मिल जाते थे। बहुधा सन्ध्या का भोजन भी न करना पड़ता था।''[46]

'बेटी का धन' में मणाजन की तस्वीर यों उतारी गयी है, '' नगदू साहू धोंगे की कमनी की एक मोटी रेनक लगाए बही खाता फैलाए पूजा पी रहे थे, और दीपक के धुंधले प्रकाश में उन अक्षरों को पढ़ने की व्यर्थ चेष्टा में लीन थे, जिनमें स्याही की किफायत की गई थी। बार-बार रेनक को साफ करते और आँख मलते, पर चिराग की बत्ती उकसाना या बाती बत्ती लगाना शायद इसलिए उचित नहीं समझते थे कि तेल का अपव्यय होगा।''[47]

उनके साहित्य का प्रत्येक मणाजन इसी सीमा तक बंधा होता है। ब्याज की एक पाई भी उससे छुड़वाना असंभव है। यूँ उसे 'कंजूस' भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सामाजिक नैतिकता और धार्मिक मामलों में वह पर्याप्त उदार होता है। उसके जीवन के भी कुछ सिद्धान्त होते हैं। ये 'धार्मिकता' और 'सिद्धान्तवादिता' उसके शोषण को छिपाने, उसे सभ्य बनाने के साधन हैं। नगदू साहू ने चौधरी की बेटी के गहने गिरवी नहीं रखे और बिना गिरवी रखे ही चौधरी को रुपये उधार दे दिये। 'तगादा' के सेठ गिरधारीलाल ने अनेक रुपयों की हानि सहकर भी मुसलमान युवती के हाथ से पान नहीं खाया और इस तरह अपने धर्म की रक्षा की। मणाजनी सेठ दान-पुण्य के मामले में पर्याप्त उदारता का परिचय देते हैं। उनके दान से कई धर्मशालाएँ और कई आश्रम चलते हैं। मणाजनों के कार्यों के विरोधी-से दिखने वाले इस रूप को प्रेमचंद ने गांधीजी से एक साथ दिखाया है, और उसकी एकता को चित्रित किया है।

उनकी धार्मिकता का मर्म उभरकर तब सामने आता है, जब कोई व्यक्ति उनके रुपये देने से इन्कार करता है। ऐसे संकट के समय यही धर्म मणाजनों के पक्ष में खड़ा हो जाता है। अगर कुसंस्कारी ब्राह्मण हुआ तो धर्म उसके लिए ब्राह्मण के समान उपयोगी साबित होता है। 'सवा सेर गेहूँ' में शंकर रुपये देने में आनाकानी करता है तो विप्रजी कहते हैं, ''..... यहाँ न दोगे,

भगवान के घर तो देगी ?''[48] इस धमकी के भय से शंकर सवा सेर गेहूँ के बदले 60/- रुपये देने के लिए तैयार हो गया । यही नहीं, जन्म भर गुलामी की ।

'गोदान' में पं० दातादीन के रुपयों का हिसाब करते हुए गोबर उन्हें 70/- रुपये देने के लिए तैयार हो जाता है । दातादीन कानून नहीं जानते । उन्होंने होरी की धार्मिक चेतना को उत्तेजित हुए कहा, '' सुनते हो होरी, गोबर का फैसला ? मैं अपने दो सौ रोड़े के सत्तर रुपए ले लूँ, नहीं अदालत करूँ । इस तरह का व्यवहार हुआ तो के दिन संसार चलेगा ? और तुम बैठे सुन रहे हो ; मगर यह समझ लो, मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे रुपए हजम करके तुम चैन न पाओगे । मैंने ये सत्तर रुपए भी छोड़े, अदालत भी न जाऊँगा, जाओ । मगर मैं ब्राह्मण हूँ, तो अपने पूरे दो सौ रुपए लेकर दिखा दूँगा । और तुम मेरी द्वार पर आवोगे और हाथ बाँधकर दोगे ।''[49] इस धमकी का आशातीत फल होता है और होरी रुपये देने के लिए तैयार हो जाता है । 'सद्गति' का दुखी चमार अपने अनुभव को यों बयान करता है कि ''... और सबके रुपये मारी जति है, बाह्मन के रुपये भला कोई मार तो ले । घर भर का सत्यानाश हो जाए, पर्वि गल-गल कर गिरने लगे ।''[50] प्रेमचंद ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि धर्म महाजनी शोषण का बड़ा भारी रक्षक है, इसी कारण प्रत्येक महाजन 'धर्म' की रक्षा में खड़ा मिलता है । पुनर्जन्म का संस्कार उसके लगाए का सबसे विश्वसनीय सहयोगी है ।

'गोदान' में किसानों के शोषण के लिए सूदखोरों को ही मुख्यरूप से जिम्मेदार ठहराया गया है । 'गोदान' में ''जमींदार तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग और मँगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग ।''[51] इनके अलावा '' सबसे बड़े महाजन थे सिंगारी सेठ । वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेण्ट थे । उनके नीचे कई आदमी और थे, जो गाँव-गाँव

के देहातों में धूम-धूमकर लेन-देन करते थे। उनके उपरान्त और भी कई छोटे-मोटे महाजन थे जो दो आने रुपये ब्याज पर बिना लिखापढ़ी के रुपए देते थे।"[52]

इन महाजनों के शोषण का आधार जमींदारी व्यवस्था में निहित है। किसानों का शोषण करने के लिए जमींदार कभी एजाफा लगान का दावा करता है, कभी बकाया लगान का दावा करता है। जमींदार ऐसे नाजुक समय पर किसानों से लगान माँगते हैं, जब उनके पास रुपये नहीं होते। ऐसे नाजुक समय में महाजन किसानों का हमदर्द व रक्षक बनकर खड़ा होता है। 'गोदान' में राय साहब से आसाढ़ में रुपये माँगे। किसान महाजनों के पास दौड़े। महाजनों ने 'दुआ' करते हुए मनमाने सूद पर रुपये दिये। किसानों पर जब भी जमींदार आर्थिक चोट करता है, तब ही महाजन रक्षक (?) के रूप में दिखायी देता है और "कर्ज वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"[53] महाजन शोषण करता है और साथ में एहसान भी जताता है। अगर महाजन रुपये न दे, तो किसान बेदखल कर दिया जाता है। 'पैंटी का धन' के महाजन से लगाकर 'गोदान' के दातादीन तक सभी एहसान जताते हुए आते हैं। थानेदार को रिश्वत देने के लिए सिंगारसिंह ने रुपये दिये; तब भी ऐसी रूप में। होरी के पास बैल नहीं है, दातादीन आता है और वह खेती करने का प्रस्ताव रखता है। खेत और मजूरी होरी करेगा, बीज और बैल दातादीन देंगे। फसल दोनों की आधी-आधी होगी। इस प्रस्ताव को रखने के लिए दातादीन किस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह द्रष्टव्य है। "मैं देखता हूँ तुम्हारे खेत कैसे परती रहेंगे? बस में तुम्हारी बोआई करा दूँगा। अभी खेत में चुरु तरी है। उपज दस दिन पीछे होगी, इसके सिवा और कोई बात नहीं। हमारा तुम्हारा आधा साझा रहेगा। इसमें न तुम्हें कोई टोटा है, न मुझे। मैंने आज बैठे-बैठे सोचा, तो चित्त बड़ा दुखी हुआ कि पुश्तैनी खेत परती रहे जाते हैं।" कितनी उदारता, कितनी ममता और अपनत्व से भरा हुआ अधिकार भाव इन शब्दों से व्यक्त होता हुआ प्रतीत होता है। जीवन की महत्वपूर्ण

घड़ियों में घड़ियाल के ऐसे असि महाजन ही बच सकता है ।

प्रेमचंद ने महाजनों के शोषण के तरीकों के साथ-साथ शोषण की मात्रा का भी चित्रण किया है । होली के पर्व का उपयोग करते हुए 'नमक' के माध्यम से रचनाकार ने महाजनी शोषण का पर्दाफाश किया । महाजन के पास एक किसान 10/- रुपये उधार लेने जाता है । महाजन उसे पाँच रुपये देता है और कहता है कि ये दस रुपये हैं, घर जाकर गिन लेना । किसान जब गिनता है तो महाजन बताता है —

'' 'एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं ?'
'हाँ, सरकार ।'
'एक तहरीर का ?'
'हाँ, सरकार ।'
'एक दागद का ?'
'हाँ, सरकार ।'
'एक दस्तूरी का ?'
'हाँ, सरकार ।'
'एक सूद का ?'
'हाँ, सरकार ।'
'पाँच नक्द, दस हुए कि नहीं ?''

आधी रकम पहले से ही महाजन हड़प जाता है, उसके बाद किसान के पास आधी (पाँच) रकम भी नहीं बचती । क्योंकि कुछ और रकमें भी पीती है । ऊपर का घूट देते हुए किसान कहता है — '' नहीं सरकार, एक रुपया पोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को । बाकी बचा एक, वह खेती क्रिया-कर्म के लिए ।''

दातादीन ने पोरी को 30/- रुपये दिये थे, जिसके ब्याज सहित 200/- रुपये हो गये । मंगरू ने पहले-पहले 50/- रुपये दिये थे । पाँच-छः साल

बाद तीन सौ रुपये वसूल होने पहुँचे । इसी तरह दुखरी, और सिंगुरी सिंह भी चार-पाँच गुना रुपया वसूल करते हैं । लाचार किसान रुपये अदा नहीं कर पाते, उनके खेत महाजनों के हाथ में जाते जाते हैं और खेत मजूरों की संख्या बढ़ती जाती है । 'सवा सेर गेहूँ' में प्रेमचंद ने दिखाया है कि बिरजी से शंकर ने सवा सेर गेहूँ लिया, बदले में उसने डेढ़गुनी अधिक दे दी । सात वर्ष बाद उसका सूद पाँच मन गेहूँ बना लिया ।'' लिखा लगाया तो गेहूँ का दाम 60/- रुपये हुए । 60/- रुपये का दस्तावेज लिखा गया । 3 रुपये सैकड़े सूद । साल भर में न देने पर सूद का दर सवा तीन रुपये सैकड़े, बारह आने का स्टाम्प, एक रुपया दस्तावेज की तहरीर शंकर की ओर से देनी पड़ी।"[55] साल भर शंकर ने मेहनत की और 60 रुपये जमा किये । फिर भी 15 रुपये ब्याज के बाकी रह गये । तीन वर्ष बाद 120 रुपये हो गये । उसके बदले में शंकर को बँधुआ मजूर बना लिया गया । शंकर की मजूरी नहीं और रुपयों का ब्याज नहीं । बीस वर्षों तक शंकर ने मजूरी की उसके बाद शंकर मर गया । 120 रुपये फिर भी बने रहे । बिरजी ने ''उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी। आज तक वह बिरजी के यहाँ काम करता है । उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने ।

पाठक ! इस वृत्तांत को कपोल-कल्पित न समझिए । यह सत्य घटना है । ऐसे शंकरों और ऐसे बिरजों से दुनिया खाली नहीं है ।''[56]

प्रेमचंद ने दिखाया है किसान खेतिहर मजदूर और बँधुआ मजदूर बनते जा रहे हैं । और यह उनके भाग्य का दोष नहीं है, बल्कि इस समाज-व्यवस्था में कुछ ऐसी सामाजिक शक्तियाँ हैं, जो उसके लिए जिम्मेदार हैं । ठाकुर और महाजन — कभी अलग-अलग और कभी मिलकर किसान को इस हालत में पहुँचा रहे हैं ।

धार्मिक शोषण :

भारतीय किसान प्रकृति से धर्म भीरु रहा है । ईश्वर की न्याय-प्रियता और दयालुता में उसका पक्का विश्वास होता है । प्रेमचंद ईश्वर के अस्तित्व

को नहीं मानते । फिर भी उन्होंने किसानों की इस धर्मभीरु प्रवृत्ति को उनका रूढ़िवाद कहकर उनकी हँसी नहीं उड़ायी है । हालांकि अपनी धर्मभीरुता के कारण ही वह लुटता है लेकिन इसी कारण अन्याय से उसे स्वाभाविक घृणा भी होती है । अन्यायी को दंड देने का कार्य ईश्वर का है और भाग्य पर भरोसा करके संतोष धारण कर लेता है । प्रेमचंद ने किसानों की इस प्रवृत्ति की आलोचना भी की है, फिर भी उनकी रचना का मुख्य बिन्दु उन लोगों की आलोचना करना रहा है जो किसान की इस प्रवृत्ति की आड़ में शोषण करते हैं ।

प्रेमचंद ने धर्म के शोषक रूप का चित्रण किया है । धर्म सिर्फ ईश्वर का एक रूप मात्र नहीं है, बल्कि उसका वास्तविक सामाजिक संदर्भ है । हिन्दू धर्म में ब्राह्मण का ब्राह्मणवाद अन्य जातियों का शोषण करता है । प्रेमचंद ने ब्राह्मण को सिर्फ किसान के शोषक के रूप में ही नहीं देखा है, बल्कि उनकी गणना उन्होंने राष्ट्रीय शोषकों में की है । इसलिए मध्यवर्गीय जीवन पर लिखी गयी रचनाओं में भी पंडितों के दुष्टेपन को व्यंग्य का पात्र बनाया गया है । प्रेमचंद ने जब उनकी मानव विरोधी भूमिका को व्यंग्य-व्यंग्य का आलंबन बनाया तो बहुत से ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने प्रेमचंद पर ब्राह्मण विरोधी होने का आरोप लगाया । लेकिन उनकी रचनाओं का वस्तुगत अध्ययन इस धारणा का खंडन करता है । उन्होंने कई उज्ज्वल और गरिमामय ब्राह्मण पात्रों को उभारा है, सिर्फ शोषण करने वालों की निन्दा की है ।

'गोदान' के दातादीन पुरोहितगिरी की सार्थक व्याख्या करते हुए कहता है, " तुम जजमानी को भीख समझो, मैं तो उसे जमींदारी समझता हूँ, बेधर्म । जमींदारी मिट जाय, बैंक्यार टूट जाय, लेकिन जजमानी बराबर बनी रहेगी । जब तक हिन्दू जाति रहेगी, तब तक ब्राह्मण भी रहेंगे और जजमानी भी रहेगी । सबेरे मैं मजे से थर बैठे सौ - दो सौ पटका लेते हैं । कभी भाग लड़ गया तो चार-पाँच सौ मार लिया । कपड़े, बरतन, भोजन अलग । कहीं न कहीं नित्य ही बार-परोजन पड़ा ही रहता है । कुछ न मिले तब भी

एकदी बात और दोबार आने दक्षिणा मिल ही जाती है ।''[57]

गोदान में दातादीन पर व्यंग्य करते प्राध्यापकों के जजमानी शोषण की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है । '' तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, किस जजमान के द्वार पर जाकर पड़ी हो जाओ, कुछ न कुछ मार ही लाओगे । जनम में लो, मरन में लो, सादी में लो ; गमी में लो ; खेती करते हो, लेनदेन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूलचूक हो जाय, तो डांड लगाकर उसका घर लूटते हो । इतनी कमाई से पेट नहीं भरता?''[58]

ब्राह्मण भारतीय विज्ञान का परंपरागत शोषक है । सैकड़ों वर्षों से भारतीय समाज में ऐसी परंपराएँ चल रही हैं, जिसके कारण ब्राह्मणों का शोषण वैध बन गया है । विज्ञान इस शोषण को शोषण नहीं समझता और न पंडितजी ही इसे शोषण समझते हैं । प्रेमचंद ने इस परंपरागत शोषण को शोषण के रूप में दिखाया है । पंडे – पुजारियों का यह शोषण 'दान' के रूप में होता है । इसमें देने वाला लेने वाले पर कोई उपकार नहीं करता, बल्कि उल्टे लेने वाला दान लेकर देने वाले पर उपकार करता है ।

भारतीय जाति-व्यवस्था का आधार भी धार्मिक रहा है । जिसके अनुसार ब्राह्मण सर्व श्रेष्ठ होता है । उसको कष्ट देने से ज्यादा पाप लगता है । दुखी चमार भी मानता है कि '' और सबके रुपये मारे जाते हैं, ब्राह्मन के रुपये भला कोई मार तो ले । घर पर का सत्यानाश हो जाए, कीड़े गलगल कर गिरने लगे ।''[59] आधुनिक कानून के विरुद्ध अपने ब्राह्मणत्व की दातादीन भी लड़ा करता है । दातादीन ने होरी को तीस रुपये कर्ज दिये थे, दो साल मिलाकर दो सौ हो गये । गोबर जानबूझ देना चाहता है । दातादीन कहता है, ''सुनते हो होरी, गोबर का फैसला ? मैं अपने दो सौ छोड़के सत्तर रुपए ले लूँ, नहीं अदालत करूँ । पंच तरह का व्यवहार चला तो दो दिन तुम्हार चलेगा ? और तुम बैठे सुन रहे हो ; मगर याद समझ लो, मैं ब्राह्मण हूँ । मेरे रुपए हजम करके तुम चैन न पाओगे । मैंने ये सत्तर रुपये भी छोड़,

अदालत भी न जाऊँगा, जाओ । अगर मैं ब्राह्मण हूँ तो अपने पूरे दो सौ रुपए लेकर दिखा दूंगा । और तुम मेरे दुवार पर आओगी और पांव धोधकर पीओगी।"[60] इस धमकी का वांछित परिणाम निकलता है और चौरी दो सौ रुपये देने के लिए राजी हो जाता है । यह शोषण महाजनी शोषण है, लेकिन बिना ब्राह्मणत्व की ढाल के यह संभव नहीं था ।

'सवा सेर गेहूं' में शिवजी ने सवा सेर गेहूं के बदले में शंकर से सात साल बाद साठ मन गेहूं की मांग की । 60 रुपये का नक्द स्टाम्प लिखवाया गया और शंकर ने जब आनाकानी की, तो धर्म की आड़ लेकर, परलोक का भय दिखाया गया । 60 रुपये अदा करने के बाद भी ब्याज के 15 रुपये शंकर में रह गये, जो तीन साल बाद 120 रुपये हो गये । जिसके बदले 20 वर्ष तक (आजीवन) बेगुआ मजदूरी करनी पड़ी और उसकी मृत्यु के बाद उसका लड़का बेगुआ मजदूर बना । ब्राह्मणों का वैचारिक प्रभुत्व ऐसे लोगों में विद्रोह के भाव भी नहीं पनपने देता ।

धर्म की तरह बिरादरी भी विधान का शोषण करती है । बिरादरी का भय जहां एक तरफ सामाजिक जीवन को अनुशासनबद्ध रखता है, वहीं मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन भी करता है । 'गोदान' में गोबर और पुनिया के संबंध से बिरादरी को एतराज है । चौरी पुनिया को अपने यहां आश्रय दे देता है । बिरादरी के पंचों ने चौरी के इस कर्म पर डांड लगा दी । उसे सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज देना था । चौरी ने अपना घर गिरवी रखा और अनाज की सारी उपज भी दे दी । इस पर मार्मिक टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है : " बिरादरी का बड़ा था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा हो । जमींदार, साहूकार, सरकार, किसका इतना रोब था ? कल बाल-बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्राणी को सीधे रेती थी ; पर बिरादरी का भय मिशाच की भांति सिर पर सवार अंकुस दिये जा रहा था । बिरादरी से पृथक जीवन की वह कोई कल्पना भी न कर सकता था ।

शादी-ब्याह, मुंडन-छेदन, जन्म-मरण सब कुछ बिरादरी के साथ में है। बिरादरी उसके जीवन में वृत की भांति जड़ जमाए हुए थी और उसकी नसें उसके रोम रोम में बिंधी हुई थीं। बिरादरी से निकलकर उसका जीवन बिखुल से जायेगा— तार-तार हो जायेगा।''[61]

'सुन-सपेद' में पादरियों के साथ रह चुके पुत्र को मां-बाप बिरादरी के भय से अपने साथ नहीं रख सकते। 'पंच-परमेश्वर' में प्रेमचंद ने न्याय की जो आदर्श परिकल्पना की थी; 'गोदान' में आकर उसका रूप बदल जाता है। 'गोदान' में बिरादरी की पंचायत से पहले ही चार-पांच मुखिया मिलकर फैसला कर लेते हैं, जो पंचायत में घोषित होता है। होरी का यह कथन पंचायत का उपहास करता हुआ - सा लगता है — ''तू क्यों बोलती है धनिया। पंच में परमेसर रहते हैं। उनका जो न्याय है, वह सिर आंखों पर।''[62]

प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में किसान के शोषण को समुष्टि और सर्वात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने किसान के शोषकों को अलग - अलग रूप से बताते हुए भी उनके कृत्य को समुष्टि रूप में प्रस्तुत किया है। उनके शोषण के आधार अलग-अलग होते हैं। ब्राह्मण किसान की 'मिथ्या चेतना' के बल पर शोषण करता है, पुलिस वर्दी के बल से, कचहरी कानून की मदद से, बिरादरी सामुष्टिक दबाव से और जमींदार इन्हीं सबकी से शोषण करता है। 'गोदान' में एक स्थान पर किसान के प्रति सारे शोषक एक साथ एकत्रित हो जाते हैं। होरा ने चोरी की गाय को मारकर खिलाकर मार डाला। सारे गांव में हंगामा हुआ। रायसाहब का कारिंदा नोखेराम आया, पंडित दातादीन आये, महाजन झिंगुरीसिंह आये, सरकार के पटवारी पटेश्वरी भी आये। सभी ने अपने-अपने ढंग से प्रतिक्रियाएं की। पंडित दातादीन बोले —'' यह बात साबित हो गयी, तो उसे हत्या लगेगी। पुलिस कुछ करे या न करे, धरम तो बिना दण्ड दिये न रहेगा।''[63] इसके बाद पुलिस आयी। पंडितजी, कारिंदा, पटवारी आदि गांव के मुखिया की भूमिका निभाने लगे और थानेदार की रिश्वत दिलाने का

प्रबंध करने लगे । एकाएक सिंगुरीसिंह 'महाजन' बन गये और तीस रुपये उधार दिये । रुपया सिंह का आधा भाग थानेदार का और आधा मुखियों का तय हुआ। धनिया के पराक्रम से तीस रुपये दब गये । थानेदार ने मुखियों से रुपये वसूल किये ।

प्रेमचंद ने दिखाया है कि धर्म, महाजन और जमींदार एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं । ये तीन होते हुए भी एक ही सामन्ती शोषण के तीन रूप हैं । 'कर्मभूमि' के जमींदार पुजारी जी हैं, पंडित दातादीन महाजन भी हैं, खिजली भी महाजन है । गाँव में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न तीन ही मुखिया , महाजन, पंडित, कारिंदा, पटवारी जैसे सभी पदों पर होते हैं । इनमें से प्रत्येक आदमी एक से अधिक शोषक की भूमिका निभाता है । इस जटिल प्रक्रिया में शोषकों और शोषितों की अलग-अलग श्रेणियाँ बन गयी हैं । गाँव के सामाजिक जीवन में भी इनकी अलग ही पहचान या सत्ता है ।

प्रेमचंद ने शोषण की इस प्रक्रिया का चित्रण करते हुए किसी एक व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं ठहराया है, बल्कि शोषण के इस सम्पूर्ण तंत्र को ही इसके लिए उत्तरदायी बताया है । उन्होंने यह भी दिखाया है कि किसी भी कानून से इनकी रक्षा नहीं हो सकती । महाजन सिंगुरीसिंह कानून की औकात बताते हुए कहता है — ''कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है । कानून यही है कि महाजन किसी आसामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी काश्तकार के साथ सख्ती न करे ; मगर होता क्या है । वही जो हमेशा होता आया है । जमींदार मुश्क बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है । जो किसान पीड़ा है, उससे न जमींदार बोलता है, न महाजन । ऐसे आदमियों से हम मिल जाते हैं और उनकी मदद से दूसरे आदमियों की गर्दन दबाते हैं।... .... कचहरी – अदालत उसी के साथ है, जिसके पास पैसा है । हम लोगों को घबराने की कोई बात नहीं ।..[64]

किसानों में वर्ग चेतना :

यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि किसानों के इस शोषण के प्रति स्वयं किसानों की धारणा क्या है ? किसानों की वांछित चेतना और वास्तविक चेतना के बीच क्या संबंध है ? क्या प्रेमचंद के किसान पात्र अपने शोषण को शोषण के रूप में जानते हैं ? शोषण के खिलाफ किसानों के संघर्ष का स्तर क्या है ? यह वे पीछे लेखक और पात्र की चेतना से संबंधित सौंदर्यशास्त्रीय समस्या जुड़ी हुई है ।

प्रेमचंद ने यह दिखाया है कि किसानों के शोषण कर्त्ता बाहर समाज में ही नहीं हैं (समाज में तो हैं ही), बल्कि उसके आधार किसानों के 'व्यक्तित्व' में समा चुके हैं । उसके व्यक्तित्व में निहित 'मिथ्या चेतना' ही उसके शोषण का मुख्य कारण है । किसान को इस शोषण से मुक्त करने के लिये पहला कार्य उसकी इस 'मिथ्या चेतना' से मुक्ति दिलाना है, तभी वह अपने शोषकों को शोषकों के रूप में पहचानेगा । अभी तो वह उन्हें अपना परम हितैषी और उद्धारक मानता है । सम्पूर्ण गोदान में होरी को इस तथ्य का पता नहीं है कि उसकी बदहाली के लिए जिम्मेदार लोग कौन-कौन हैं । अपनी बदहाली को वह तकदीर का करतब मानकर संतोष कर लेता है । जब तक किसान अपने शोषकों को अपने दुश्मन के रूप में नहीं पहचानेगा, तब तक न तो वह उनके खिलाफ संघर्ष करेगा और न ही संघर्ष के लिए अन्य किसानों को संगठित ही करेगा । इस तरह वह प्रारंभिक कार्य के बिना उसके शोषण का कभी अंत नहीं होगा । अतः प्रेमचंद ने अपने साहित्य में किसानों में जागृति फैलाने और उनको संगठित करने की अनिवार्यता पर बल दिया है । इसलिए उन्होंने अपने सर्जनात्मक साहित्य के केन्द्र में किसानों के शोषण की उस भीषण प्रक्रिया का अनुभवगत चित्रण किया है, ताकि किसान अपने दोस्तों और दुश्मनों को सही तरह से पहचान सके ।

चूंकि किसानों को अपने शोषण की सुसंगत जानकारी नहीं है, अतः उनमें आपस में संगठन और एकता नहीं है । संगठन और एकता के अभाव में उनका मनमाना शोषण होता रहता है । 'प्रेमाश्रम' में कभी-कभी इस एकता का आभास होता है, लेकिन परीक्षा की नाजुक घड़ियों में यह एकता बिखर जाती है।

बाढ़, प्लेग आदि प्राकृतिक संकट के समय तो उनमें एकता होती है, लेकिन व्यापक रूप से सामंतवाद विरोधी संघर्ष की स्थायी एकता नहीं हो पाती । स्वाधीनता आन्दोलन के इस युग में राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने किसानों में जागृति पैदा करने का प्रयास किया था, प्रेमचंद ने सेवासदन, कर्मभूमि आदि उपन्यासों और कुछ कहानियों में इन प्रयासों का चित्रण किया है । इनमें राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों की चेतना और किसानों की परंपरागत चेतना में टकराव होता है । उस युग में दो तरह चेतनाओं के इस टकराहट का चित्रण प्रेमचंद ने किया है । लेकिन प्रेमचंद ने अपने साहित्य में किसान की पीढ़ियों का जितना गहराई से चित्रण किया है, उतना उनके संघर्षों का नहीं ।

ऐसा नहीं है कि किसानों को अपने शोषण का बिल्कुल ही ज्ञान नहीं है । किसान अपनी आपसी, अनौपचारिक बातचीत में उसका जिक्र करते हैं, नकल आदि के माध्यम से उस पर व्यंग्य भी करते हैं । लेकिन जैसे दवा की जा सकती है, वैसी सुसंगत चेतना उनमें नहीं होती । यही कारण है कि वर्ग के बुद्धिजीवियों की जरूरत पड़ती है, जो किसानों को संगठित करें ।

किसान अपने शोषण के बड़े भाग को वैध और परंपरानुमोदित मानता है । पंडित-पुजारियों द्वारा किये जा रहे शोषण को वह शोषण नहीं मानता, बल्कि जजमानी आदि देकर वह उपकृत होता है । 'सद्गति' का दुखी चमार पंडित जी के बेगार करते-करते मर जाता है, लेकिन उसमें एक क्षण के लिए भी पंडित जी के लिये घृणा या क्रोध का भाव नहीं आता, उल्टे वह पंडितों का गुणगान करता रहता है । पंडित जी जितना ही उसका अपमान करते हैं, उतना ही उसमें आत्मधिक्कार की मात्रा बढ़ती जाती है ।

ब्राह्मण जब महाजन के रूप में शोषण करता है, तब भी किसान अपनी धार्मिक चेतना से मजबूर हो जाता है और शोषण का विरोध नहीं कर पाता। 'सवा सेर गेहूं' के शंकर के मन में बिरजी के लोभ के प्रति हल्के से आश्चर्य, भय, क्रोध का भाव जागृत होता तो है, लेकिन परलोक भय से उसका क्रोध क्रियाशील नहीं हो पाता, सिर्फ पुंसलाहट में बदलकर रह जाता है । 'गोदान' के दातादीन से होरी भी इसी कारण दबता रहता है ।

महाजनी शोषण से किसान पीड़ित तो बहुत होता है, लेकिन यह अक्सर 'उपकार' के रूप में आता है । अक्सर जमींदार से लड़ने या अन्य किसी आकस्मिक और अनिवार्य खर्च के लिए वह महाजन की शरण में जाता है । लेते वक्त किसान को महाजन की बिरादरी करनी पड़ती है, और महाजन भी एहसान करता हुआ कर्जा देता है । इसलिए महाजनों के प्रति घृणा और प्रेम का मिश्रित भाव किसानों के मन में रहता है । प्रेमचंद ने इसका चित्रण किया है।

जमींदार और सरकार द्वारा किये गये अधिकांश शोषण को किसान कानूनी मानता है, अतः सिर झुकाकर स्वीकार करता है । लगान, बेगार आदि को वह उनका परंपरागत और वैधानिक अधिकार मानता है, इसलिए कभी उसका विरोध नहीं करता । किसानों ने अक्सर विद्रोह तब किया है जब शोषण की सीमा वैध और परंपरानुमोदित सीमा से बहुत आगे बढ़ जाती है । सामान्यतः किसान गम्भीर होता है । मनोहर द्वारा गौस की हत्या का तात्कालिक कारण किसानों का अपमान है । सरकारी कर्मचारियों द्वारा ली जाने वाली रिश्वत आदि का विरोध करता है । इसीलिए कारिंदा को गाली देते हुए किसान जमींदार का गुणगान करता रहता है । प्रेमचंद ने इस वैध शोषण को अवैध बताया है । 'गबन' में एक पात्र कहता है, '' वह लोग तो असामियों पर इसी दृष्टि से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है । असामी भी यही समझता है । अगर उसे सुझा दिया जाय कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे ।''[65]

प्रेमचंद का साहित्य इसी जनतांत्रिक बोध पर टिका हुआ है कि मनुष्य और मनुष्य बराबर है । एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण अवैध है, गलत है -- चाहे उसके समर्थन में कितने ही पवित्र सिद्धान्तों को खड़ा किया गया हो ।

—

टिप्पणियाँ

1- गोदान, पृ0 292

2- "And it is clear that in the colonial countries the peasants alone are revolutionary, for they have nothing to lose and every thing to gain", 'The Wretched of the Earth', pp. 47, by Frants Fanon, Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middlesex, England, 1976.

3- 'भारत : वर्तमान और भावी', पृ0 86-87, लेखक - रजनीपाम दत्त, अनुवाद - ओमप्रकाश गंगल, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, दूसरा हिन्दी संस्करण, 1976

4- विस्तार से देखिए 'Selected Works of Jawaharlal Nehru' Volume 5, 'Agrarian Unrest in U.P.', General Editor - S. Gopal, Orient Longman Ltd., New Delhi, 1973

5- कर्मभूमि, पृ0 117

6- मानसरोवर भाग -8, पृ070

7- मानसरोवर भाग -7, पृ0 143

8- मानसरोवर भाग -2, पृ0 168-169

9- कायाकल्प, पृ0 165

10- प्रेमाश्रम, पृ0 191

11- पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि '' If a case between a landlord and kisan comes up in the court, it is difficult for the kisan to win the case, no matter how just his case," 'Selected Works of Jawaharlal Nehru', Volume 5, 1972.

12- प्रेमाश्रम, पृ0 14-15

13- मानसरोवर, भाग-4, पृ0 199

14- ''बाबू ज्वालासिंह एक न्यायशील और दयालु मनुष्य थे, किन्तु इन दो-तीन महीनों के दौरे में उन्हें अनुभव हो गया था कि बिना कड़ाई के मैं सफलता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता।'' -प्रेमाश्रम, पृ0 64

15- प्रेमाश्रम, पृ0 54

16- वही, पृ0 50

17- मानसरोवर, भाग-8, पृ0 283

18- प्रेमाश्रम, पृ0 193

19- गोदान, पृ0 98

20- गोदान, पृ0 174

21- प्रेमाश्रम, पृ0 433 (संस्करण 1963)

22- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 157

23- गोदान, पृ0 7

24- भारत वर्तमान और भावी, पृ0 97

25- Selected Works of Jawaharlal Nehru, Volume 3, pp.376

26- 'Agrarian Unrest in North India', pp.45, by M.H.Siddiqi, Vikas Publishing House, New Delhi, 1978

27- "Another great difficulty is the practice of many zamindars not to give any receipts for the rent paid to them. This is illegal but is none the less a very prevalent practice and a peasant can do little against it." ' Selected Works of Jawaharlal Nehru; Volume 5, pp.78

28- गोदान, पृ0 187

29- प्रेमाश्रम, पृ0 262

30- प्रेमाश्रम, पृ0 69

31- ''... एक दर्जन नजिदार द्वार पर डटे पड़े रहते हैं । एक महाशय नति में मेरे मामू होते हैं, वे सुबह से शाम तक मछलियों का शिकार किया करते हैं । दूसरे महाशय मेरी फूफी के ससुर हैं, वे मेरे बचपन के समय से ही वहाँ रहते हैं । उनका काम मुफ्ते - भर की लिखों को घूरना और उनसे दिल्लगी करना है । एक तीसरे महाशय मेरी ननद के देवर हैं, रिश्वत के बाजार के दलाल हैं । एक काम है जो समय बचता है वह भंग पीने - पिलाने में लगाते हैं । इन लोगों में बड़ा भारी गुण यह है कि संतोषी हैं । आनंद से भोजन-वस्त्र मिलता जाय, इसके सिवा उन्हें कोई चिन्ता नहीं ।'' - प्रेमाश्रम, पृ000

32- कर्मभूमि, पृ० 288-289

33- कायाकल्प, पृ० 106

34- मानसरोवर, भाग-2, पृ० 168-169

35- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 187

36- प्रेमाश्रम, पृ० 8

37- प्रेमाश्रम, पृ० 145

38- मानसरोवर, भाग-6, पृ० 229

39- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 300

40- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 300

41- '' यह उसी सलामी की बरकत है, कि द्वार पर मड़ैया डाल ली और किसी ने कुछ नहीं कहा । धनी ने द्वार पर खूँटा गाड़ा था, जिस पर झारिन्दों ने दो रुपए साँठ से लिये थे । तलैया से कितनी मिट्टी उसने खोदी, झारिन्दों ने कुछ नहीं कहा । दूसरा खोदे तो नजर देनी पड़े ।'' गोदान, पृ० 16

42- प्रेमाश्रम, पृ० 20 यही नहीं, वह यह भी कहता है कि ''पुरुन मौसी आसामी है । यह सब जमींदार को कुछ नहीं समझते, उनमें एक ये नाम मनोहर है । बीस बीघे जोतता है और कुल 50 रुपये लगान देता है ।

आज उसी आसामी का किसी दूसरे असामी से बन्दोबस्त हो सकता तो 100 रुपये कहीं नहीं गये थे।'' — वही, पृ० 20

43- प्रेमाश्रम, पृ० 142

44- प्रेमाश्रम, पृ० 87

45- मानसरोवर, भाग-3, पृ० 173

46- मानसरोवर, भाग-4, पृ० 27

47- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 35-36

48- मानसरोवर, भाग-4, पृ० 190

49- गोदान, पृ० 184

50- मानसरोवर, भाग-4, पृ० 22

51- गोदान, पृ० 21

52- गोदान, पृ० 86

53- गोदान, पृ० 87

54- गोदान, पृ० 182

55- मानसरोवर, भाग-4, पृ० 191

56- वही, पृ० 195

57- गोदान, पृ० 206

58- गोदान, पृ० 177

59- मानसरोवर, भाग-4, पृ० 22

60- गोदान, पृ० 184

61- गोदान, पृ० 106-109

62- गोदान, पृ० 108

63- गोदान, पृ० 93

64- गोदान, पृ० 205

65- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 116

—

छठा अध्याय

प्रेमचंद के साहित्य में किसानों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन

प्रेमचंद ने भारतीय किसान जीवन के समग्र यथार्थ का चित्रण किया है। उन्होंने सिर्फ किसानों के आर्थिक शोषण का ही वर्णन नहीं किया है। अपने साहित्य में उन्होंने भारतीय किसान की एक बोधगम्य पहचान कायम करने का प्रयास किया है। किसान की इस बोधगम्य पहचान को उपस्थित करने के लिए उसे उन्होंने उसके सामाजिक संदर्भ में उपस्थित किया है। प्रेमचंद का किसान सिर्फ स्वाधीनता आन्दोलन में हिस्सा ही नहीं लेता, सिर्फ जमींदार, महाजन या नौकरशाही से संघर्ष करता और उनके जुल्म सहता हुआ ही दिखायी नहीं देता, बल्कि परिवार में, बिरादरी में, सहयोगियों के साथ व्यवहार करता हुआ भी हमारे सामने आता है। ऐसी स्थितियों में भी प्रेमचंद ने उसे उपस्थित किया है, जब वह जमींदार के आतंक से मुक्त होकर अपने अनुसार जीवन जीता है। जीवन के इस पक्ष को प्रेमचंद ने बड़ी सौंदर्यबोधीय तल्लीनता से चित्रित किया है। किसान के क्षणों में किसान का निर्मल जीवन किस मंथर गति से चलता है, इसे प्रेमचंद ने अनदेखा नहीं किया है। हालांकि प्रेमचंद मानते हैं कि ऐसे दुर्लभ क्षण किसान जीवन में बहुत ही कम आते हैं, फिर भी ऐसे क्षण का महत्व उसके जीवन में बहुत होता है।

प्रेमचंद की रचनाओं में उपनिवेशकालीन भारतीय किसानों का चित्रण है। उपनिवेशों में राज्य और समाज में अलगाव होता है। राज्य पर साम्राज्यवादियों का आधिपत्य रहता है और सामाजिक जीवन में सामंती शक्तियों का प्रभुत्व रहता है। राज्य और समाज के इस अलगाव के साथ ही संघर्ष भी होता है। जहां पर भी राज्य और समाज में टक्कर होती है, वहां पर राज्य की शक्तिशाली

सावित होता है । प्रेमचंद ने किसानों के सामाजिक जीवन का विश्लेषण करते हुए दिखाया है कि राज्य के अधिकारी सामाजिक जीवन में भी 'प्रतिष्ठा' और 'सम्मान' के अधिकारी होते हैं । 'प्रेमाश्रम' में झिंगुरी ज्वालासिंह जब गाँव का दौरा करते हैं, उस समय का वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने इसका पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किया है, '' उन्हें देखते ही स्त्रियाँ अपने अधर्मी बर्तन छोड़-छोड़ कर घरों में घुसीं । बालक-वृद्ध भी इधर-उधर दबक गये । कोई द्वार पर कूड़ा उठाने लगा, कोई रास्ते में पड़ी हुई खाट उठाने लगा । ज्वालासिंह गाँव का भ्रमण करते हुए सुक्खू चौधरी के कोल्हू आदि में आकर खड़े हो गये । सुक्खू चारपाई लेने दौड़े । गोंड़ों ने एक आदमी को कुरसी लाने के लिए चौपाल दौड़ाया । लोगों ने चारों ओर से आ-आकर ज्वालासिंह को घेर लिया । अमंगल के भय से सबके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं ।''[1] किसान जीवन में मिलने वाली प्रतिष्ठा में भी राज्य का हाथ महत्त्वपूर्ण होता है । गाँव-बिरादरी में तो न्यायप्रिय, परोपकारी और सज्जन व्यक्ति का सम्मान होता है । लेकिन जिसके पास पैसा होता है, इज्जत उसी की ज्यादा होती है । 'बलिदान' कहानी में प्रेमचंद ने लिखा है, ''जैसे हर गाँव के मौरूसी ठाकुर जब से कन्सटिबिल हो गए हैं, उनका नाम मंगलसिंह हो गया है । अब उन्हें कोई मौरूसी कहने का साहस नहीं कर सकता । वैसे ही जब से हलके के थानेदार से मित्रता कर ली है और गाँव का मुखिया हो गया है, उसका नाम कालिकादीन हो गया है । अब उसे कोई कल्लू कहे तो आँखें लाल-पीली करता है ।''[2] गाँव में प्रतिष्ठा के परम्परागत कारण भी मौजूद हैं — जैसे बड़े - बूढ़े को सम्मान दिया जाता है, साधु - प्रकृति के लोगों जैसे लोगों को भी सम्मान मिलता है, धनी किसानों का भी लोग आदर करते हैं, साथ ही राज-काज में सहायक व्यक्ति भी सम्मान के अधिकारी होते हैं । 'पैतृक धन' के सुक्खू चौधरी का गाँव में इतना सम्मान इसलिए भी है कि वह हाकिम-हुक्काम से बात कर लेता है । जबकि अन्य लोगों में इतना साहस नहीं है ।

'गोदान' में गाँव और बिरादरी के मुखिया जमींदार, पाकिम व थानेदार से मिले हुए हैं, निर्णायक क्षणों में कभी-कभी यह संबंध उजागर होता रहता है।

सरकारी कर्मचारियों से संबंधित व्यक्तियों के 'सम्मान' के पीछे भय और दबी हुई घृणा है, लेकिन ईमानदार व्यक्तियों को जो सम्मान मिलता है, उसमें परंपरागत श्रद्धा का भाव काम करता है। 'प्रेमाश्रम' के कादिर मियाँ इसी तरह का सम्मानित पात्र है। प्रेमशंकर के प्रति भी गाँव के लोगों के मन में मैत्रता की चेतना के साथ श्रद्धा का भाव है। किसानों के सामाजिक जीवन में इस सम्मान के भाव की बहुत बड़ी भूमिका होती है। इससे व्यक्ति में आत्मीय अधिकार का भाव आ जाता है, जिसके कारण वह किसी के व्यक्तिगत मामले में भी दखल दे सकता है। 'गोदान' में होरी जब धनिया को पीटता है, तो इसी अधिकार भाव से पंडित दातादीन होरी को डाँटते हैं। ऐसी आत्मीय डाँट का प्रतिकार नहीं किया जाता, इसलिए होरी भी प्रतिवाद नहीं करता। किसान जीवन में कोई भी मसला इतना व्यक्तिगत होता भी नहीं कि उसमें दूसरे लोग दखल न दे सकें।

किसान के सामाजिक जीवन में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की यह दखल अप्रत्यक्ष ही है। साथ ही प्रेमचंद ने यह भी दिखाया है कि स्वयं अंग्रेजों का किसानों से प्रत्यक्ष सामाजिक संबंध नहीं है। 'रंगभूमि' का मि० क्लार्क या 'दायाबस' का मि० जिम — किसी का किसानों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं है। वे जनता में घुलना-मिलना नहीं चाहते। शासक जाति का दंभ उन्हें मिलने नहीं देता। फिर भाषा की दीवार भी बीच में आती। किसानों का सामाजिक जीवन कई अर्थों में स्वायत्त है और सामंती शक्तियों के लिए चुनौती रहा है। प्रेमचंद ने किसान जीवन के सामाजिक पहलुओं का चित्रण करते हुए मूलतः उनमें निहित सामंती परंपराओं, प्रथाओं और मूल्यों की आलोचना की है और समता के आधार पर निर्मित सामाजिक संबंधों की वकालत की है। पारिवारिक संबंधों — जिनमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि शामिल हैं — में भी उन्होंने समान अधिकार पर बल दिया है और असमान संबंधों से उत्पन्न कुछ प्रसंगों को

आलोचनात्मक रूप में उपस्थित किया है ।

प्रेमचंद ने स्वतंत्र रूप से किसान जीवन के सांस्कृतिक पहलुओं को नहीं दिखाया है । किसान जीवन की सांस्कृतिक विरलता पर मुख्य दृष्टि उनकी नहीं रही है । उनके लिए सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का आर्थिक और राजनीतिक जीवन से गहरा संबंध है । प्रेमचंद ने इस संबंध को कहीं भी अनदेखा नहीं किया है, इस तरह किसान संस्कृति को स्वायत्त ढंग से प्रस्तुत नहीं किया है । फणीश्वर नाथ रेणु आदि आंचलिक उपन्यासकारों में किसानों की आंचलिक संस्कृति, लोकगीत, मुहावरों व लोकोक्तियों से भरी भाषा आदि के प्रति मुग्धता और लोकीयता का भाव मिलता है । रेणु में सांस्कृतिक जीवन प्रमुख रूप से उभरकर आता है । प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में समाज और संस्कृति को इतना महत्व नहीं दिया है । कहीं कहीं तो ऐसा भी लगता है कि प्रेमचंद ने किसानों की सांस्कृतिक विशिष्टता की उपेक्षा की है । 'गोदान' में होली का चित्रण करने पर भी प्रेमचंद ने 'नकल' के माध्यम से किसानों के शोषकों की खिल्ली उड़ाने में ज्यादा रुचि दिखायी है । होली की उमंग में भी उनके रचनाकार ने गाँव में वर्ग-संघर्षों पर दृष्टि जमाये रखी है और सामाजिक असमानता को रेखांकित किया है । त्योहार का बड़ा उत्साह उसी के घर होता है, जो धनी किसान है । 'गोदान' में प्रेमचंद ने बताया है कि बाजार होली की हुड़दंग नोखेराम आदि के घर भी होती है, इस बार 'विशिष्टता' (गोबर शहर से आया है) के कारण गोबर के घर भी रही है । इस तरह प्रेमचंद ने सांस्कृतिक जीवन के चित्रण का भी उपयोग किया है । वे कहीं भी, किसी भी दृश्य से अपने मुख्य नहीं हो जाते कि गाँव की आर्थिक - सामाजिक संरचना को भूल जाय ।

इसके अलावा प्रेमचंद ने किसानों को आंचलिक और स्थानीय रूप में कहीं भी उपस्थित नहीं किया है, बल्कि इस रूप में उपस्थित किया है कि यह किसान क्षेत्रीय विशिष्टताओं से ऊपर उठकर भारतीय किसान का प्रतिनिधि बन सके । उनकी रचना का प्रयास यही रहा है । इसलिए उनके किसान पात्रों में किसानों की विशेषीकृत सामाजिक स्थितियाँ नहीं है ; बल्कि जानबूझकर उन्होंने उन

विशेषीकृत बातों को एटा दिया है, ताकि पात्र टिपिकल बन सकें । 'पंच परमेश्वर' के गुम्मन शेख या जलगू चौधरी से लगाकर, गोरी मल्ती तक कोई भी ऐतिहासिक पात्र नहीं है, यहाँ तक कि उनकी जाति या धर्म की सीमाओं को भी प्रेमचंद ने तोड़कर रख दिया है । उन्होंने सामाजिक जीवन के उन्हीं पहलुओं को उठाया है, जो टिपिकल परिस्थितियाँ पैदा कर सकें ।

प्रेमचंद की रचनाओं के तात्कालिक पाठक शिक्षित मध्यवर्ग के रहे हैं । उनको किसान जीवन से परिचित करवाना रचना का प्राथमिक लक्ष्य भी रहा है । इसलिए उन्होंने किसानों को इस रूप में उपस्थित किया है, जिससे यह लगे कि किसान भी शिक्षित लोगों के समान ही मनुष्य है । उनमें भी घृणा, प्रेम, घृणा-द्वेष जैसे मानवीय भाव उसी तरह से हैं, जिस तरह शिक्षित लोगों में होते हैं । किसान कोई अजूबा नहीं है, कोई रहस्य नहीं है । इस तथ्य को उन्होंने रेखांकित किया है । दूसरे उन्होंने शिक्षित वर्ग के सापेक्ष किसानों की अलग पहचान भी कायम करने का प्रयास किया है । उन्होंने इस अति तक भी किसानों का चित्रण नहीं किया है कि किसान और मध्यवर्ग में तो कोई फर्क ही नहीं है । इसलिए जहाँ भी उन्होंने किसानों के विशिष्ट पक्ष को उठाया है, वहाँ उसकी तुलना मध्यवर्ग से की है । इसी द्वन्द्वात्मक रूप में प्रेमचंद के किसान पात्र हमारे सामने आते हैं ।

प्रेमचंद ने किसान के सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए उनके प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाया है न तो किसानों की सरलता की दुहाई दी है, न उनके शोषण पर भावुक आँसू ही बहाये हैं । उन्होंने अपनी जनतांत्रिक जीवन दृष्टि से किसानों की सामाजिक परंपराओं को उपस्थित किया है, उसमें निहित अमानवीय तत्त्वों की आलोचना की है और समतावादी संकेतों के लिए सुझाव दिये हैं ।

किसानों के अन्य वर्गों से सामाजिक संबंध :

प्रेमचंद किसान को समाज का आधारभूत और उत्पादक वर्ग मानते हैं । उनके लिए किसान की उन्नति ही देश की उन्नति है और किसान की पदावली

ही देश की बदहाली है । किसान का जीवन ही सारे देश के अन्य वर्गों के जीवन को निर्धारित करता है । उन्होंने अपने साहित्य में किसान को केन्द्र बनाकर सारे समाज का चित्रण किया है । प्रेमचंद ने भारतीय समाज में वर्गीय संबंधों को कई रूपों में चित्रित किया है । वर्गों में विभाजित समाज में वर्गों के बीच सिर्फ आर्थिक और राजनीतिक संबंध ही नहीं होते ; सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध भी होते हैं । किसानों के कुछ वर्गों से केवल आर्थिक संबंध है, लेकिन कुछ से आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक संबंध भी हैं । किसान संबंधों की इस जटिलता का निर्वाहता है । प्रेमचंद ने उसे भी बारीकी से चित्रित किया है ।

(क) जमींदार - किसान : प्रेमचंद ने दिखाया है कि एक वर्ग से दूसरे वर्ग के संबंध एकरूप और सुलझे हुए नहीं हैं, बल्कि कई स्तरों और रूपों में संबंधों की जटिल प्रक्रिया है । प्रेमचंद साहित्य में किसान और जमींदार के संबंधों का चित्रण सबसे अधिक हुआ है । जमींदार किसान का शोषण करता है, उसे अपनी आज्ञा मानने के लिए विभिन्न तरीकों से मजबूर करता है । यह उनका आर्थिक और राजनीतिक संबंध है । लेकिन उनमें सिर्फ यही संबंध नहीं है । 'गोदान' में प्रेमचंद ने दिखाया है कि रायसाहब एक दिन होरी को बैठाकर अपनी निजी पीड़ाओं को सुना रहे हैं । उस समय रायसाहब और होरी का संबंध अत्यंत आत्मीय और मानवीय लगता है । यह सही है कि इस आत्मीयता में रायसाहब का स्वार्थ छिपा हुआ है ; लेकिन इससे कम से कम यह तो प्रकट होता ही है कि रायसाहब और होरी के बीच संवेदनहीनता की स्थिति नहीं है । 'प्रेमाश्रम' में लाला प्रभाशंकर मनोहर और कादिर जैसे किसानों से उनके घरेलू जीवन के बारे में पूछताछ करते हैं और उनके सुख-दुख के प्रति मानवीय जिज्ञासा और सहानुभूति का भाव रखते हैं । गाँवों में रहने वाले छोटे जमींदारों और किसानों के बीच यह संबंध ज्यादा गहरा होता है, जबकि शहरों में रहने वाले बड़े जमींदारों और किसानों के बीच सीधा सम्पर्क कम ही

ही पाता है । प्रेमचंद ने यह भी दिखाया है कि जमींदार और किसान का यह सामाजिक संबंध अब टूट रहा है, और शोषण पर आधारित आर्थिक संबंध ही रह रहा है । नये जमींदार शानशंकर का किसानों के साथ वही संबंध नहीं है, जो पुराने जमींदार प्रभाशंकर का रहा है । दोनों के अन्तर के माध्यम से हम जमींदार - किसान के बदलते हुए रिश्तों को पहचान सकते हैं ।

वास्तव में यहाँ किसान और जमींदार के सामाजिक संबंध कुछ निश्चित परंपराओं पर आधारित रहे हैं । आसामी की लड़की की शादी के अवसर पर जमींदार लकड़ी आदि से सहायता करता था ।[3] भोज आदि अवसरों पर भी जमींदार किसान की मदद करता था । इसके बदले में किसान भी मालिक के यहाँ शादी- गमी के अवसरों पर शरीक होते और बेगार आदि के द्वारा उनकी सहायता करते । एक तरह से देखा जाय तो बेगार यहाँ आर्थिक शोषण का ही एक रूप नहीं रहा है, बल्कि इससे सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रेमाश्रम' का मनोहर नये जमींदारों की शिकायत करते हुए परंपरागत संबंधों को इसी तरह सामने रखता है ।[4]

प्रेमचंद ने दिखाया है कि जमींदार के यहाँ होने वाले प्रत्येक सामाजिक या सांस्कृतिक उत्सव में किसान हिस्सा लेते हैं । इस अवसर पर हालांकि किसानों का आर्थिक शोषण होता है । 'गोदान' में रायसाहब ने रामलीला का आयोजन किया और शगुन के रूप में आसामियों से रुपये वसूल किये । होरी को भी शगुन के 5/- रुपये देने की चिंता सताती है । 'कर्मभूमि' में जमींदार मदनगढ़ी हैं, अतः ठाकुर से संबंधित प्रत्येक अवसर पर असामियों को उपस्थित होना होता है ।[5] हालांकि प्रेमचंद ने इन संबंधों के आर्थिक परिणामों पर ही ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया है, लेकिन ऐसे अवसरों पर किसानों की उपस्थिति उनके सामाजिक संबंधों को भी रेखांकित करती है । पूंजीवादी समाज में मजदूर और मिल मालिक का जैसा निर्वैयक्तिक आर्थिक संबंध होता है, वैसा संबंध किसान और जमींदार

का नहीं है । किसान और जमींदार के बीच एक स्तर पर वैयक्तिक संबंध भावना भी होती है और इस अर्थ में यह पूंजीवादी संबंध नहीं है । उपनिवेशिक समाज का मूल तत्त्व इन संबंधों में भी मिलता है । यहाँ उनके संबंधों के वस्तु और रूप में जबर्दस्त अन्तर्विरोध है । वस्तु तत्त्व तो उनके बीच शुद्ध आर्थिक संबंधों को अभिव्यक्त करता है, लेकिन रूप परंपरागत सामाजिक संबंधों का आवरण बनाए रखने के लिए मजबूर है । इस अर्थ में यह शुद्ध सामंती संबंध भी नहीं है, जहाँ उभरकर आकर, एकेला ही किसान ऐसे उत्सवों में शिरकत होते हैं ।

प्रेमचंद ने यह दिखाया है कि जमींदार और किसान का सामाजिक संबंध भी असमानता पर आधारित है । इन संबंधों में 'जमींदार श्रेष्ठ है' की धारणा काम करती है । जमींदार के घर पर होने वाले प्रत्येक सामाजिक उत्सव में किसान शारीरिक रूप से उपस्थित होता है, लेकिन किसान के घर पर होने वाले उत्सव - त्योहारों में जमींदार कभी भी उपस्थित नहीं होता । प्रेमचंद ने ऐसी एक भी स्थिति का वर्णन नहीं किया है जहाँ सामाजिक उत्सवों में कोई जमींदार किसी किसान के घर गया हो । इसके अलावा जमींदार के घर पर भी किसान दूसरे दर्जे का मेहमान होता है । उसे घर का आदमी समझा जाकर बेगार ली जाती है और निचले वर्ग का समझकर बाहर बैठाया जाता है ।उसके लिए अलग से सस्ता खाना तैयार करवाया जाता है । इस तरह प्रेमचंद ने बार-बार रेखांकित किया है कि जमींदार और किसान का संबंध हर हालत में मालिक और सेवक का संबंध है, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इस संबंध की आलोचना की है ।

(ब) महाजन और किसान : जमींदारों के समान महाजन कोई सामाजिक वर्ग नहीं है । उसकी आर्थिक भूमिका और राजनीतिक प्रभाव तो होता है, लेकिन सामाजिक जीवन में उसकी विशिष्ट भूमिका नहीं होती । महाजन एक महाजन के रूप में किसी भी सामाजिक कार्य में भाग नहीं लेता । प्रेमचंद ने भी दिखाया

है कि किसानों से महाजनों का आर्थिक संबंध तो होता है, लेकिन सामाजिक संबंध नहीं होता । गाँव में रहने मात्र से जो एक भाईचारे का भाव जाग्रत हो जाता है, उसी के कारण वह गाँव के सामाजिक जीवन में हिस्सा लेता है, या कि महाजन और किसान एक ही जाति के हुए तो उस जातिगत संबंध के अनुरूप व्यवहार करता है । यही कारण है कि 'गोदान' में होरी (किसान) दुलारी सहुआइन (महाजन) से भौजी का संबंध जोड़कर मजाक कर लेता है । दातादीन को ब्राह्मण मानकर होरी उसे यजमानी देता रहता है । 'बेटी का धन' के महाजन जगदू साहु ने सुखू चौधरी की बेटी गंगाजली के गहने गिरवी नहीं रखे, क्योंकि गाँव के नाते से गंगाजली जैसी सुखू की बेटी है, वैसी ही जगदू की भी है । और "शास्त्र में बेटी के गाँव का पेड़ देखना मना है ।"[6] इस तरह किसान के सामाजिक जीवन में महाजन बिरादरी का सदस्य, कुटुम्ब का सदस्य या गाँव के आम निवासी के रूप में हिस्सा लेता है ; लेकिन महाजन के रूप में कभी हिस्सा नहीं लेता । अतः उनके सामाजिक संबंधों में वह असमानता नहीं पाई जाती जो जमींदार – किसान संबंधों में मिलती है ।

(ग) शहर से किसान का सामाजिक संबंध : प्रेमचंद ने दिखाया है कि शहर से किसानों का कोई सामाजिक संबंध नहीं है, बल्कि आर्थिक और व्यापारिक संबंध है । यह आर्थिक - व्यापारिक संबंध भी सीधा नहीं है, बल्कि बिचौलियों के माध्यम से है । 'पंच - परमेश्वर' में समझू साहु नामक बनिया शहर से माल लाकर गाँव में बेचता है । 'गोदान' में शक्कर मिल के एजेंट आकर किसानों की ऊख खरीदते हैं । इस तरह के पात्रों का चित्रण प्रेमचंद ने जगह-जगह किया है । गोबर शहर में मजदूरी करने जाता है । 'ईदगाह' में गाँव के लोग नमाज पढ़ने शहर की ईदगाह में जाते हैं । लेकिन गाँव वालों का यह हुजूम सड़कों पर अजनबी की तरह चला चलता है । वहाँ उनका संबंध

सिर्फ दुकानदारी से होता है, जहाँ से उन्हें पारिश्रमिक लेनी होती है। इसके अलावा 'प्रेमाश्रम' में कुछ राजकर्मचारी दौरे पर गाँव में आते हैं, जिन्हें किसानों की यातना ही मिलती है। लेकिन कहीं भी, किसी भी रूप में वह सामाजिक संबंध बनता हुआ नहीं दिखाया गया है, जिससे शहरी लोग किसानों के सुख-दुख में हिस्सा ले रहे हों।

(घ) बुद्धिजीवी और किसान : इस अर्थ में बुद्धिजीवियों ने कुछ काम जरूर किये हैं। प्रेमचंद ने बुद्धिजीवियों और किसानों के बनते हुए सामाजिक-राजनीतिक संबंधों का जगह-जगह चित्रण किया है। 'गोदान' में मेहता और मालती गाँव जाते हैं और एक दिन दोनों के यहाँ रुकते भी हैं। मेहता किसानों से होली के दिन में बातचीत करते हैं, मालती ग्रामीण स्त्रियों को स्वास्थ्य संबंधी कुछ निर्देश देती है। इसके अलावा प्रेमचंद साहित्य में ऐसे आदर्शवादी युवक सामाजिक कार्यकर्ताओं की भी कमी नहीं है, जो किसानों के बीच जाकर काम देते हैं, सामाजिक बुराईयों को दूर करने का प्रयास करते हैं और उन्हें राजनीतिक रूप से संगठित करते हैं। इन सब कामों के लिए वे कई-कई दिनों के लिए गाँव में जाकर रहते भी हैं। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर स्थायी रूप से लाजपुर में ही रहने लगते हैं। 'रंगभूमि' में विनय उदयपुर रियासत के गाँवों में काम करता है और एक वर्ष तक सोफिया के साथ भीलों के गाँव में रहता भी है। 'कायाकल्प' का चक्रधर सन्यासी बन कर गाँव - गाँव घूमता है और किसानों की सेवा करता है। 'कर्मभूमि' का अमरकांत चमारों के गाँव में कुछ दिनों के लिए रहता है, उनकी सामाजिक बुराईयों को दूर करने का प्रयास करता है, उनके बच्चों को पढ़ाता है और लगान-बन्दी आन्दोलन में किसानों का नेतृत्व करता है। किसानों के साथ यह समता के आधार पर सामाजिक संबंध बनाते हैं, लेकिन प्रेमचंद ने यह भी दिखाया है कि इनके संबंध समुचित नहीं हैं। ये संबंध आदर्शवाद और कर्त्तव्य भाव पर टिके हुए हैं। ऐसे सभी पात्रों का भावात्मक लगाव शहर के अपने अन्य

साथियों के साथ ही है । अतः ये शहर और गाँव के बीच घूमते रहते हैं । फिर भी लेखक की नजर में उनका यह आदर्शवादी प्रयास भी सराहनीय है । उनका वहाँ जाना और किसानों की स्थिति से परिचित होना, उन्हें संगठित करने का प्रयास करना सराहनीय है, भले ही वे उसमें पूर्ण सफल न हो पाये हों ।

प्रेमचंद ने यह भी दिखाया है कि स्वाधीनता - आन्दोलन के प्रभाव से, और बुद्धिजीवियों की भूमिका से गाँव में किसानों के आपसी सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आ रहा है । 'समर यात्रा' में चौधरी और नोखरी में फिर से आत्मीय संबंध हो जाते हैं । 'लाग डाँट' में लोधू भगत और देवन चौधरी की तीन पीढ़ियों की अदावत समाप्त हो गयी और उनमें मेल हो गया । इस तरह प्रेमचंद ने किसान और बुद्धिजीवी के इस संबंध को पर्याप्त महत्त्व दिया है ।

किसानों के आपसी संबंध :

प्रेमचंद ने दिखाया है कि किसानों के सामाजिक संबंध बहुत कम लोगों से है । इसके कई कारण है । एक तो किसान शारीरिक श्रम से राष्ट्रीय जीवन से अलग-थलग दूरस्थ गाँवों में रहते है, जहाँ यातायात और सम्प्रेषण के आधुनिक साधनों का अभाव है । रेल, बस आदि आवागमन के आधुनिक साधनों का दैनिक उपयोग प्रेमचंद के किसान नहीं करते । वे या तो पैदल चलते हैं, या फिर बैलगाड़ी से सफर करते हैं । प्रेमचंद की रचनाओं में किसी गाँव से कच्ची या रेल नहीं चलती, सिर्फ रंगभूमि में विनय की रेल यात्रा का संक्षिप्तसा वर्णन मिलता है । रेडियो, समाचार आदि सम्प्रेषण के आधुनिक साधनों से भी किसान परिचित नहीं है -- अतः विश्व के घटना-क्रम की जानकारी भी किसानों को नहीं मिलती । अतः उनका जीवन-विवेक प्रचलित प्रथाओं और अनुभवगत निरीक्षण से निर्मित होता है । 'प्रेमाश्रम' का बलराज जरा अखबार की बात करता है, जिसमें रूसी क्रांति की खबरें छपती है, लेकिन यह प्रतिनिधि किसान का प्रातिनिधिक अनुभव नहीं है ; बल्कि लेखक ने अपनी जानकारी का आरोपण पात्र (बलराज) पर कर दिया है । इसके अलावा प्रेमचंद के किसान निरक्षर है -- अतः उनकी

की विशाल दुनिया से किसान अपरिचित है । बाहरी दुनिया का ज्ञान उन्हें श्रुत-परंपरा से मिलता है, जो अधिकतर विकृत और अधूरा होता है । गाँव में शिक्षित व्यक्ति या तो सरकारी कर्मचारी होते हैं, या फिर पंडित और सूदखोर महाजन । किसान ठीक से हिसाब करना भी नहीं जानते और इस कारण भी उन्हें पटवारी और महाजन का शिकार होना पड़ता है । इन सब कारणों से किसानों की दुनिया की भौगोलिक और सामाजिक जानकारी बहुत सीमित होती है। उन्हें ज्यादा से ज्यादा अपने जिले की जानकारी होती है, जहाँ या तो उनकी रिश्तेदारी होती है या खेती और व्यापारिक लाभों के लिए नजदीक के बड़े कस्बे में जाना होता है । अक्सर किसान नजदीक के गाँवों में ही अपने बच्चों की शादियाँ करता है, ताकि आने जाने में अधिक असुविधा न हो । चूँकि राष्ट्रीय जीवन से किसान अलग-थलग रहते हैं, अतः राष्ट्रीय श्रमविभाजन की अन्तर्निर्भरता से भी प्रभावित नहीं होते । उपनिवेशी समाज में रहने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र का उन पर प्रभाव पड़ता है लेकिन वे इस ओर सजग नहीं हैं ।

भारतीय किसान के सामाजिक जीवन की अपनी लम्बी परंपरा रही है । भारतीय समाज व्यवस्था के इस परंपरागत स्वरूप और उपनिवेशी राज्य व्यवस्था के दबाव से उत्पन्न द्वन्द्व, तनाव और संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रेमचंद की रचनाओं में हुई है । प्रेमचंद ने किसान के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष के चित्रण में इस अन्तर्विरोध को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया है । उपनिवेशी व्यवस्था ने भारतीय समाज के परंपरागत ढाँचे को कई जगहों से तोड़ा है या तोड़ने का प्रयास किया है या व्यवस्था के दबाव से यह ढाँचा टूटा है । उनकी रचनाओं में इस टूटन की प्रक्रिया और परंपरागत समाज का इस टूटन के प्रति किया गया प्रतिरोध अभिव्यक्त हुआ है । प्रेमचंद ने उस व्यामवश को वाणी दी है, जब सामाजिक जीवन के परंपरागत मूल्य नाम मात्र के लिए बच रहे हैं और धीरे धीरे उपनिवेशी जीवन मूल्य उनका स्थान ले रहे हैं । इस तरह प्रेमचंद ने भारतीय किसान के सामाजिक जीवन को स्थिर रूप में चित्रित नहीं

किया है, बल्कि उसके संक्रमणकालीन गतिशील रूप को चित्रित किया है ।

किसान अपनी जीवन पद्धति के कारण परंपरागत रूप में ही जीवन जीना चाहता है । वह वही कार्य करना चाहता है, जो अब तक होता आया है। उसे किसी नये कार्य को करने में बाप-दादों का नाम डूब जाने का खतरा लगता है । इसी कारण किसान पुराणपंथी कहलाता है । लेकिन समकालीन समाज (प्रेमचंद कालीन) में उस पर आर्थिक दबाव इतने ज्यादा पड़ रहे हैं कि वह परंपराओं का पालन करने में अपने को असमर्थ पाता है, फलतः एक विशेष प्रकार का अपराध बोध और पराजय की चेतना उसके व्यक्तित्व का अंग बनती जाती है । होरी का चरित्र इस दृष्टि से दृष्टव्य है । गाँवों में एक परंपरा यह है कि पिता अपनी बेटी के घर जाकर खाना नहीं खाता, यहाँ तक कि जिस गाँव में लड़की की शादी हुई है, उस गाँव के कुएँ का पानी पीना भी पाप समझता है । इसके बावजूद आर्थिक दबावों से पीड़ित झुनू चौधरी (बेटी का धन) अपनी बेटी गंगाजली के गहने गिरवी रखने के लिए तैयार हो जाता है । होरी जीवन के अंतिम दिनों में आर्थिक दबाव-वश अपनी बेटी को बेच देता है और अधेड़ व्यक्ति से रुपये लेकर उससे रूपा की शादी कर देता है । आर्थिक दबाव और परंपरागत जीवन मूल्यों का संघर्ष होरी के जीवन में लगातार मिलता है । दो-चार रुपयों के लालच में होरी दमड़ी कसेरा से मिलकर सिलिया को बीस रुपये में बेचने के लिए राजी हो जाता है । लेकिन परंपरा का प्रवाह होरी में भी बहुत तेज है । होरा होरी की गाय को मारकर भाग जाता है । धनिया होरा को सजा दिलवाना चाहती है । थानेदार गाँव में तहकीकात करने आता है और होरा के घर की तलाशी लेना चाहता है । इससे होरी अपने घर को और इसलिए अपना अपमान महसूस करता है और तलाशी रुकवाने के लिए 30/- रुपये रिश्वत देने के लिए राजी हो जाता है । यही नहीं, होरा घर से भाग जाता है, तो उसकी पत्नी पुनिया की खेती भी होरी ही करता है ।

अंग्रेज भारत में आर्थिक शोषण के लिए राज्य करते थे । उनका उद्देश्य था — धन । धन का इतना मूल्य इसी उपनिवेशिक व्यवस्था की देन था । इसी धन ने भारतीय किसान के सामाजिक दर्जे में दरारें पैदा कर दी । प्रेमचंद ने समकालीन समाज में पैसे के बढ़ते हुए प्रभाव की आलोचना की है । उन्होंने जगह-जगह यह दिखाया है कि धन मनुष्य की मनुष्यता को खत्म कर रहा है, उसे हृदय शून्य और संवेदनहीन बना रहा है । धन प्रेमचंद के लिए क्रूरता का प्रतीक है । इसलिए उन्होंने गरीब, मूर्ख और असभ्य कही जाने वाली व्यक्तियों में निहित मानवीयता को उजागर किया है । उनकी रचनाओं में पशुवत जीवन व्यतीत करने वाली औरतें सभ्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक न्यायप्रिय रूप में उपस्थित हैं (ईश्वरीय न्याय) । छल-प्रपंच, धोखा-धड़ी, ईर्ष्या - द्वेष आदि सामाजिक जीवन की जो विकृतियाँ हैं, उनके मूल में कहीं न कहीं आर्थिक असमानता ही है । प्रेमचंद ने दिखाया है कि किसान के परंपरागत जीवन के टूटने का एक बड़ा कारण रुपये का बढ़ता हुआ मूल्य है, जो औपनिवेशिक व्यवस्था का प्रभाव है ।

जाति-व्यवस्था और भारतीय किसान :

प्रेमचंद की रचनाओं में किसान की धारणा सभी जगह समान नहीं है । उनकी रचनाओं में कई तरह के किसान हैं और इसी कारण उनके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी पर्याप्त भिन्नताएँ हैं । प्रेमचंद ने अपने पात्रों की व्यक्तिगत विशिष्टताओं को अधिक उभार कर प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि विभिन्न जाति के किसानों में पाई जाने वाली वर्गगत समानताओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है । उनके साहित्य में मोटे तौर पर तीन तरह के किसान मिलते हैं । पहले कुछ ऐसे किसान हैं, जो खुद खेती का काम नहीं करते । उनके पास ज्यादा जमीन जोतने का अधिकार होता है । ये बड़े किसान अधिकतर ऊँची मानी जाने वाली जातियों के होते हैं । पंडित दातादीन जैसे ब्राह्मण किसान इसी वर्ग में आते हैं । समाज पर इनका वैचारिक और आर्थिक प्रभुत्व रहता है । इनकी

रचनाओं में अधिक संख्या ऐसे किसानों की है, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार भी होता है और ये खुद खेती का काम भी करते हैं। 'प्रेमाश्रम' के मनोहर, कादिर आदि और 'गोदान' का होरी इसी वर्ग के किसान हैं। इनमें अधिकतर अहीर, गूजर, कुर्मी, जाट आदि जातियों के किसान शामिल हैं। सामान्यतः जब किसान कहा जाता है तब किसान का तात्पर्य इन्हीं लोगों से होता है। इनके अलावा कुछ ऐसे किसान भी प्रेमचंद की रचनाओं में हैं, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार नहीं होता, बल्कि दूसरों की जमीन पर मजदूरी करते हैं। अछूत समझी जाने वाली जातियों के किसान अधिकतर खेतिहर मजदूर ही हैं। 'रंगभूमि' के घीसू और माधव इसी श्रेणी के किसान हैं। भारत में (प्रेमचंद काल में) अछूत मानी जाने वाली जातियों के पास जमीन नहीं के बराबर होती है। भारत में जाति-व्यवस्था की अपनी सामाजिक और धार्मिक परंपराएँ हैं, जिनके अनुरूप उनके अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित हैं और उसका एक निश्चित विचारधारात्मक आधार है।

जीवनदृष्टि और विषय-वस्तु का अन्तर्विरोध इस दृष्टि से भी प्रेमचंद की रचनाओं में मिलता है। प्रेमचंद के किसान (जो तत्कालीन भारतीय किसान के पुनः सृजित प्रतिनिधि हैं) 'असमानता की परंपरागत संस्कृति'[7] के अनुरूप जीवन जीते हैं। वे इस असमानता को नैसर्गिक और ईश्वरप्रदत्त मानकर चलते हैं और इस प्रकार कभी उनके मन में इस असमानता से छुटकारा करने के भाव नहीं आते। जबकि स्वयं प्रेमचंद 'समानता की आधुनिक संस्कृति' के हिमायती थे। उन्होंने असमानता की परंपरागत संस्कृति को अपनी समानता की आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि से उपस्थित किया और उसकी आलोचना भी की। वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय बुद्धिजीवियों ने इस समानता के मापदंड से भारतीय समाज के प्रत्येक क्षेत्र का परीक्षण किया और जगह-जगह फैली हुई इस असमानता की धारणा पर आक्रमण किया और साथ ही इस संस्कृति के अनुसार जीवन जीने वाली में आत्मचेतना और आत्मालोचन के भाव भी जगाये। परंपरागत जीवन प्रणाली

के अनुसार जीवन जीने वाला प्रत्येक हिन्दू किसान ब्राह्मण को श्रेष्ठ मानता है। ब्राह्मण ज्ञानी और पवित्र होता है, उसे कष्ट देने से ज्यादा पाप लगता है, ब्राह्मण के पवित्र रुपये न चुकाने से परलोक बिगड़ता है, आदि-आदि धारणाएँ किसानों में प्रचलित हैं। इसी कारण दातादीन को अधिक रुपये देने के लिए होरी राजी हो जाता है, जबकि गोबर इन संस्कारों से मुक्त हो चुका है। 'सद्गति' का दुखी चमार अपनी जान देकर भी पंडित घासीराम से घृणा तक नहीं कर पाता। 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर इसी ब्राह्मण की श्रेष्ठता और पवित्रता से आतंकित होकर बँधुआ मजदूर हो जाता है। स्वयं दातादीन और चिरंजी भी इस तथ्य को जानते हैं और इसका अपने लिए ब्रह्मास्त्र के रूप में उपयोग करते रहते हैं। प्रेमचंद ने अछूतों की समस्या को आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से उपस्थित किया है। उन्होंने इस समस्या को इस रूप में चित्रित किया है जिससे ब्राह्मण और शूद्र के बीच की असमानता पर चोट पड़े।

ब्राह्मणों के बाद समाज में दूसरा स्थान क्षत्रियों का है, जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं। इनका काम समाज की रक्षा करना है। ये अधिकतर जमींदार होते हैं और परंपरा से 'राज्य' को भोगने वाला वर्ग है। इनके बाद वैश्य जातियाँ आती हैं, जो व्यापारिक और आर्थिक कर्म करती रहती हैं। हिन्दू समाज में निम्न जातियाँ अछूत मानी जाती हैं। इनका काम समाज की अन्य जातियों की सेवा करना है। ये सदियों तक खुद भी अपने को इसी काम के लिए नियुक्त मानते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन और समाज-सुधार आंदोलन के फलस्वरूप इनमें भी समानता की संस्कृति का उदय हो रहा है — इस ओर प्रेमचंद ने भी ध्यान दिया है। गांधी जी ने अछूतोद्धार का नारा देकर इसे राजनीतिक कार्य के समान महत्व दिया था। उस युग में बड़े पैमाने पर अछूतों के मंदिर प्रवेश की समस्या भी उठ खड़ी हुई थी। प्रेमचंद ने अछूतों के मंदिर प्रवेश की समस्या को अलग ढंग से उठाया है। प्रेमचंद धर्म को शोषण का एक केन्द्र मानते हैं, इसलिए अछूतों के मंदिर में प्रवेश को अपने ढंग में महत्वपूर्ण

नहीं है । उन्होंने अछूतों की इस दशा को मानवीय बताते हुए और सवर्णों की आलोचना करते हुए भी दोनों की 'मिश्रवृत्ति' की माना है । अछूतों के उद्धार के लिए प्रेमचंद समानता और सेवा भाव को आवश्यक मानते हैं । 'मंत्र' कहानी का एक अछूत पात्र अछूतोद्धार करने वालों पर व्यंग्य करता है, ''हम जितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं जो रात - दिन नशे में चूर रहते हैं, मांस के बिना और नहीं उठते ; और जितने ही ऐसे हैं, जो एक बार भी नहीं पढ़े हैं ; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता है । उनसे विवाह-संबंध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा । जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं ? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है । जाएं, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का परिष्कार कीजिए ।''[8] 'कर्मभूमि' का नायक अमर बहुत दिनों तक समानता के प्रति वांछित भाव से चमारों के गांव में रहता है और उनके बच्चों को पढ़ाता है । 'ठाकुर का कुआं' में दिखाया गया है कि ऐसे गांवों में चमारों को कुएं से पानी लेने की भी स्वतंत्रता नहीं है । 'मंदिर' जैसी कहानियों में अछूतों की समस्या को उपस्थित किया गया है ।

प्रेमचंद ने दिखाया है कि भारतीय किसान धर्म भीरु रहा है । भारतीय धर्म-व्यवस्था ने असमानता पर आधारित इस समाज-व्यवस्था को वैधता प्रदान किया है । मालिक और सेवक के बीच यहां सिर्फ आर्थिक - संबंध ही नहीं माना जाता, बल्कि धार्मिक संबंध भी माना जाता है । इसमें धर्म जुड़ा हुआ है । मालिक के हुक्म को न मानना धर्म विरोधी कार्य है । 'नशा' कहानी का एक पात्र जमींदार और किसान के संबंधों में निहित इस धार्मिक विचारधारा को स्पष्ट करते हुए कहता है, ''वह लोग तो असामियों पर इसी दृष्टि से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है । असामी भी यही समझता है । अगर उसे सुझा दिया जाए कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे ।''[9]

राजा और प्रजा, जमींदार और असामी के बीच की इस असमानता को धार्मिक कर्त्तव्य का रूप देकर उसे स्थायी बनाने का जो प्रयास यहाँ सदियों से किया जाता रहा है, उसे प्रेमचंद जैसे आधुनिक राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने चुनौती दी । इस तरह उन्होंने सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में भी जनतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने की वकालत की ।

उन्होंने समाज में चल रहे दुहरे मानदंड का भी विरोध किया । गोदान में दातादीन का लड़का मातादीन सिलिया चमारिन से अवैध संबंध बनाए हुए है । उसे कोई कुछ नहीं कहता, क्योंकि भोजन के मामले में वह सिलिया से भी छुआछूत रखता है । इसलिए उसका वह कर्म जायज है । इधर गोबर को झुनिया से प्रेम हो जाता है । इसके फलस्वरूप झुनिया गर्भवती हो जाती है । होरी और धनिया इस झुनिया को अपने घर में बहू के रूप में रख लेते हैं । निश्चय ही यदि होरी झुनिया को अपने यहाँ नहीं रखता तो झुनिया आत्महत्या कर लेती। होरी के इस मानवीय कर्म की सराहना करने के बदले दातादीन जैसे लोग ही मुखिया बनकर होरी को दंडित करते हैं । 'गोदान' का लेखक पूछता है — कि आखिर किस मानदंड से मातादीन को तो कुछ नहीं कहा जाता और होरी को दंड दिया जाता है । इसका कारण यह है कि समाज में ब्राह्मण मातादीन के लिए जो मानदंड है, वही समान मानदंड गोबर के लिए नहीं है । ऐसी अनेक असमानताओं पर प्रेमचंद ने अपने साहित्य में चोट की है ।

किसान समाज की संरचना :

परिवार : प्रेमचंद ने एक पारिवारिक व्यक्ति के रूप में किसान के सामाजिक - सांस्कृतिक जीवन का चित्रण किया है । मध्यवर्ग के लिए परिवार उपभोग का केन्द्र होता है, लेकिन किसान के लिए परिवार उत्पादन का केन्द्र भी होता है । किसान के पारिवारिक संबंध उत्पादन के संबंध भी होते हैं । उत्पादन कर्म में सारा परिवार एक साथ लगता है । इसलिए किसान बिना परिवार के नहीं

रह सकता । मध्यवर्गीय मेहता अविवाहित रह सकते हैं, लेकिन सोफी के अविवाहित जीवन की हम कल्पना ही नहीं कर सकते । वह स्वाभाविक और पारिवारिक जीवन जीना चाहता है ।

किसान अपनी चेतना से संयुक्त परिवार का पक्षपाती होता है । प्रेमचंद ने दिखाया है कि नयी व्यवस्था के दबाव से यह संयुक्त परिवार टूट रहा है और इस टूटते हुए संयुक्त परिवार को बचाने के लिए किसान सतत प्रयास कर रहा है । इसमें कभी वह सफल होता है और कभी असफल होता है । संयुक्त परिवार को बचाने के इस संघर्ष में किसान अपनी सामर्थ्य और इच्छा शक्ति के सहारे सफल होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से असफल होता है। संयुक्त परिवार के बिखर जाने के बाद भी किसान उन संबंधों की मानता और निबाहता रहता है । तात्पर्य यह है कि संयुक्त परिवार के विघटन के बाद भी चेतना के स्तर पर किसान संयुक्त परिवार में ही रहना चाहता है । इस तरह प्रेमचंद-साहित्य में भारतीय किसान के परिवार का वह संक्रमण काल अभिव्यक्त हुआ है, जब संयुक्त परिवार में विघटन तीव्र हो गया है । इस विघटनशील संयुक्त परिवार में सदस्यों के आपसी संबंधों के ताने-बाने, तनाव, अन्तःसंघर्ष, अन्तर्विरोध और टूटन की अभिव्यक्ति प्रेमचंद की रचनाओं में हुई है । उनके साहित्य में 'नये' परिवार के बन जाने का चित्रण भी है, लेकिन उनको सामाजिक और नैतिक विरोध का सामना करना पड़ रहा है । समाज उसे वांछित रूप में नहीं, बल्कि नियति के रूप में ही मानने के लिए मजबूर है । इस विशिष्ट ऐतिहासिक दौर में किसानों की पारिवारिक स्थिति का चित्रण प्रेमचंद साहित्य में मिलता है ।

प्रेमचंद ने परिवार का वर्णन करते हुए इस तथ्य को बड़े दर्द से रेखांकित किया है कि संयुक्त परिवार टूट रहा है । संयुक्त परिवार सिर्फ संस्था नहीं है, बल्कि मानवीय संबंधों की मानवीयता की स्थायी और ठोस अभिव्यक्ति है । परिवार टूटने के साथ ही यह मानवीयता भी टूट जाती है । इस टूटने के

हर्द की किसान पात होती है और अक्सर विघटन के दिन परिवार का मुखिया एक गम में खाना भी नहीं खा पाता ।[10] लेकिन प्रश्न यह है कि भारतीय किसान की परंपरागत चेतना का मूर्तिमान रूप — संयुक्त परिवार अब टूट क्यों रहा है ? प्रेमचंद और उनके किसान पात्रों के विचार क्या हैं ? यह जानना भी आवश्यक है ।

प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन से लगता है कि उन्होंने इसका कोई ठोस और तर्कसंगत जवाब नहीं दिया है । लगता है कि उन्होंने इस 'कारण' की ओर गंभीरता से ध्यान ही नहीं दिया है । इस समस्या के बारे में लेखक के विचार उसके पात्रों के विचारों से मिलते हैं । संयुक्त परिवार के समर्थन में एक तर्क तो यह दिया जाता है कि यह व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ है । 'सवासिन गेंदुं' में प्रेमचंद ने लिखा , ''..... शंकर किसान से मजूर हो गया । उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था । एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर मजूर हो गए थे । शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाए, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया ।''[11]

इसके टूटने के कारणों में सबसे प्रमुख नयी बहू की संकुचित दृष्टि को माना गया है । जब तक घर में कोई नया प्राणी (छोटे की बहू) नहीं आ जाता, तब तक पारिवारिक जीवन में सुख शांति रहती है ; लेकिन ज्यों ही बहू आती है, परिवार के सभी सदस्यों के आपसी संबंध बदल जाते हैं और आज्ञाकारी बेटा भी अनुशासनहीन होने लगता है । 'गोदान' का होरी भी सोचता है कि दोनों भाईयों की बहुएं आने से ही द्वेष की आग भड़की और अलगौझा हुआ । 'अलगौझा' कहानी में भी इस परिवार के विघटन की जिम्मेदार रग्घू की बहू मुलिया को ठहराया गया है । मुलिया सोचती है और कहती भी है कि 'मेरा सीधा चाली फाड़कर काम करो, और पन्ना रानी बनी बैठी रहे, उसके लड़के राजसदि बने भूमें । मुलिया से यह बर्दाश्त न होगा । वह किसी की गुलामी न करेगी । अपने लड़के तो अपने होते ही नहीं, भाई किसके होते हैं ।..'[12]

इसी तरह 'दो भाई' कहानी में भी संयुक्त परिवार के विघटन का कारण स्त्री की संकुचित दृष्टि को माना गया है। इसका कारण शायद यह रहा है कि संयुक्त परिवार में स्त्री पर सबसे ज्यादा अत्याचार होता है और इसीलिए वह भी उसे मौका मिलता है, वह बगावत कर बैठती है। इस तरह संयुक्त परिवार के विघटन के पीछे किसान-स्त्री पर हो रहे अत्याचार हैं।

इसके अलावा प्रेमचंद की कुछ रचनाओं में संयुक्त परिवार के विघटन के पीछे असमान श्रम विभाजन को भी दिखाया गया है। 'शंखनाद' में चौधरी भानुदत्त के घर में इसी असमानता के कारण तनाव होता है। उनके दो लड़के तो काम करते हैं, लेकिन एक लड़का – गुमान कुछ भी परिश्रम नहीं करता और 'छैला' बना हुआ घूमता रहता है। इस परिवार में विघटन के पीछे जो तर्क दिया जाता है, वह यही असमान श्रम विभाजन है।[13] हालांकि इस कहानी में लेखक बंटवारे को टाल लेता है, लेकिन पात्रों द्वारा दिये गये तर्क तर्कोचित हैं। संयुक्त परिवार में यह असमान श्रमविभाजन तो सदियों से रहा है, लेकिन इसका विरोध अब इतना तीव्र क्यों हो गया है? इसका कारण है लोगों की व्यक्तिगत चेतना। पहले परिवार में गुमान जैसे निठल्ले लोग होते थे, लिहाज और मेरु-दबा दूसरे भाई-भावज कुछ बोलते नहीं थे। लेकिन 'व्यक्तिवाद' के कारण वह 'लिहाज' उठता जा रहा है। औरतें पहले जब इस प्रकार की बातें करती भी थीं, तो मर्द उन्हें चुप करा देते थे। लेकिन अब स्थिति बदल गयी है। 'शंखनाद' का वितान खुद तो लिहाजवश कुछ कह नहीं पाता, लेकिन जब उसकी पत्नी अलग्योझ का समर्थन करती है तो उसे बुरा लगता है। इसमें भानुदत्त को गुमान का छैलापन उतना नहीं खलता, जितना उसके बेटों को खलता है। इसका कारण दो पीढ़ियों की अलग-अलग चेतना ही है।

परिवार में मुखिया का स्थान : किसान - परिवारों में पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है और स्त्री उससे हेठी मानी जाती है। इसी आधार पर परिवार का संगठन

होता है । संयुक्त परिवार का एक मुखिया होता है, जो कि परिवार की संपूर्ण व्यवस्था के लिए अंतिम रूप से जिम्मेदार होता है । गाँव में उसी के नाम से वह परिवार जाना जाता है । परिवार की उन्नति-अवनति का अंतिम श्रेय उसे ही मिलता है । वह सुद श्रम करता है और दूसरे सदस्यों में श्रम का बँटवारा करता है । अक्सर उसकी पत्नी ही घर की मालकिन होती है । इन दोनों की आज्ञा के बिना घर में पत्ता भी नहीं हिल सकता । अक्सर सबसे बड़ा भाई या पिता ही घर का मुखिया होता है । कई बार बड़े भाई की बहू या माँ ही मुखिया का गंभीर पद संभाल लेती है । 'स्वामिनी' में विधवा सास के बाद रामप्यारी घर की मालकिन बन जाती है । परिवार में मुखिया के भाई, उनकी पत्नियाँ, उसके बूढ़े माता-पिता, अपने बच्चे और उसके भाईयों के बाल-बच्चे—यही सदस्य होते हैं । प्रेमचंद साहित्य में बड़े-से-बड़े संयुक्त परिवार में भी दस से सदस्य मिलते हैं । इससे भी बड़े संयुक्त परिवार का चित्रण प्रेमचंद ने नहीं किया है । यद्यपि प्रेमचंद संयुक्त परिवार का समर्थन करते हैं, फिर भी उनके साहित्य में संयुक्त परिवार के संबंधों की जटिलता की अभिव्यक्ति नहीं हुई है । उनकी रचना का मुख्य ध्यान पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र या पुत्री के संबंधों पर ही रहा है । कभी-कभी उन्होंने भाई-भाई और देवर-भाभी के संबंधों की अभिव्यक्ति चलताऊ ढंग से की है, लेकिन चाचा - भतीजा जैसे थोड़े दूर के संबंधों का संयुक्त परिवार में संबंध के रूपों की जटिलता का वर्णन कहीं नहीं है ।

प्रेमचंद ने किसान परिवार का चित्रण करते समय मुखिया के व्यक्तित्व का चित्रण अवश्य किया है, क्योंकि परिवार की अवस्था का अनुमान मुखिया के चरित्र से ही लग जाता है । 'स्वामिनी' में परिवार की हालत सुधर जाने की जिम्मेदारी रामप्यारी के योग्य संचालन पर निर्भर है ।[14] 'स्वामिनी' और 'सुजान भगत' में प्रेमचंद ने मुखिया को केन्द्रीय महत्त्व दिया है । 'सुजान भगत' में तो परिवार में मुखिया के परिवर्तन होने की नाजुक प्रक्रिया का चित्रण किया

गया है और इसी के साथ परिवार में मुखिया की स्थिति को भी स्पष्ट किया गया है ।

परिवार में पिता का प्रभुत्व होता है, इसे प्रेमचंद साहित्य के सभी पात्र मानते हैं । परिवार के भीतर सभी कायदे-कानून मुखिया की इच्छा व सुविधा के अनुसार ही बनते-बदलते रहते हैं । परिवार में उसका वैधानिक शासन होता है । लेकिन मुखिया के परिवर्तन के साथ ही, वह उन अधिकारों से वंचित भी हो जाता है । उसका मान-सम्मान तो बढ़ता जाता है, लेकिन अधिकार घटता जाता है । 'सुजान भगत' पदच्युत होने के बाद भिखारी को सेर भर अनाज देने लगता है तो उसका लड़का उसे मना कर देता है और वही सुजान मुखिया बनकर उसी भिखारी को एक मन अनाज दे देता है, तब उसका लड़का चूं तक नहीं करता ।

बुलाकी कहती है, '' जो कमाता है, उसी का धर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है ।''[15] दुनिया के दस्तूर के मुताबिक मुखिया असल में मुखिया होता है, क्योंकि वह सबसे ज्यादा उत्पादन करता है । किसान जब उत्पादन कर्म से हट जाता है, तो उसका बेटा मुखिया बन जाता है । यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से घटित होती रहती है ।[16] व्यावहारिक पात्र इसे समझ लेते हैं, और पदच्युत होने के बाद मिलने वाले सम्मान से संतुष्ट हो जाते हैं । लेकिन सुजान भगत इस परिवर्तन का विरोध करता है । ज्यों ही उसे यह एहसास होता है, वह फिर उत्पादन कर्म में लग जाता है और मुखिया का गौरव-शाली पद प्राप्त करता है । उसी भिक्षुक को एक सेर के बदले एक मन अनाज देकर अपने निरंकुश हाथों को तृप्त करता है ।

किसान के मकान में एक कोठरी (या भंडारा) ऐसा होता है, जिसकी चाबी सिर्फ मुखिया के ही पास होती है । घर के अन्य प्राणियों के लिए वह 'रहस्य' ही रहती है । 'स्वामिनी' बनने के बाद रामप्यारी ने पहला काम इस कोठरी का दर्शन करना ही किया । ''मटकों में गुड़, शक्कर, गेहूँ, जौ आदि चीजें रखी थीं । एक किनारे बड़े-बड़े बरतन धरे थे, जो शादी-ब्याह के अवसर पर निकलते

जाते थे या मांग दिये जाते थे । एक ताक पर मालगुजारी की रसीदें और देन-देन के पुरजे बँधे हुए रखे थे । कोठरी में एक विभूति-सी छायी थी, मानो लक्ष्मी अज्ञात रूप से विराज रही हो ।''[17]

किसान परिवार का मुखिया बेहद संकुल और जिम्मेदार होता है । क्षमा न होने की गुंजाइश तो वह कभी भी हो सकता है । परिवार के दूरगामी हितों की रक्षा करने हेतु उसे ऐसा करना पड़ता है । बेहद उदार रामेश्वरी भी स्वामिनी बनते ही कंजूस हो गयी और तरह-तरह के बहाने बनाना सीख गयी । मुखिया के अलावा परिवार के अन्य सदस्य वही काम करते हैं, जो उन्हें सौंपे जाते हैं । अपने मन से काम करने की चेतना मुखिया में ही होती है । 'स्वामिनी' बनने के बाद पहली बार जब उसने घर का दौरा किया, तो उसे अनेक कमियाँ नजर आयीं, जिनकी तरफ उसका ध्यान कभी गया ही नहीं था ।[18]

पुरानी ढंग के मुखिया की तमन्ना हमेशा यह रहती है कि उसका घर गाँव में सबसे सम्पन्न समझा जाए – और इस कारण उसे कुछ अधिक खर्च करने पड़ते हैं । मुखिया के मरने के बाद लोगों को पता चलता है कि उनका परिवार उतना सम्पन्न नहीं है, जितना लोगों का अनुमान था । मुखिया परिवर्तन के बाद घर की हालत भी बदल जाती है । कर्मठ और बुद्धिमान मुखिया के मर जाने के बाद उसका पुत्र निठल्ला या कामचोर निकलता है, घर की हालत बिगड़ती जाती है ।

'स्वामिनी' में '' मथुरा मजदूर तो रहा था, संचालक कभी न था । उसे स्वतंत्र रूप से काम लेने का कभी अवसर न मिला । खुद पहले भाई की निगरानी में काम करता रहा । बाद को बाप की निगरानी में करने लगा । खेती का सार भी न जानता था ।....''

'सुजान भगत' में, '' उसने (भोला ने) कभी इतना परिश्रम न किया था । उसे बनी-बनायी गिरस्ती मिल गयी थी । उसे ज्यों-त्यों चला रहा था।''

मुखिया के परिवर्तन में होने वाले संघर्ष में प्रेमचंद ने पुरानी मुखियों का अक्सर साथ दिया है । उन्होंने इस तर्क का समर्थन किया है कि जिसने मा-बाप

का लिए गुलसी को बनाया थी, उसी को अधिकार वंचित कर देना कहाँ का न्याय है । 'बेटी वाली विधवा' का पत भी उन्होंने इसी आधार पर लिया था ।

किसान परिवार में बच्चों की स्थिति : प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में परिवार में बच्चों के लालन-पालन का जगह-जगह बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है । प्रेमचंद के मन में इस चित्रण में कहीं यह भाव भी रहा है कि चूंकि बच्चे निर्दोष होते हैं, अतः उनकी चेतना पर ईर्ष्या-द्वेष व स्वार्थ के सामाजिक भाव नहीं होते और इस प्रकार उनके संबंधों में सच्चा मानवीयता होती है । 'दो भाई' में प्रेमचंद ने केदार और माधव, दोनों भाईयों के बचपन और उसके बाद के संबंधों की तुलना का चित्रण करके इसी ओर संकेत किया है ।[19]

अन्य भारतीय परिवारों की तरह किसान परिवार में भी लड़के और लड़की के लालन-पालन में भेद किया जाता है । लड़के के जन्म के समय उत्सव मनाया जाता है, उसे पढ़ने-पढ़ाने के लिए उत्तम वस्तुएं मिलती हैं, यहाँ तक माता-पिता का स्नेह भी उसे अधिक मिलता है । लड़की अभागिनी मानी जाती है और आवश्यक बोझ की तरह उसे पाला-पोसा जाता है । इसका कारण यह है कि संपत्ति का उत्तराधिकारी लड़का होता है, बूढ़े माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा का कार्य लड़का ही करता है और अनेक सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन भी उसी के माध्यम से होता है । लड़की बड़ी हो जाने के बाद ससुराल चली जाती है और इस तरह पीहर से उसका रिश्ता औपचारिक हो जाता है । इन सामाजिक परंपराओं के बावजूद कई किसान अपने बेटे-बेटियों को समान रूप से प्यार करते हैं । होरी अपनी सबसे छोटी बेटी रूपा को अपने साथ खाना खिलाकर इसी प्यार को व्यक्त करता है । इसी तरह 'सुभागी' कहानी के ''तुलसी महतो अपनी लड़की सुभागी को लड़के रामू से जौ-भर कम प्यार न करते थे ।''[20] फिर भी प्रेमचंद ने यह अवश्य दिखाया है कि शिक्षित परिवारों की तुलना में किसानों के यहाँ लड़का और लड़की के पालन पोषण में बहुत कम अन्तर होता है । 'गोदान'

ऐसी कहानियों में उन्होंने शिक्षित वर्ग में लड़की की स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है।

किसान अपने बच्चों को बहुत प्यार करता है। होरी और धनिया अपने बच्चों को बड़े लाड़-प्यार से पालते हैं। संयुक्त परिवार के आपसी संबंधों का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है। परिवार में जो ज्यादा कमाता है, उसके बच्चों को अधिक सुविधाएं मिलती हैं और जो व्यक्ति पैसा नहीं कमा पाता है, उसके बच्चों को उपेक्षा होती है। 'शंखनाद' के बांके गुमान के बच्चे को थैले की मिठाई के लिए भी तरसना पड़ता है। इसी बच्चे के प्यार के कारण गुमान भी भ्रम जाने लगता है। बच्चों के प्रति किसान के प्यार का यह भी एक उदाहरण है।

भाई-बहनों में थोड़ी-बहुत ईर्ष्या, द्वेष, लड़ाई के अलावा बच्चों के आपसी संबंध बहुत मधुर रहते हैं। बच्चे सामाजिक असमानता में न केवल विश्वास नहीं करते, बल्कि उसे तोड़ते रहते हैं। उनके व्यवहार की यह समानता और मानवीयता प्रेमचंद को आकर्षित करती रही है। 'गुल्ली-डंडा' में प्रेमचंद ने बच्चों के इन आत्मीय संबंधों का मार्मिक चित्रण किया है। इसी कारण प्रेमचंद ने बचपन को बहुत ही हसरत-भरी झलक के साथ याद किया है। 'चोरी' कहानी की शुरुआत इसी झलक से होती है — '' हाय बचपन! तेरी याद नहीं भूलती। वह कच्चा, टूटा घर, वह पुवाल का बिछौना; वह नंगे बदन, नंगी पीठ खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना — सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं।''[21] बचपन की इस हसरत के पीछे युवावस्था का संघर्ष और बचपन के पेशकश है। बच्चों की बड़ों से तुलना करते हुए प्रेमचंद ने 'ईदगाह' कहानी में एक जगह लिखा है, '' इन्हें घर की चिंताओं से क्या प्रयोजन। सेवैयों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैयां खाएंगे, वह क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं? उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाए। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकालकर गिनते हैं और खुश होकर फिर

रख लेते हैं । महमूद गिनता है, एक-दो, दस-बारह । उसके पास बारह पैसे हैं ।''22

प्रेमचंद के लिए बच्चों की सबसे बड़ी ट्रेजडी उनके उस बचपने का अपहरण है । यह मासूमियत और बेफिक्री आखिर क्यों ? इसीलिए प्रेमचंद ने 'ईदगाह' में हामिद के चिमटे खरीदने को एक बहुत बड़ी ट्रैजिक घटना के रूप में चित्रित किया है । माता-पिता का बच्चों के लिए असीम प्यार, जिससे बच्चे वंचित ही रहते हैं, प्रेमचंद की रचनाओं में भरा पड़ा है । लेकिन गाँव में व्याप्त घोर गरीबी का सबसे करुण प्रभाव बच्चों पर ही पड़ता है । उनकी भोली माँगों से किसका हृदय नहीं पसीज जाता । ''पैर का बूट' कहानी में पिता की दृष्टि से प्रेमचंद ने बच्चों की दुरवस्था का चित्रण किया है ।''23

प्रेमचंद ने सामान्य स्थितियों में ही बच्चे की स्थिति का ही चित्रण नहीं किया है, बल्कि असामान्य स्थितियों में भी उसकी स्थिति का वर्णन किया है । प्रेमचंद ने विमाता और बच्चे के संबंध का वर्णन किया है । पहली पत्नी के मर जाने पर किसान अक्सर दूसरी शादी कर लेता है लेकिन उसकी नयी पत्नी सौत के बच्चों के साथ बहुत दुर्व्यवहार करती है । 'अलग्योझा' कहानी की शुरुआत इसी वर्णन से होती है । ''भोला महतो ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की, तो उसके लड़के रग्घू के लिए बुरे दिन आ गए । रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी । चैन से गाँव में गुल्ली-डंडा खेलता फिरता था । माँ के जाते ही चक्की में जुतना पड़ा ।.... गोबर रग्घू निकालता, खेतों को पानी रग्घू देता । रग्घू ही जूठे बरतन माँजता । भोला की आँखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे अब रग्घू में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ नजर आतीं।''24 विमाता से पीड़ित मासूम बच्चों की करुण-कथा प्रेमचंद साहित्य में जगह-जगह मिलती है ।

स्त्री के मर जाने के बाद जिस प्रकार पुरुष दूसरी शादी कर लेता है, उसी प्रकार पुरुष की मृत्यु के बाद स्त्री भी दूसरे पुरुष से शादी कर लेती है। किसानों की कुछ जातियों में ऐसी परंपरा भी रही है । 'अलग्योझा' की पन्ना

थी एक बार ऐसा ही सोचती है । ऐसी स्थिति में उसके बच्चों की क्या स्थिति होती ? इसका वर्णन प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में कहीं भी नहीं किया है । ऐसी स्थिति में बच्चे भी अपनी माँ के साथ नये घर में चले जाते हैं । वहाँ उन्हें अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट भोगने पड़ते हैं । मारपीट के अलावा उन्हें समय पर भोजन भी नहीं दिया जाता । कई बार 'उदार' पुरुष ऐसे बच्चों का पालन भी समानभाव से करता है । प्रेमचंद ने किसान परिवार में ऐसे बच्चों की समस्याओं का चित्रण नहीं किया है । प्रेमचंद ने अपने साहित्य की ऐसी नायिकाओं को दूसरा घर नहीं करवाया है, उन्हें उसी घर में संतोष पूर्वक जीवन बितती दिखाया गया है । धाधार, अलगोझा, ज्योति आदि उपन्यासों की विधवा नारियाँ उसी परिवार में शेष जीवन बिता देती हैं । प्रेमचंद की मध्यवर्गीय मानसिकता ऐसे ही उनके लिए उचित जीवन समझती है । इसके अलावा कई बार स्त्री के पति की मृत्यु के बाद वह किसी दूसरे पुरुष के घर नहीं चली जाती, बल्कि वह पुरुष ही उसके घर आकर रहने लगता है । वही रहकर वह उसके पिछले बच्चों का भरण-पोषण और उसकी संपत्ति की भी रक्षा करता है । परिवार के इस स्वरूप का चित्रण भी प्रेमचंद ने नहीं किया है ।

नारी का स्थान :

भारतीय किसान पुरुष प्रधान समाज में रहता है, जिसमें नारी की भूमिका गौण मानी जाती है । फिर भी, मध्यवर्गीय नारी के अपेक्षा किसान की पत्नी की स्थिति ज्यादा बेहतर है । वह उत्पादन में सक्रिय हिस्सा लेती है और इस कारण उसे घर के मामले में बोलने की स्वतंत्रता होती है । किसान संयुक्त परिवार में विश्वास करता है । प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाया गया है कि नारी संयुक्त परिवार का विरोध करती है । विशेष रूप से नई बहू को व्यवस्था में रहना पसंद नहीं करती ।

संयुक्त परिवार में नारी वधू के रूप में प्रवेश करती है । उसे सभी प्राणियों का सम्मान करना होता है, सभी की आज्ञाओं का पालन करना होता है । यहाँ वधू के आत्मसम्मान पर आक्रमण किया जाता है । नारी को ऐसे माहौल में न केवल अपने आत्मसम्मान की रक्षा करनी होती है, बल्कि अपने मैके के सम्मान के लिए भी लड़ना पड़ता है । समान आर्थिक - सामाजिक स्थिति वाले परिवारों में भी नारी को अपने मैके की अकारण निन्दा सुननी पड़ती है । यदि नारी के मैके और ससुराल में आर्थिक - सामाजिक स्थितियों का अन्तर हुआ, तब तो इन दोनों में संतुलन रख पाना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है । अगर मैके वाले गरीब हुए तो उसे बराबर इस प्रकार के ताने सुनने पड़ते हैं, कि इस बिचारी ने बाप के घर में देखा ही क्या है, जो कि अमुक कार्य कर सके । उसके कर्मों की सारी कमजोरियों का अंतिम श्रेय मैके वालों को देकर उसे अवश्यंभावी अपमान सहन करना पड़ता है । यदि लड़की 'बड़े घर की बेटी' हुई, तब भी उसे कष्ट सहन करना पड़ता है । स्त्री से अपने मैके की निन्दा नहीं सही जाती । मैके की निन्दा करने का अधिकार न केवल पति या सास - ससुर को ही होता है, बल्कि ननदों और देवर-जेठों को भी होता है । 'बड़े घर की बेटी' में आनंदी और देवर लालबिहारी में इसी नाजुक मसले पर ठन गयी । अपने मैके की तारीफ में आनंदी ने कहा कि ''पानी भरा भी नौ लाख का । वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं ।''[25] इस गुस्ताखी पे देवर जी नाराज हो गये और उन्होंने अपनी भाभी को खड़ाऊ से पीट दिया । स्थिति यह है कि सारी कहानी में लालबिहारी तथा उसके पिता को लगता ही नहीं है कि उसने हाथ उठाकर कोई गंभीर अपराध किया है । इस मामले पर भी असन्तोष हो सकता है, इसकी तो वे दोनों कल्पना भी नहीं कर सकते थे ।

स्त्री को शारीरिक यातना देने का अधिकार तो पति को बहुत ही सहज है । यहाँ तक कि सीधा-सादा गोरी भी दबंग धनिया को पीट देता है । मारपीट के इस दृश्य का कर्ता प्रेमचंद ने किया है । ''गोरी धनिया को मार रहा था ।

धनिया उसे गालियां दे रही थी । दोनों लड़कियां बाप के पांवों से लिपटी चिल्ला रही थीं और गोबर मां को खींच रहा था । बार-बार होरी का हाथ पकड़कर पीछे ढकेल देता ; पर ज्यों ही धनिया के मुंह से कोई गाली निकल जाती, होरी अपने हाथ छुड़ाकर उसे दो-चार घूंसे और लात जमा देता । उसका बूढ़ा क्रोध जैसे किसी गुप्त संचित शक्ति को निकाल लाया था । सारी गांव में एकत्र हो गई । लोग समझाने के बहाने तमाशा देखने आ पहुंचे ।''[26] किसान भारतीय में इस तरह के दृश्य साधारण - प्रचलित स्थिति है । ऐसा कोई विरला ही पति होता है जो अपनी पत्नी को पीटता न हो । 'सुजान भगत' ऐसा ही एक किसान है । जीवन के अंतिम दिनों में जब वह दुलारी से नाराज होता है तो पछताते हुए सोचता है कि '' मैंने ऐसे फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गांव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खायी हों, कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं । रुपये-पैसे, लेना-देना, सब इसी के हाथ में दे रखा था ।''[27]

पति-पत्नी में छोटी-मोटी संघर्ष के बावजूद किसान-परिवार में पति-पत्नी के बीच जबर्दस्त एकता और सहयोग होता है । संघर्ष उनकी एकता को मजबूत करता है । किसान अपनी स्त्री को पीटता है, लेकिन चलता उसी के कहने पे है । होरा और पुनिया के संबंधों पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, ''होरा - सहु अपने घर की मालकिन थी । उसी के बिद्रोह से भाग्यों में झलमोला हुआ था । धनिया को परास्त करके होरा ही गर्व थी । होरा कभी-कभी उसे पीटता था । कभी गाल में इतना मारा था कि वह कई दिन खाट से न उठ सकी, लेकिन अपना पदाधिकार वह किसी तरह न छोड़ती थी। होरा क्रोध में उसे मारता था ; लेकिन चलता था उसी के इशारों पर ; उस घोड़े की भांति, जो कभी-कभी स्वामी को लात मार कर भी उसी के आसन पे नीचे चलता है ।''[28] 'झलमोला' का मातृ भक्त रघु भी मुनिया के इशारों

पर चलने के लिए बाध्य है । यहाँ पति-पत्नी का झगड़ा कभी भी इतना नहीं बढ़ता कि संबंध - विच्छेद की नौबत आ जाए ।

जीवन के पचास-साठ वर्ष साथ-साथ बिताने के कारण पति-पत्नी में एक खास तरह की आत्मीय सहिदारी विकसित होती जाती है, उसका सौंदर्यबोधीय चित्रण प्रेमचंद ने मन लगाकर किया है । होरी और धनिया के संबंधों का सौंदर्य इसी साहचर्य जन्य प्रेम में निहित है । प्रेमचंद के साहित्य में अक्सर नारी यथार्थवादी होती है । 'गोदान' में होरी की अपेक्षा धनिया ज्यादा यथार्थवादी चरित्र है । 'सुजान भगत' में झुलाकी परिवर्तित जीवन-यथार्थ को समझ जाती है और उसी के अनुरूप जीवन बिताने लग जाती है, लेकिन सुजान इस परिवर्तन से रूठ जाता है और (एक दिन)खाना नहीं खाता । झुलाकी उसे समझाती हुई कहती है, " सुनती थी, मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो । आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे वैसा काम करे । अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और घर की सब लड़कों को समझा लें । मैं यह बात समझ गयी, तुम क्यों नहीं समझ पाते।"[29] प्रेमचंद ने किसान परिवार में स्त्री और पुरुष के अन्तर्विरोध का चित्रण कम किया है और उनके सहयोग का चित्रण ही अधिक किया है । इसलिए प्रेमचंद ने नारी के दर्द की अभिव्यक्ति करते हुए भी उसे मुख्य स्थान नहीं दिया है । यहाँ तक कि ग्रामीण लोक गीतों में नारी के दर्द की जो मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, उस तरह की भावविह्वल अभिव्यक्ति प्रेमचंद की रचनाओं में नहीं मिलती । ऐसे में ग्रामीण यथार्थ के चित्रण में मुख्य स्थान नारी के दर्द को मिल जाता है और आर्थिक शोषण का दर्द गौण स्थान ले लेता है । प्रेमचंद ने आर्थिक अन्याय को ज्यादा उभारकर सामने रखा है ।

प्रेमचंद की रचनाओं में सास-बहू के झगड़े का वर्णन भी मिलता है । लेकिन इस झगड़े को उन्होंने पारिवारिक परिवेश में कम ही दिखाया है, उनके आपसी संबंधों के तनाव की सामाजिक अभिव्यक्ति ही हुई है । 'पनघट' गाँव

में पानी लाने का केन्द्र ही नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक केन्द्र भी है । पनघट में नारी का मुक्तिकेन्द्र है, जहाँ वह मुक्त मन से अपने भावों की अभिव्यक्ति कर सकती है । प्रेमचंद ने पनघट का सौंदर्यबोधीय चित्रण तो बहुत कम किया है, उस स्थान का उपयोग उन्होंने सामाजिक संस्कृति के चित्रण के लिए किया है । 'अमावस्या की रात्रि' में पनघट का वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने सास-बहू के संघर्षों पर भी प्रकाश डाला है, ''पनघट पर गाँव की अलबेली स्त्रियाँ जमा हो गई थीं । पानी भरने के लिए नहीं, ऐसने के लिए । कोई घड़े को कुएँ में डाले हुए अपनी पोपली सास की नकल कर रही थी, कोई लज्जा से लिपटी हुई अपनी सहेली से मुस्कराकर प्रेम-रहस्य की बातें करती थी । बूढ़ी स्त्रियाँ पोतों को गोद में लिये अपनी बहुओं को कोस रही थीं कि घंटे भर हुए जब तब कुएँ से नहीं लौटी ।''[30] सारा गाँव इस संघर्ष के आधार पर दो दलों में बँटा हुआ होता है, '' एक बहुओं का, दूसरा सासों का । बहुएँ सलाह और सहानुभूति के लिए अपने दल में जाती हैं, सासें अपने में । दोनों की पंचायतें अलग होती हैं ।''[31]

मनोहर, बलराज आदि स्त्रियों के जेल चले जाने पर प्रेमाश्रम में भी सास-बहू का यह झगड़ा सामाजिक रूप से लेता है । ''गाँव में जितनी भी ऐसी वृद्धा महिलाएँ थीं जो अपनी बहुओं से जला करती थीं । उन्हें विलासी से सहानुभूति हो गयी । शनैः शनैः यह कैफियत हुई कि विलासी के बरौठे में सासों की नित्य बैठक होती और बहुओं के खूब दुखड़े रोये जाते । उधर बहुओं ने भी अपनी आत्मरक्षा के लिए एक सभा स्थापित की । उसकी बैठक नित्य दुखरन भगत के घर होती । विलासी की बहू उस सभा की संचालिका थी ।''[32] सास-बहू के इस झगड़े को प्रेमचंद ने दोनों पक्षों का अज्ञान ही माना है और इस तरह किसी भी एक पक्ष का समर्थन नहीं किया । 'गोदान' में धनिया और पुनिया के झगड़े का चित्रण करते हुए उन्होंने अपना उभय पक्षीय रुख स्पष्ट किया है ।[33] इसके अलावा प्रेमचंद के पुरुष पात्र भी अक्सर इन झगड़ों से तटस्थ रहते हैं और

बारी-बारी से दोनों को डाँट-डपट कर समझा देते थे । पुरुष को पूर्णतः न तो माँ अपने वश में कर पाती थी न पत्नी । दोनों उस ओर प्रयास करती रहती थीं पर वो किसी समस्या पर 'पुरुष' की उक्ति सुन दोनों एक दूसरे पर दोषारोपण करके संतुष्ट हो जाती हैं । गोबर शहर जाकर जब बदल गया और उसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ दिखायी देने लगीं, तब धनिया ने उसे दुनिया की ही परामर्श समझा और उसी को कोसने में लगी रही । धनिया इस मामले में बहुत स्पष्ट थी कि इसमें गोबर का ही दोष है, दुनिया का नहीं ।

भारतीय किसानों में शादी-ब्याह :

प्रेमचंद ने अधिकतर हिन्दू किसानों के पारिवारिक जीवन का चित्रण किया है। यद्यपि 'ईदगाह' जैसी कहानियों में मुस्लिम जीवन का भी वर्णन है, लेकिन यह अल्पतम है । उनके साहित्य में हिन्दू किसानों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का सांगोपांग वर्णन मिलता है । उत्तरी भारत के ग्रामीण किसानों की सामाजिक परंपराओं का वर्णन प्रेमचंद ने किया है । जाति-व्यवस्था की जटिलता के कारण यहाँ क्लासिकल हिन्दू संस्कृति के अनुसार जीवन जीने वाले किसान नहीं मिलते । अलग-अलग जातियों ने अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुसार अपनी अलग परंपराएँ बना ली हैं, जो अब उनके बीच मान्य हो गयी हैं । शादी - ब्याह से संबंधित यहाँ अनेक ऐसी प्रथाएँ प्रचलित हैं, जिन्हें 'शुद्धतावादी' हिन्दू कभी भी स्वीकार नहीं करेगा ।

प्रेमचंद ने सामाजिक उत्सवों और सांस्कृतिक समारोहों के स्वायत्त, सौंदर्यबोधीय चित्रण में रुचि बहुत कम दिखायी है । उन्होंने बड़े ही यत्र-तत्र ढंग से इन उत्सवों/उत्सवों का वर्णन किया है । 'अलगोझा' में रघु के गौने का संक्षिप्त वर्णन इसी तरह का है — '' तीसरे दिन मुलिया मैके से आ गई । दरवाजे पर नगाड़े बजे, शहनाइयों की मधुर ध्वनि आकाश में गूँजने लगी । मुँह-दिखाई की रस्म अदा हुई ।''[34] इसके बाद प्रेमचंद अन्य जीवन-स्थितियों का वर्णन करने

रात गये । उन्होंने समाज की वर्तमान समस्याओं और स्थितियों का चित्रण ज्यादा रूचि पूर्वक किया है । युगों से चली आ रही परंपराओं का जो रूप आज पा गया है, उसका वर्णन उन्होंने इसी चलताऊ ढंग से कर दिया है ।

ग्रामीण किसान के लिए शादी सिर्फ सेक्स संबंध का नैतिक रूप ही नहीं है, बल्कि एक धार्मिक कर्त्तव्य है । इसके अलावा किसान के लिए शादी आर्थिक कारणों से भी अनिवार्य है । कोई कारण किसान स्त्री को कभी कुंआरा नहीं रहने देता । मि० मेहता कुंआरी रह सकते हैं, लेकिन होरी इस तरह की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता ।

परिवार का मुखिया सभी बच्चों के शादी - ब्याह के लिए भी जिम्मेदार होता है । पिता या घर का मुखिया ही बच्चों के लिए योग्य जीवन साथी चुनता है । इस प्रक्रिया में वह लड़के या लड़की की राय जानना आवश्यक नहीं समझता। अपनी पहुंच के हिसाब से वह सगाई कर देता है । किसान यह अवश्य करता है कि यह रिश्तेदारी ज्यादा दूर न हो । कभी-कभी तो वह एक ही परिवार में अपने दो-तीन बच्चों की शादियां कर देता है । 'स्वामिनी' कहानी में यही होता है । '' रामप्यारी और रामदुलारी दो सगी बहनें थीं । दोनों का विवाह मथुरा और बिरजू — दो सगे भाईयों से हुआ । दोनों अपने नैहर की तरह ससुराल में भी प्रेम और आनंद से रहने लगीं ।''[35] शादी के संबंध में इस तथ्य को हमेशा ध्यान में रखा जाता है कि एक ही जाति में शादी हो । प्रेमचंद ने किसानों में अन्तर्जातीय विवाह का वर्णन कहीं नहीं किया है । दूसरी जाति में शादी हो भी सकती है, इसकी कल्पना भी प्रेमचंद के पात्र नहीं करते । मालादीन जब सिलिया के साथ पूरी तरह से रहने लग जाता है, तब वह ब्राह्मण नहीं रह पाता, खुद भी चमार बन जाता है । विजातीय लड़के-लड़कियों में यौन-संबंध तो हो सकता है, लेकिन विवाह नहीं हो सकता । हालांकि इस यौन-संबंध को भी अनैतिक माना जाता है, लेकिन सिर्फ इसी कारण से किसी व्यक्ति को जातिच्युत नहीं कर दिया जाता ।

कई बार गाँव में किसी लड़के की शादी में बहुत कठिनाई हो जाती है। धीरे-धीरे उसकी उम्र भी ढलने लगती है। ऐसे निराश पुजारी का चित्रण प्रेमचंद ने 'विस्मृति' कहानी में किया है। सगाई करवाने के लिए नाई और ब्राह्मण लोग बिचौलिये का काम करते हैं। ये बिचौलिये कई बार विवाहित्तु प्रौढ़ों को उगते भी रहते हैं। 'विस्मृति' में, "जितने ही नाई और ब्राह्मण व्याह के उपलक्ष्य समाचार लेकर उनके यहाँ आते, और दो-चार दिन पूड़ी - कचौड़ी खा, कुछ बिदाई लेकर बारात (प्रस्थान) भेजने का वादा करके अपने घर की राह लेते।"[36]

प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में वर ढूँढने का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। पंडित उमानाथ सुमन के लिए वर ढूँढने गाँव में भी जाते हैं। "ज्यों ही वह किसी गाँव में पहुँचते, वहाँ हलचल मच जाती। युवक गलियों से घर के निकलते, जिन्हें वह बारातों में पहचानते थे। अँगूठियाँ और मोहनमाल माँगनी माँग कर पहन लेते। माताएँ अपने बालकों को नहला-धुलाकर आँखों में काजल लगा देतीं और धुले हुए कपड़े पहनाकर खेलने भेजतीं। विवाह के पहले दूसरे नाइयों से मोंछ कटवाते और पके हुए बाल चुनवाने लगते। गाँव के नाई और पुरोहित खेतों से बुला लिये जाते, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छँटवाता। जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियाँ घरों से न निकलतीं; कोई अपने पाथ से पानी न भरता, कोई खेत में न जाता।"[37]

बच्चों की सगाई और शादी तो अक्सर बचपन में ही हो जाती है। बच्चे जब जवान होते हैं, तभी उनका गौना किया जाता है और तभी दुल्हा-दुल्हिन मिल सकते हैं। 'गोदान' में होरी ने सोना की सगाई बचपन में ही कर दी थी और गोबर की सगाई करने की चिंता उसे सता रही थी। 'अलग्योझा' में रग्घू की सगाई भी बचपन में ही हो गई थी। सामान्यतः मध्यम श्रेणी की जातियों में शादी-व्याह कोई बड़ी समस्या नहीं होती। घर के लड़के-लड़कियाँ आसानी से उन्हें मिल जाते हैं। शिक्षित मध्यवर्ग में जिस तरह लड़की की शादी एक समस्या हो जाती है, उस तरह किसान के लिए समस्या नहीं होती। वास्तव

दबावों से पीड़ित होकर किसान कई बार अपनी लड़की को बेच भी देता है। धनी ने दो सौ रुपए लेकर रमा की शादी प्रौढ़ रामसेवक से शादी कर दी। पंडित दातादीन ने इस शादी को तय करवाने में मध्यस्थता की भूमिका निभाई।

प्रेमचंद ने 'गबन' में रमानाथ की बारात का वर्णन किया है। रमानाथ की बड़े ठाट-बाट से बारात निकली। देखने वालों ने भी उसकी तारीफ में पुल बांधे। प्रेमचंद ने उत्साह से दर्शकों के उत्साह को दिखाया। ''कोई बाजे की पीं-पीं, पीं-पीं सुनकर मस्त हो रहा था, कोई मोटर की आतिशबाजी देख रहा था, कुछ लोग फुलवारियों के तख्ते देख-देखकर लोट-लोट जाते थे। आतिशबाजी सबके मनोरंजन का केन्द्र थी। एकाएक जब छत्तीस अनार छूटते और आकाश में लाल, हरे, नीले, पीले कुमकुमे से बिखर जाते और जब चर्खियां छूटतीं और उनमें नाचते हुए मोर निकल आते, तो लोग मंत्र-मुग्ध से हो जाते थे। वाह, क्या कारीगरी है।''[38]

इस अमीरी दिखावे और ठाट-बाट में सैकड़ों रुपयों पर पानी फिर जाता है। फिर बारात के स्वागत संबंधी अनेक प्रथाओं का पालन किया जाता है, जिनमें से कुछ मोटी-मोटी बातों का वर्णन प्रेमचंद ने किया है। ''दस बजे रास्ता में बाजे बजने लगे। मालूम हुआ कि चढ़ाव आ रहा है। बारात में हर एक रस्म डंके की चोट अदा होती है। दूल्हा कलेवा खाने आ रहा है, बाजे बजने लगे। समधी मिलने आ रहा है, बाजे बजने लगे। चढ़ाव ज्यों ही पहुंचा, घर में हलचल मच गयी। स्त्री, पुरुष, बूढ़े, जवान सब चढ़ाव देखने के लिए उत्सुक थे। ज्यों ही डोलियां मंडप में पहुंचीं, लोग सब काम छोड़कर देखने दौड़े। आपस में धक्कम-धक्का होने लगा। मानकी प्यास से बेहाल हो रही थी, एक चुल्लू पानी मांगा, चढ़ाव आते ही प्यास भाग गयी। दीनदयाल भूख-प्यास से निर्जीव से पड़े थे। यह समाचार सुनते ही सचेत होकर दौड़े। मानकी एकरुख चीज को निकाल-निकाल कर देखने दिखाने लगी। वर सभी उस कला के विशारद थे। मर्दों ने गहने बनवाये थे, औरतों ने पहने थे, सभी आलोचना करने लगे।''[39]

इस कथन से स्पष्ट है कि प्रेमचंद की रूढ़ि प्रथाओं के वर्णन की ओर नहीं है, बल्कि ऐसे अवसरों पर होने वाले मानवीय व्यवहारों, भावनाओं और संबंधों की ओर ही है । शायद ही अपनी किसी रचना में प्रेमचंद ने इन प्रथाओं का पूर्ण विवरण दिया हो । प्रेमचंद जानते हैं कि इन रूढ़ियों से उनका पाठक पूरी तरह से परिचित है, अतः उनका परिचय देकर अपने रचना समय को व्यर्थ करना है । अगर फणीश्वर नाथ रेणु को इनका वर्णन करना होता तो वे कम से कम तीस-पच्चीस पृष्ठों में इन सब का वर्णन करते चले जाते । लेकिन प्रेमचंद ने आधा पृष्ठ लिखकर इस ओर से निश्चिंत हो गये । शादी के फेरे, कन्यादान आदि प्रकरणों को पाठकों के ज्ञान पर छोड़ दिया ।

विवाह की विधानों में अनेक प्रथाएँ हैं । बाल-विवाह यहाँ एक आम स्थिति है । छोटी उम्र में ही विधान लड़कों की शादी कर देता है । बहुविवाह का प्रचलन भी कई जातियों में मिलता है । 'गोदान' में झिंगुरीसिंह की तीन पत्नियाँ हैं । 'अग्नि समाधि' के प्रयोग से एक स्त्री के रहते हुए भी एक नयी स्त्री और ले आया । सौत का प्रचलन यहाँ सामान्य है । यह पुरुष का अधिकार है, इसे कोई स्त्री रोक नहीं सकती । विधानों में विधवा विवाह भी आम है । 'अलगोझा' में तीन लड़कों की माँ विधवा होना भी सोचती है कि दूसरा घर कर ले । '' यही न होगा, लोग हँसेंगे । भला से । उसकी बिरादरी में क्या ऐसा होता नहीं ? ब्राह्मण, ठाकुर थोड़े ही थी कि नाक कट जायेगी । यह तो ऊँची जातियों में होता है कि घर में चाहे जो कुछ करो, बाहर परदा ढका रहे । घर तो संसार को दिखाकर दूसरा घर कर सकती है ।''[40] 'स्वामिनी' में विधवा रामप्यारी अंत में एलवर्षि जीमू के साथ ही रहने लगती है । कुछ जातियों में विधवा भाभी बाद में देवर की पत्नी भी बन जाती है । रग्घू की मृत्यु के बाद अलगोझा में मुलिया केदार की पत्नी बन जाती है । इस तरह उसी परिवार में बंध रह जाती है । ऐसी शादियों में कोई विशेष उत्सव नहीं होता । 'आधार' कहानी में प्रेमचंद ने एक और स्थिति का भी वर्णन किया है । इसमें विधवा चंपा ने अपने पाँच साल के देवर से सगाई कर ली । और इसी 'आधार' पर

अपना जीवन बिता दिया कि देवर जब बड़ा होगा तब अनूपा का वही पति होगा। कहानी में प्रेमचंद ने अनूपा से उसकी शादी नहीं करवायी है, लेकिन इसमें हमें ऐसी परंपराओं का पता अवश्य लग जाता है। जैसे प्रेमचंद ने दिखाया है कि विधवा अगर नैतिक रूप से विधवा का ही जीवन बितायें तो उसे लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और यदि वह विवाह कर लेती है तो उसे कोई बुरा नहीं बताता। इस तरह प्रेमचंद ने दिखाया है कि कहानी में पुरुष व स्त्री दोनों को समान रूप से दूसरी शादी करने का अधिकार है।

कहानी में 'धरजमाई' की भी परंपरा होती है। इसमें युवती शादी के बाद अपनी ससुराल में नहीं जाती, बल्कि वह नैहर में ही रहती है और उसका पति भी वहीं आकर रहने लगता है। 'धरजमाई' कहानी में प्रेमचंद ने ऐसी स्थिति का वर्णन किया है। ऐसे व्यक्ति का आरंभ में दामाद की तरह बहुत ही स्वागत - सम्मान किया जाता है। उसके खाने-पीने की उत्तम व्यवस्था की जाती है। धीरे-धीरे मेहमान के पद से घटकर उसका स्थान घर के आदमी जैसा ही हो जाता है और अन्त में उसकी स्थिति नौकर के समान हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को अपनी ससुराल की मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है — जैसे वह रसोई में घुसकर खाना नहीं खा सकता, बिना बुलाए घर में नहीं जा सकता, सास-ससुर से अदब के साथ व्यवहार करना पड़ता है। वह हमेशा उस परिवार से अलग-थलग रहता है। उसकी पत्नी भी अपने माता-पिता के परिवेश में पूरम रहने के कारण उन्हीं जैसा सोचती, समझती और कार्य करती है। घर में रहते हुए भी बाहरी आदमी की तरह रहने से धरजमाई का जीवन कठिन स्थितियों से गुजरता है। रामधन ऐसे ही वातावरण से त्रस्त होकर पुनः अपने घर चला जाता है। 'धरजमाई' वे लोग बनते हैं, जिन्हें या तो अपने घर में लाड - प्यार नहीं मिलता, या जिनके माता-पिता मर जाते हैं। कई बार ससुराल वाले फुसलाकर भी उसे ले जाते हैं और बाद में उसका मोहभंग होता है। रामधन का भी एकदिन मोहभंग होता है। रामधन सोचता है, "यही घर है, जहाँ लाख ये

दस साल पहले उसका कितना आदर सत्कार होता था। घर में गुलाम बने रहते थे। सास मुँह जोहती रहती थी। स्त्री पूजा करती थी। तब उसके पास रुपये थे, जायदाद थी। अब वह दरिद्र है। उसकी सारी जायदाद तो इन्हीं लोगों ने दबा का दिया। अब उसे रोटियों के लाले हैं।...[4] प्रेमचंद एक किसान की तरह धरजमाई बनकर रहने को उचित नहीं मानते हैं, क्योंकि अंततः ऐसे व्यक्ति की दशा दयनीय हो जाती है।

किसानों का सामुदायिक जीवन : प्रेमचंद ने किसानों के व्यक्तिगत चरित्रों का चित्रण ही नहीं किया है, बल्कि उनके सामूहिक और सामुदायिक जीवन का भी चित्रण किया है। किसान एक-दूसरे के साथ मिलकर सामूहिक रूप से भी व्यवहार करते हैं। इस व्यवहार से भारतीय ग्रामीण जीवन की सामूहिक तस्वीर उभरती है। पारंपरागत रूप से भारतीय किसान तीन कारणों से एक दूसरे से संबंध की भावना महसूस करते हैं — रिश्तेदारी, जाति और गाँव। किसी व्यक्ति का परिचय भी इन तीन संबंधों के आधार पर दिया जाता है, कि अमुक व्यक्ति किस (मुखिया के) परिवार का सदस्य है, उसकी जाति क्या है, और वह किस गाँव का रहने वाला है?

किसान अपने नाते-रिश्तों को बहुत महत्त्व देता है। ससुराल और ननिहाल के संबंध इनमें सबसे नजदीक और आत्मीय माने जाते हैं। संकट के समय ये संबंधी एक दूसरे की मदद करते हैं। 'दो बैलों की कथा' में झूरी अपनी ससुराल वालों को अपने बैल माँगने देता है। इस तरह के परस्पर लेनदेन रिश्तेदारी में चलते हैं। घुम्मन शेख ('पंच परमेश्वर') की दूर की मौसी उनके साथ रहती है। मौसी के औलाद न होने के कारण वह जमीन घुम्मन को देता है। इस रिश्ते के अलावा कुछ व्यक्तिगत संबंध भी किसान मानते हैं। खिलारी में बैल होने के कारण किसानों में दोस्ती हो जाती है। 'पंचपरमेश्वर' के घुम्मन शेख और अलगू चौधरी में इसी प्रकार की मित्रता थी। "एक को दूसरे पर बड़ा विश्वास था। घुम्मन जब हज करने गए थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गए थे, और

लोग जब कभी बाहर जाते तो घुम्मन पर अपना घर छोड़ जाते थे ।'' [42]
'प्रेमाश्रम' के कादिर और मनोहर में इसी प्रकार की मित्रता रहती है ।शादी-गमी के प्रत्येक अवसर पर ऐसे लोगों से संबंधियों की तरह ही व्यवहार किया जाता है । ऐसे संबंध अपने गाँव और जाति की सीमाओं को पार कर जाते हैं। सिर्फ रिश्तेदारी एक ही जाति के कुछ विशिष्ट लोगों से होती है , जो दूरस्थ गाँवों में रहते हैं ।

दूर-दूर गाँवों में रहने वाले एक ही जाति के किसानों में जातिगत समानता के कारण भी एक संबंध - भावना होती है । जाति किसान को गाँव की सीमा से अतिक्रमण करवाती है । भारत में जाति व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, उसके कर्म आदि निश्चित करती है । एक जाति के किसान से दूसरी जाति के किसान का संबंध निश्चित प्रथाओं पर आधारित होता है । यही नहीं एक जाति का दूसरी के प्रति व्यवहार भी निश्चित है । अगर व्यक्ति अनुसूचित जाति का हुआ तो उसका निवास-स्थान भी निश्चित होता है । व्यक्ति का किसी जाति में जन्म होना उसके पिछले जन्मों के कर्मों पर आधारित है । इस 'जजमानता की संस्कृति' में किसान जीवन जीता है । 'मुक्तिमार्ग' के जीगुर को अपनी जाति का गर्व है । बुद्धू जब उसके खेत की मेड़ से मेड़ निकालना चाहता है तो जीगुर कहता है—''... क्या मुझे कोई चूहड़ - चमार समझ लिया है या धन का घमण्ड हो गया है ? लौटाओ इनको ।''[43] दातादीन के मुकाबले घोरी की जाति नीची मानी जाती है। 'गाकुर का कुआँ' में हरिजन औरत को कुएँ से पानी नहीं भरने दिया जाता । 'मंदिर' में अछूतों का प्रवेश निषिद्ध है । जो आज तक नहीं हुआ, वह अब कैसे हो सकता है ; यही मुख्य तर्क बनता है । इसके अलावा एक जाति का व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ बैठकर खाना नहीं खाता । अछूतों का हुआ पुआ खाना अधर्म माना जाता है । समान स्तर की जातियों के किसान अलग बर्तनों में एक साथ बैठकर खा लेते हैं । 'मुक्तिमार्ग' का बुद्धू जीगुर से इसीलिए कहता है— ''... तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा ।''[44] रोटी और बेटी के मामले में जाति के नियमों का किसान पालन

करता है । गाँव में सारे लोग किसान ही नहीं होते, कुछ अन्य पेशों के लोग भी होते हैं, जो कृषि कर्म में सहायक भूमिका करते हैं । 'जजमानी' संबंध के द्वारा इनका आर्थिक और सामाजिक संबंध निश्चित रहता है । नाई, धोबी, लुहार, पासी, चमार, भर आदि जातियों का चित्रण भी जगह-जगह प्रेमचंद ने किया है। ये साल भर किसानों का काम करते हैं, बदले में किसान उन्हें निश्चित अनाज देते हैं । किसान 'जजमान' और ये लोग 'कमीन' कहलाते हैं । त्योहारों के अवसर पर जजमान इन्हें खाने को भी देते हैं । 'पंदगाए' की औरतें भी सोचते हैं कि ''.... ईद का त्योहार, अल्लाह ही बेड़ा पार लगाए । चौखिन और नाईन और मेहतरानी और चूड़िहारिन सभी तो आयेंगी । सभी को सेवैयाँ चाहिए और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता । किस-किससे मुँह चुरायेगी? और मुँह क्यों चुराए ? साल भर का तृयौहार है ।''[45]

खलिहानों का वर्णन करते हुए प्रेमचंदनेइनका वर्णन 'सुन सपेट' में किया है । ''यही चैत के दिन थे । खलिहानों में अनाज के पहाड़ खड़े थे । भाट और भिखारी किसानों की बढ़ती के गाने गा रहे थे । सुनारों के दरवाजे पर रात दिन और आधी रात तक गाहकों का जमघट बना रहता था । दम की साँस उनमें की फुरसत न थी । इधर-उधर दरवाजों पर चौकी खिनतिना रहे थे । देवी के पुजारियों को अजीर्ण हो रहा था ।''[46]

इसके अलावा विभिन्न जातियों की अपनी-अपनी पंचायतें हुआ करती थीं । ये जाति के हितों की रक्षा करती थीं, छोटे-मोटे झगड़े निपटाती थीं और सदस्यों को दंडित या पुरस्कृत करती थीं । 'प्रेमा' और 'प्रतिज्ञा' में समाज सुधारक अमृतराय के नौकरी ने इन्हीं पंचायतों की आज्ञा से काम करना छोड़ दिया था, यहाँ तक कि मुवक्किल भी उनके यहाँ आने बन्द हो गये । इन पंचायतों की आज्ञा का उल्लंघन करना असंभव-सा था ।

विभिन्न जाति के लोगों में एक साथ एक गाँव में रहने से भी आत्मीयता बन जाती है और परस्पर सहयोग के भाव आ जाते हैं । व्यक्ति को अपने गाँव

के निवासी हो जाने में गर्व की अनुभूति होती है । गाँव के किसी किसान की लड़की की शादी दूसरे गाँव में हो जाती है, तब सारा गाँव उसको अपनी लड़की की ससुराल के रूप में ही जानता है । 'बेटी का धन' के जगदू साहू ने इसी संबंध भावना के कारण सुक्खू चौधरी की बेटी गंगा जली के गहने गिरवी नहीं रखे क्योंकि गंगाजली जैसी सुक्खू की बेटी है, वैसी ही गाँव के रिश्ते से जगदू की भी बेटी है । 'लोकमत का सम्मान' के बेचू धोबी को ''यदि उसे वृद्धा किसान स्त्रियों की गालियाँ खानी पड़ती थीं तो बदले में 'बेचू दादा' कहकर पुजौनी आने का गौरव भी प्राप्त होता था । आनंद और शोक के प्रत्येक अवसर पर उसका बुलावा होता था, विशेषतः विवाहों में तो उसकी उपस्थिति वर और वधू से कम आवश्यक न थी । उसकी स्त्री घर में पूजी जाती थी, द्वार पर बेचू का स्वागत होता । वह पेशवाज पहने कमर में घंटियाँ बाँधे साजिंदों को साथ लिये एक हाथ मृदंग और दूसरा अपने कान पर रखकर जब तत्काल रचित विरुद और तोल कहने लगता, तो आत्माभिमान से उसकी आँखें उन्मत्त हो जाती थीं ।''[47]

'गोदान' में प्रेमचंद ने किसान की प्रकृति का विवरण इस प्रकार दिया है: '' किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं । गाँठ से सिक्का दे पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में भी वह चौकस रहता है, खरा की एक-एक पाई भुनाने के लिए वह महाजन की घण्टों खिदमत करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता, लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है । वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें खाता है ; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है ; गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीता है, दूसरे भी पीते हैं ; मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है । ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान ? कोरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था ।''[48]

लेकिन किसान इतना दया-धर्म का पुतला नहीं होता । वह धर्म भीरु अवश्य होता है, लेकिन आपसी - संबंधों में ईर्ष्या और द्वेष की मात्रा भी कम नहीं होती।

किसी किसान की बढ़ती देखकर दूसरे के मन में द्वेष भी बढ़ता है और सब लोग मिलकर उसे नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं । उन्हें अपने विकास की चिंता से ज्यादा दूसरों को गिराने की चिंता ज्यादा रहती है, ताकि उसकी बराबरी मिट्टी जाये ।

'मुक्तिमार्ग' में बुद्धू गड़रिया और घीसू किसान में कुछ ऐसा-सुनी हो गयी । बुद्धू ने घीसू की ऊख जला दी । वास्तव में कि इससे बुद्धू को कोई व्यक्तिगत फायदा नहीं हुआ, लेकिन घीसू मजदूर बन गया । इस ईर्ष्या की अग्नि घीसू के मन में जगी और गऊ हत्या का पाप लगवाकर उसे भी बेगारी कर दिया । इस ईर्ष्या के साथ-साथ किसानों में पश्चात्ताप के भाव भी होते हैं। आग लगाने के बाद बुद्धू ने न केवल उसे बुझाने का ही प्रयास किया, बल्कि घीसू की हर तरह से मदद भी करने लगा । जहाँ कहीं भी बराबर का किसान आगे बढ़ने लगता है, शेष लोग उसकी टाँग खींचने पर उतारू हो जाते हैं, व्यंग्य कसते हैं, ताने देते हैं और खुद दया-धर्म के पुतले बन जाते हैं ।[49] 'पंच-परमेश्वर' में भी इस तरह के भाव किसानों में मिलते हैं । 'समर यात्रा' में खेतों और नौकरी के संबंधों में भी ईर्ष्या का अंश मौजूद है ।

किसानों में इसी कारण छोटे-मोटे झगड़े भी होते रहते हैं । अधिकतर इनका कारण जमीन होती है । 'पंच-परमेश्वर' के जुम्मन और उसकी खाला में जमीन का ही झगड़ा है । 'लाग डाँट' के जोखू भगत और केदार चौधरी में जो तीन पीढ़ियों से झगड़ा चला आ रहा था, उसके मूल में भी डाँड़-मेंड़ की जमीन थी। इन झगड़ों से गाँव दो हिस्सों में बँट जाता है । उनके पारिवारिक, व्यक्तिगत मामलों में भी जानबूझकर भिन्नता पैदा कर दी जाती है । 'लाग डाँट' में 'चौधरी कपड़े पहने सत्तू खा लेते और भगत को टीमी रहते । भगत बिना कपड़े उतारे पानी भी न पीते और चौधरी को भ्रष्ट बतलाते । भगत सनातनधर्मी बने, तो चौधरी ने आर्यसमाज का आश्रय लिया । जिस बजाज, पनसारी या कुंजड़े से चौधरी सौदा लेते, उसकी ओर भगतजी ताकना भी पाप समझते थे और भगत जी के हलवाई की मिठाइयाँ, उनके ग्वाले का दूध और तेली का तेल चौधरी के

लिए त्याज्य थे । यहाँ तक कि उनके आराध्यता के सिद्धान्तों में भी भिन्नता थी । भगत जी वेदान्त के कायल थे, चौधरी यूनानी प्रथा के मानने वाले ।''[50]

किसानों में झगड़ा संपूर्ण अर्थ में होता है । झगड़े वाले व्यक्ति का ये सामाजिक बहिष्कार कर देते हैं । उसके घर नहीं जाते, उससे बात तक नहीं करते । 'प्रेमाश्रम' के किसान साए जब गाँव वालों के खिलाफ़ सरकारी गवाह बन गया तो किसानों ने उसकी दुकान से सौदा लेना भी बन्द कर दिया ।[51] लेकिन पंचायत आदि के द्वारा जब सुलह हो जाती है, फिर उनमें परस्पर व्यवहार होने लगता है ।

प्रेमचंद ने दिखाया है कि भारतीय किसानों के बीच न्याय की एक परंपरागत रीति भी प्रचलित है, जो आधुनिक संविधि न्याय से ज्यादा सच्ची है । वास्तव में, गाँव में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक बात को जानता है कि आपसी झगड़ों में सच्च क्या है? सभी सब जानते हैं । फिर गाँव की पंचायतों में सभी परिचित व्यक्ति होते हैं । उनके सामने झूठ बोलना काफी साहस और बेहयाई का काम है । इसलिए 'पंच परमेश्वर' में मित्र होते हुए भी अलगू चौधरी ने दुश्मन का पक्ष नहीं लिया। 'ईश्वरीय न्याय' में भानु कुँवरी अदालत में पराजित हो जाती है, लेकिन विशाल जन-समूह के बीच जब वह सत्यनारायण से पूछती है, तो मुंशी सत्यनारायण भी झूठ नहीं बोल पाते । यह लोकमत का भय है, जिसे न्याय होता है ।

किसानों में आर्थिक विषमता के बावजूद सहयोग की भावना रहती है । इसीलिए चोरी की गाय को देखने रात को ही पंडित दातादीन आ जाते हैं । झुनिया की शादी तय करवाने में बिचोलिये का काम करते हैं । इसी अपनापे के अधिकार भाव से किसान एक दूसरे को समझते रहते हैं । गाँव में किसी की व्यक्तिगत बात भी उतनी व्यक्तिगत नहीं होती । लोग एक दूसरे के व्यक्तिगत जीवन की जानकारी लेने के इच्छुक रहते हैं । होरी और धनिया के झगड़े में सारा गाँव तमाशा देखने के लिए इकट्ठा हो जाता है । 'बड़े घर की बेटी' में जब बीरेंद्र सिंह अपने पिता से लड़ने लगते हैं —''इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के - चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे । कई स्त्रियों ने जब सुना कि

धीरंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार है, तो उन्हें बड़ा दर्प हुआ । दोनों पत्नी की मधुरवाणियां सुनने के लिए उनकी आत्माएं तलमलाने लगीं ।... ... कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया ।''[52] गाँव में घटने वाली प्रत्येक छोटी-मोटी घटना के अवसर पर सारा गाँव इकट्ठा हो जाता है । 'गोदान' में पंचायत होती है, सारा गाँव देखने आ जाता है । 'प्रेमाश्रम' में छिट्टी ज्वालासिंह गाँव का दौरा करने आते हैं, सारा गाँव हाजिर है । पोरी की गाय आई, सारे गाँव ने आकर देखा । 'दो बैलों की कथा' में दोनों बैल वर्षों बाद वापस पुरी झाली के घर आये, सारा गाँव इकट्ठा हो गया । प्रत्येक शादी-गमी के अवसर पर इस तरह की सामूहिक भागीदारी किसान जीवन की आम विशेषता है ।

प्रेमचंद ने किसानों के सामूहिक मिलन के स्थानों का भी वर्णन किया है । मेले-ठेले के अलावा, खेत - खलिहान में, साह की दुकान पर, किसी के घर पर किसान मिल-बैठकर अपने सुख-दुख की बातें करते हैं । मंडी से आते-जाते रास्ते में पोरी और गिरधर में बातचीत होती है । लेकिन उनके मिलने का मुख्य स्थान अलाव होता है । सर्दियों में उसके चारों ओर किसान आकर बैठ जाते हैं और मुंह फोंक बातालाप करते हैं । प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में अलाव का वर्णन किया है । पाकिम के दौरे के बाद थके-हारे किसान बैठकर दिनभर के क्रियाकलापों पर निस्संकोच टिप्पणी करते हैं । ऐसे अवसर पर किसान बहुत ईमानदारी से बातचीत करता है और अपने द्वारा किये गये बुरे कामों को भी स्वीकार कर लेता है ।

प्रेमचंद ने गाँवों में मनाये जाने वाले त्योहारों का विवरण जगह-जगह बखूबी ढंग से दिया है । त्योहारों की उमंग में भी ये किसान जीवन के दुखों को भूल नहीं पाते । प्रेमचंद ने लिखा है, '' देहातों में साल में छः महीने किसी न किसी उत्सव में ढोल मजीरा बजता रहता है । होली के एक महीने पहले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है ; आषाढ़ लगते ही आल्हा शुरू हो जाता है और सावन-भादों में कजलियां होती हैं । कजलियों के बाद रामायण-गान होने लगता है । समेरी भी अपवाद नहीं है । मलाजन की धमकियां और कारिन्दों की बोलियां

एक समारोह में बाधा नहीं डाल सकती । घर में अनाज नहीं है, देह पर कपड़े नहीं हैं, गाँठ में पैसे नहीं हैं, कोई परवाह नहीं । जीवन की आनन्द वृत्ति तो दबाई नहीं जा सकती, उसे बिना तो किया नहीं जा सकता ।'' [53]

यह सूचनात्मक विवरण से स्पष्ट है कि प्रेमचंद ने संक्षेप में सारे त्योहारों की सूचना देकर छुट्टी ले ली है, जिससे मूल विषय पर लौटा जा सके । 'गोदान' में होली का वर्णन अवश्य किया गया है, लेकिन वहाँ भी होरी के सौंदर्यबोध का चित्रण उतना उभरकर नहीं आया है, जितना लेखक ने उस बहाने किसानों के शोषण की प्रक्रिया का उद्घाटन किया है । इसी तरह 'ईदगाह' कहानी में भी ईद का त्योहार प्रमुख नहीं है — प्रमुख है हामिद के मनोभाव । इसीलिए उन्होंने शादी - ब्याह के उत्सव पर धर्म पक्ष का चित्रण कम ही कम किया है ।

प्रेमचंद ने गाँव जीवन में व्याप्त यौनिक यौन-संबंधों का चित्रण भी किया है । होरी की शादी के बाद सिंगारी सिंह आदि होरी के घर चक्कर काटा करते थे । नोखेराम के संबंध मीना की पत्नी नोहरी से थे और इसे मीना जानता भी था, लेकिन वह कुछ भी नहीं कर सकता था । मातादीन और सिलिया के संबंधों की जानकारी तो सारे गाँव के लोगों को थी और इस कारण ही कई बार मातादीन को नीचा देखना पड़ता था और इसी कारण मातादीन की सगाई भी नहीं हो पा रही थी । नयी शिक्षा प्राप्त छैले नवयुवकों में इस रसिकता की मात्रा कुछ अधिक है । 'विस्मृति' का कारिंदा में इस तरह की प्रवृत्तियाँ थीं । इसी कारण दूजी के भाईयों ने उसकी हत्या कर दी थी । सोना के बढ़ी पेट जनि पर होरी में यह चिन्ता भी लगी रहती है । धुनिया ने गोबर को इसी तरह की एक सजा सुनायी थी । सामान्यतः ऐसी घटनाओं को लोग बुरा नहीं समझते थे और लोकमत का भय गाँव के लोगों को इस तरह की उच्छृंखलता से रोकता रहता है ।

प्रेमचंद ने किसानों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का चित्रण उनकी सामान्य जीवन - पद्धति के संदर्भ में ही किया है । जीवन - संग्राम की भीषणता ने उनके

मन में असुरक्षा की भावना आ जाती है, इसीलिए कष्टों के बावजूद वे परिवर्तन का विरोध करते हैं और परंपरागत संस्कृति को अपने लिए ग्राह्य मानते हैं। आधुनिकीकरण और नगरीकरण के प्रभाव से उनमें परिवर्तन हो रहा है। 'गोबर' शहर से आकर कितना बदल गया है, इसे धौरी और धनिया भी महसूस करती हैं। वह धर्म के प्रभुत्व से मुक्त हो चुका है और राजनीति से भी उसका थोड़ा-थोड़ा परिचय हो गया है। फिर भी गाँव की संपूर्ण संस्कृति पर गोबर का प्रभाव नहीं के बराबर ही है। उसको लोग सम्मान की दृष्टि से अवश्य देखते हैं, लेकिन उसके अनुसार जीवन जीने के लिए तैयार नहीं है।

—

टिप्पणियाँ

1- 'प्रेमाश्रम', पृ० 67

2- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 67

3- मानसरोवर, भाग-4, पृ० 199

4- '' भैया, तब की बातें जाने दो । ..... जब कोई काम-काज पड़ता था, तब एमको नेवता मिलता था । लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी, चारा और 25/- रुपये दिया हुआ था । यह सब जानते हो कि नहीं । जब यह अपने लड़कों की तरह पालते थे तो रैयत भी वैसी-खुशी उनकी बेगार करती थी ।'' 'प्रेमाश्रम', पृ० 14-15

5- '' ठाकुरद्वारे में कोई-न-कोई उत्सव रोज़ ही रहता था । कभी ठाकुरजी का जन्म है, कभी ब्याह है, कभी यज्ञोपवीत है, कभी झूला है, कभी जल-विहार है । असामियों को इन अवसरों पर बेगार देनी पड़ती थी ; भेंट-न्योछावर, पूजा-चढ़ावा आदि नामों से दस्तूरी चुकानी पड़ती थी ;...'' 'कर्मभूमि', पृ० 288-289

6- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 38

7- श्री राजेन्द्रसिंह ने 'Peasant Movements in Uttar Pradesh' में लिखा है — "We can look at it as an encounter between two cultural forces — traditional culture of inequality and the modern culture of equality. While the traditional leadership buttressed the former, the modern political elite helped promoted the latter." 'Social Movements in India' Vol. 1, pp.98, edited M S A RAO, Manohar Publications, 2 Ansari Road, Daryaganj, New Delhi, 1978.

8- मानसरोवर, भाग-5, पृ० 48, सैर प्रयाग, इलाहाबाद

9- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 116

10- 'अलगोझा' का रग्घू, 'दो भाई' के देवार और माधव, 'गोदान' का होरी अलगोझे के दिन भाईचारा तोड़ना नहीं चाहते ।

11- मानसरोवर, भाग-4, पृ0 189

12- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 17

13- ''कोई तो कलेजा तोड़-तोड़कर कमाए, अगर पैसे-पैसे को तरसे, तन ढकने को वस्त्र तक न मिले, और कोई सुख की नींद सोए, जब चढ़ा-चढ़ी के साए । ऐसी अंधेर नगरी में अब हमारा निबाह न होगा ।'' मानसरोवर, भाग-7, पृ0 169

14- ''प्यारी के अधिकार में आते ही उस घर में जैसे बरकत आ गया । भीतर-बाहर जहां देखिए, किसी निपुण प्रबंधक के हस्त-कौशल, सुविचार और सुरुचि के चिन्ह दीखते थे । प्यारी ने गृह यंत्र की ऐसी चाभी कस दी थी कि सभी पुरजे ठीक-ठीक चलने लगे थे ।'' मानसरोवर, भाग-1, पृ0 127

15- मानसरोवर, भाग-5, पृ0190

16- 'सुजान भगत' में इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार है — '' सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे । किस खेत में क्या बोना है, किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज बिकी, ऐसी-ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों में भी भगतजी की सलाह न ली जाती थी । भगत के पास कोई जाने भी न पाता । दोनों लड़के स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला तय कर लिया करते ।'' मानसरोवर, भाग-5, पृ0185-186

17- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 126

18- ''तब उसने बाहर निकल कर देखा, कितना कूड़ा-करकट पड़ा हुआ है। बहू दिन भर मक्खी मारा करते हैं ।.....

'' उसने मुन्नी के पास जाकर नदि में झांका । दुर्गंध आ रही थी । ठीक । मालूम होता है, महीनों से पानी नहीं बदला गया ।....''
मानसरोवर, भाग-1, पृ0 127

19- '' दोनों भाई जब लड़के थे, तब एक की रोटी देख, दूसरा भी रोने लगता था, तब वह नादान, बेसमझ और भोले थे । आज एक को रोटी

देख, दूसरा हँसता और तालियाँ बजाता । अब वह समझदार और बुद्धिमान हो गये थे ।'' मानसरोवर, भाग-7, पृ० 216-217

20- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 258

21- मानसरोवर, भाग-5, पृ० 111

22- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 35

23- ''छोटे-छोटे लड़के दिन-दिन भर भूखे रह जाते । किसी को कुछ खाते देखते तो घर में जाकर माँ से माँगते । फिर माँ से माँगना छोड़ दिया । खाने वालों के सामने जाकर खड़े हो जाते और तृषित नेत्रों से देखते । कोई तो मुट्ठी भर चबेना निकालकर दे देता ; पर प्रायः लोग दुत्कार देते थे ।'' मानसरोवर, भाग-7, पृ० 212

24- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 13

25- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 145

26- गोदान, पृ० 92

27- मानसरोवर, भाग-5, पृ० 188

28- गोदान, पृ० 27

29- मानसरोवर, भाग-5, पृ० 189

30- मानसरोवर, भाग-6, पृ० 218

31- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 23

32- प्रेमाश्रम, पृ० 261-262

33- '' इसके बाद संग्राम छिड़ गया । तानें-मेहने, गाली-गलौज, धक्का-धक्कीपत, कोई बात न बची । गोबर भी बीच-बीच में डंक मारता जाता था । दोनों पड़ोसिनें बैठी सब कुछ सुन रही थीं ।.... गरजन के बीच में कभी-कभी बूँदें भी गिर जाती थीं । दोनों ही अपने-अपने भाग्य को रो रही थीं । दोनों ही ईश्वर को कोस रही थीं, और दोनों ही अपनी-अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर रही थीं । दुनिया गड़े मुर्दे उखाड़ रही थी । आज उन्हें धनिया और शोभा से विशेष सहानुभूति हो गई थी, जिन्हें धनिया ने कभी दो न

रखा था । धनिया की आज तक किसी से न पटी थी, तो पुनिया से कैसे पट सकती थी ? धनिया अपनी सफाई देने की चेष्टा कर रही थी ; लेकिन न जाने क्या बात थी कि जनमत पुनिया की ओर था । शायद इसलिए कि पुनिया संयम हाथ से न जाने देती थी और धनिया दाँत पीसे बाहर थी । शायद इसलिए कि पुनिया अब कुमारी पुत्र की स्त्री थी और उसे प्रसन्न रखने में ज्यादा मसलहत थी ।'' 'गोदान', पृ०190

34- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 17

35- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 124

36- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 235

37- सेवासदन, पृ० 15

38- गबन, पृ० 8

39- गबन, पृ० 9

40- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 14

41- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 146

42- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 152

43- मानसरोवर, भाग-3, पृ० 242

44- वही, पृ० 252

45- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 37

46- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 10

47- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 281

48- गोदान, पृ० 11-12

49- 'बलिदान' में गिरधारी के खेत कालिकादीन ले लेता है । एक दिन गिरधारी की पत्नी झगड़ा करने जाती है । '' पड़ोसियों ने उसका पक्ष लिया, सब तो है, आपस में यह चढ़ा-ऊपरी नहीं करना चाहिए । नारायण ने धन दिया है, तो क्या गरीबों को कुचलते फिरेंगे ।'' मानसरोवर, भाग-8, पृ०72

50- मानसरोवर, भाग-6, पृ० 202

51- ''..... अब कोई उधर नहीं जाता । ऐसा आदमी का मुँह देखना पाप है । लोग दूसरे गाँव से नोन-तेल लाते हैं । वह भी अब घर से बाहर नहीं निकलता, दूकान उठा दी है ।'' 'प्रेमाश्रम', पृ० 315

52- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 148

53- गोदान, पृ० 181

—

सातवाँ अध्याय

प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि

जीवन-दृष्टि और साहित्य :

प्रेमचंद एक सोद्देश्य रचनाकार हैं । उन्होंने सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और हितकर साहित्य की रचना की है । वे साहित्य को सिर्फ मन बहलाव का साधन नहीं मानते थे, बल्कि वे साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानते थे । उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' (1936) के अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि '' हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो — जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलायें नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है ।''[1] उनके लिए साहित्य 'जीवन की आलोचना' है । उससे हमारी जीवन ज्ञान में वृद्धि होती है और जीवन को बदलने, उसे सुधारने-संवारने की आकांक्षा पैदा होती है । निश्चय ही प्रेमचंद का साहित्य उन कलावादी रचनाकारों से भिन्न है, जो साहित्य को सिर्फ कलात्मक उपलब्धियों पर ही मुग्ध होकर रह जाते हैं । कलावादी रचनाकारों से 'उपयोगितावादी' रचनाकार इस अर्थ में भिन्न होते हैं कि कलावादी रचनाकार जहाँ समाज में व्याप्त प्रभुत्वशाली विचारधारा को मान लेते हैं, वहाँ उपयोगितावादी रचनाकार अपनी जीवनदृष्टि के निर्माण के लिए संघर्ष करते हैं । उन्हें समकालीन विचार-प्रणालियों का मंथन करना पड़ता है और उसी मंथन में से अपने लिये जीवन-दृष्टि का सर्जन करना पड़ता है । प्रत्येक रचनाकार को इस जीवन दृष्टि का सर्जन करना पड़ता है, वह उसे अपने आप नहीं मिल जाती । कलावादी रचनाकार इस तरह का कोई प्रयास नहीं करते । वे समाज में व्याप्त कुछ विचारों को मान लेते हैं और फिर उसी दायरे में अपनी रचनाएँ करते रहते हैं । हिंदी के रीतिकालीन रचनाकारों ने जीवन-दृष्टि के निर्माण का यह संघर्ष नहीं किया था । वे अपने समय के समाज में हो रही वैचारिक टकराहट

से उदासीन ही रहे । प्रेमचंद उन रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने इस वैचारिक संघर्ष में न केवल हिस्सा लिया, बल्कि उसी संघर्ष काल में अपनी जीवन-दृष्टि का भी निर्माण किया । प्रेमचंद ने साहित्य के कलात्मक पक्ष को हमेशा गौण समझा, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं की । उपयोगितावादी रचनाकारों को दोहरे दो स्तरों पर एक साथ संघर्ष करना पड़ता है — कलात्मक उपलब्धियों के लिए और वैचारिक दृष्टि के विकास के लिए । मुक्तिबोध ने कलाकार के तीन प्रकार के संघर्षों का जिक्र किया है — 1- तत्व के लिए संघर्ष, 2- अभिव्यक्ति की सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, 3- दृष्टि विकास का संघर्ष । प्रथम का संबंध मानव वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन - अवलोकन से है । दूसरे का संबंध विश्लेषण-सामर्थ्य से है और तीसरे का संबंध थियरी से है, विश्वदृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है ।[2] प्रत्येक सजग और सार्थक रचनाकार को ये संघर्ष करने पड़ते हैं, अन्यथा उसकी रचना कमजोर और अप्रासंगिक हो जायेगी। जो रचनाकार जीवन दृष्टि के निर्माण के संघर्ष पर बल नहीं देते, उनकी रचना में प्रस्तुत जीवन मांस के उस लोथड़े के समान होता है, जिसमें चेतना नहीं होती। ऐसी रचनाएँ खंड-खंड में अवश्य प्रभावित करती हैं, लेकिन उनसे पाठकों की चेतना का विकास नहीं हो पाता ; सिर्फ बौद्धिय बोध तक ही उनका प्रभाव पड़ता है । जीवनदृष्टि के निर्माण के लिए संघर्ष न करने वाले रचनाकारों की रचनाओं में भी एक दृष्टि अवश्य होती है, उसका पुष्ट ज्ञानात्मक आधार नहीं होता, बल्कि प्रचलित सामान्य ज्ञान पर आधारित होती है ।

कुछ ऐसे रचनाकार होते हैं, जिनके पास अपनी सुसंगत जीवन दृष्टि होती है । वे कलाकार के साथ-साथ चिंतक भी होते हैं । ऐसे लोग अपने दार्शनिक विचारों को व्यवस्थित करके एक दर्शन का रूप देने का प्रयास करते हैं, या फिर समाज में उपलब्ध किसी विशिष्ट दर्शन को आत्मसात कर लेते हैं । ये दार्शनिक विचार उनकी सर्जनात्मक कृतियों में अन्तःस्यूत रहते हैं । सर्जनात्मक कृतियों के अलावा वैचारिक गद्य कृतियों में इनके विचार व्यवस्थित रूप से मिलते हैं ।

छायावादियों में जयशंकर प्रसाद ने अपने विचारों को दार्शनिक ढंग से व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है । यह संभव है कि ऐसे सभी रचनाकार अपना विशिष्ट जीवन-दर्शन निर्मित न कर पाएँ, लेकिन उनका यह प्रयास दृष्टव्य है । ऐसे रचनाकारों की रचनाओं में कई बार एक विशेष प्रकार का अन्तर्विरोध भी मिलता है जो उनके कलाकार और दार्शनिक के विरोधी स्वभाव से पैदा होता है । आदर्शवादी रचनाकारों की रचनाओं में अक्सर यह अन्तर्विरोध मिलता है । व्यक्तित्व दृष्टि से किसी विशेष दर्शन को अपना लेने से भी इस तरह का अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है ।

प्रेमचंद इस कोटि के रचनाकार नहीं हैं । उन्होंने व्यवस्थित रूप से अपने जीवन-दर्शन को प्रस्तुत नहीं किया है, न उन्होंने अपने विचारों को व्यवस्थित और दार्शनिक रूप से सजाया ही है । फिर भी, उन्होंने अपनी जीवन-दृष्टि के निर्माण और विकास के लिए अथक परिश्रम और संघर्ष किया है । अपने युग में प्रचलित तमाम विचारधाराओं और दर्शनों से संघर्ष करते हुए उन्होंने जीवन जीने के कुछ मानदंड निकाले हैं । प्रेमचंद के पास अपना कोई दर्शन नहीं है, बल्कि अपने जीवन की एक संगत परिकल्पना है । इस परिकल्पना के आधार पर ही उन्होंने समकालीन जीवन की आलोचना की है । इस आलोचना से उनकी जीवन दृष्टि के कुछ प्रतिमान निकलते हैं । इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर हम उनकी जीवनदृष्टि को परिभाषित कर सकते हैं । उन्होंने अपनी जीवनदृष्टि के निर्माण के लिये जो संघर्ष किया है, उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके साहित्य में बहुत कम हुई है । उन्होंने अपने जीवनमूल्यों के अनुसार जीवन यथार्थ को चित्रित किया है। उस चित्रित जीवन यथार्थ के विश्लेषण के माध्यम से ही उनकी जीवन दृष्टि को समझा जा सकता है । यह प्रक्रिया अत्यंत जटिल होती है । इसमें जरा-सी चूक कई गलत निष्कर्षों तक हमें पहुँचा सकती है ।

इस अध्याय का शीर्षक जानबूझकर प्रेमचंद की 'विचारधारा' न रखकर प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि रखा गया है । इसका एक कारण तो यह है कि विचार-धारा जितनी व्यवस्थित, स्पष्ट और कार्यकारण शृंखला से बद्ध होती है, उतनी

प्रेमचंद की रचनाओं में नहीं मिलती । दूसरे, रचनाकार अपनी कृतियों में विचार-धारा को जीवन-दृष्टि में रूपान्तरित करके ही प्रस्तुत कर सकता है । लेखक की विचारधारा जब तक उसकी जीवनदृष्टि में नहीं बदल जाती, तब तक विचारधारा कला रचना का एक बाह्य और आरोपित तत्त्व ही रहती है । जो रचनाकार विचारधारा को जीवन-दृष्टि में रूपान्तरित नहीं कर पाते, उनकी रचना पर विचारधारा हावी होती हुई दिखायी देती है, पात्र सिर्फ प्रवक्ता बन कर रह जाते हैं, रचना यथार्थ खंडित हो जाता है और इस तरह रचना में व्यक्त यथार्थ और विचारधारा एक दूसरे को नकारते रहते हैं । जब विचारधारा रचनाकार की जीवनदृष्टि में बदल जाये और जीवन - दृष्टि जीवन यथार्थ में घुलमिलकर रचना-रूप में उपस्थित हो जाये, तभी रचना प्रभावशाली हो सकती है । निश्चय ही यह अत्यंत जटिल प्रक्रिया है, जो रचनाकार के आत्म-संघर्ष और रचनात्मक संघर्ष के बाद ही घटित होती है । प्रगतिशील रचनाकारों को इस संघर्ष से अनिवार्यतः जूझना पड़ता है । वास्तव में, समग्र दृष्टि सम्पन्न रचनाकार जीवन को वांछित और निर्दिष्ट रूप में देखना चाहते हैं । उनका वांछित जीवन सुव्यवस्थित होता है, लेकिन वास्तविक जीवन इतना व्यवस्थित और निर्दिष्ट नहीं होता । इस बिखरे हुए , अव्यवस्थित जीवन को दृष्टि सम्पन्न रचनाकार को व्यवस्थित करना होता है । इस कलात्मक समस्या का सामना प्रत्येक दृष्टि सम्पन्न रचनाकार को करना पड़ता है ।

कुछ आलोचक लेखक की जीवनदृष्टि को उसकी सिर्फ राजनीतिक दृष्टि का पर्याय मानते हैं । जैसा कि रूसी आलोचक प्लेखानोव ने लिखा है कि जीवन-दृष्टि सिर्फ राजनीतिक दृष्टि ही नहीं होती, बल्कि उसमें दर्शन, इतिहास, समाज, नीति, सौंदर्य-शास्त्र संबंधी अनेक प्रश्न शामिल होते हैं । जीवन दृष्टि में वर्गों के आपसी संबंध, समाज में व्यक्ति की स्थिति, प्रकृति की अवधारणा, ज्ञान की समस्या भी शामिल है । कई बार ऐसा भी होता है कि लेखक की राजनीतिक दृष्टि उसके सामाजिक, ऐतिहासिक घटनाओं संबंधी अन्य विचारों से असंबद्ध भी होती है ।[3]

कई बार इनमें विरोध भी हो सकता है । इसलिये लेखक के राजनीतिक विचारों को उसके सम्पूर्ण विचारों का प्रतिनिधि नहीं मान लेना चाहिए । कई बार लेखक के राजनीतिक विचारों को ऐतिहासिक शक्तियां भी संकुचित होने के लिए बाध्य कर देती हैं । रचनाकार अपनी आत्मिक शक्तियों से उन ऐतिहासिक शक्तियों में परिवर्तन नहीं कर सकता, उनमें तो सामाजिक शक्तियां ही परिवर्तन ला सकती हैं । इसलिए लेखक के राजनीतिक विचारों को अतिरिक्त महत्व नहीं दिया जाना चाहिए ।

प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि का मूल्यांकन करते समय इस ओर भी ध्यान रखा जाना चाहिए । प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के कुछ बिन्दु गांधीजी से मिलते हैं, गांधीजी के नेतृत्व में चल रहे स्वाधीनता आन्दोलन का प्रेमचंद समर्थन करते हैं ; इसी कारण कुछ लोगों ने प्रेमचंद को गांधीवादी साहित्यकार घोषित किया है । प्रेमचंद ने स्थान-स्थान पर समाजवादी विचारों का भी समर्थन किया है । उन्होंने 1917 की रूसी क्रांति का जोरदार समर्थन किया था । ''पुराना जमाना : नया जमाना' ('जमाना' 1919) लेख में प्रेमचंद ने रूसी क्रांति की महान उपलब्धियों में ही मानवता का भविष्य देखा है । 'प्रेमाश्रम' में बलराज के पास एक अखबार आता है, जिसमें रूसी क्रांति की खबरें छपती हैं, जहां किसान-मजदूरों का राज्य है । यही नहीं 1935 ई० में उन्होंने दयानारायण निगम को पत्र में लिखा था कि ''मैं अब करीब-करीब बोलेविक उसूलों का कायल हो गया हूं ।''[4] इसके अलावा जब प्रेमचंद ने 'हंस' और 'जागरण' निकाला था, तब उनमें उन्होंने समाजवादी रूस के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास पर कई टिप्पणियां लिखी थीं ।[5] और इस संबंध में कई लेखकों से स्वतंत्र लेख भी लिखवाये थे । गोर्की प्रेमचंद के प्रिय लेखक थे । इसके अलावा उन्होंने रूसी साहित्य भी पढ़ा था । सबसे बड़ी चीज यह कि उन्होंने लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की थी । इसी आधार पर प्रेमचंद को कुछ आलोचक समाजवादी रचनाकार भी मानते हैं ।

प्रेमचंद को जिस तरह पूरी तरह गांधीवादी नहीं कहा जा सकता, उसी तरह उनको समाजवादी भी नहीं कहा जा सकता । प्रेमचंद के लिये समाजवाद एक आकांक्षा, एक स्वप्न, एक आदर्श स्थिति है । समाजवाद उनके लिये ऐसा आदर्श है जो बहुत दूर है, अगर आ जाये तो बहुत अच्छा है, लेकिन ऐसा होता दिखायी नहीं देता । समकालीन भारत की वास्तविक परिस्थितियों के ऐतिहासिक विश्लेषण से प्रेमचंद ने यही निष्कर्ष निकाला था । अतः उनकी जीवन दृष्टि में समाजवाद एक वांछित स्थिति मात्र है — रचना-प्रक्रिया में उसकी सक्रिय भूमिका नहीं है । गोर्की के उपन्यास 'मां' में जिस प्रकार समाजवाद की परिकल्पना सजीव रूप में मिलती है, वैसी 'प्रेमाश्रम' या 'गोदान' में नहीं है । प्रेमचंद को कभी गांधीवादी और कभी समाजवादी इसलिये कह दिया जाता है क्योंकि आलोचक प्रेमचंद के कुछ छिटपुट राजनीतिक टिप्पणियों को अपने निष्कर्षों का आधार बना लेते हैं और इस तरह उनके रचनात्मक साहित्य के वस्तुगत विश्लेषण का प्रयास नहीं करते । उनके सर्जनात्मक साहित्य के सांगोपांग विश्लेषण के आधार पर ही उनकी जीवन-दृष्टि को परिभाषित किया जाना चाहिये ।

इसी तरह कई बार किसी पात्र के विचारों को भी लेखक के विचार मान लेने की पद्धति रही है । 'रंगभूमि' के सूरदास को गांधीजी का प्रतीक मानकर प्रेमचंद का प्रवक्ता माना जाता रहा है । इसी तरह 'गोदान' में मेहता के विचारों को प्रेमचंद के विचार मानने का भी प्रचलन रहा है । इस प्रक्रिया में लेखक और पात्र के जटिल संबंधों का सरलीकरण कर लिया जाता है । लेखक अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि के अनुरूप ही किसी पात्र को उपस्थित करता है, लेकिन लेखक से स्वतंत्र पात्र का अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व होता है । इसी तरह लेखक के व्यक्तित्व का एक अंश चाहे कि पात्र में होता है, फिर भी वह उससे स्वतंत्र होता है । रचनाकार का व्यक्तित्व संपूर्ण रचना में घुला मिला होता है, किसी एक पात्र में नहीं । इसी तरह किसी एक रचना में भी लेखक अपने को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाता, संभवतः इसीलिए वह एक से अधिक रचना करता

है, फिर भी उसे संतोष नहीं हो पाता । रचनाकारों ने इस तरह के रचनात्मक असंतोष का जिक्र अनेक बार अनेक प्रसंगों में किया है ।

गांधीजी और प्रेमचंद :

प्रेमचंद को गांधीवादी मानने वाले आलोचक इसी तर्क - पद्धति से अपने निष्कर्ष निकालते हैं । प्रेमचंद गांधीजी का सम्मान करते थे, यह सही है । उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया था और उसी प्रभाव से नौकरी भी छोड़ दी थी । उन्होंने गांधीजी द्वारा चलाये जा रहे स्वाधीनता - आन्दोलन का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है और उसमें सफलता की कामना की थी । यहाँ तक कि गांधीजी का नाम वह भी समकालीन अनेक भारतीयों की तरह सम्मान और गर्व के साथ लेते थे । यह सभी सत्य है । लेकिन इसी से उन्हें गांधीवादी नहीं कहा जा सकता है । उनकी विचार-प्रणाली के कुछ मूलभूत विरोधों का जिक्र किया जाना चाहिये ।

सबसे पहली बात तो यह है कि गांधीजी आस्तिक थे और प्रेमचंद नास्तिक । गांधीजी नियमित रूप से गीता का पाठ करते थे, और ईश्वर में अपनी आस्था व्यक्त करते थे । गांधीजी की ईश्वर भक्ति सिर्फ जनता को राजनीतिक रूप में लाने की चाल मात्र नहीं थी । वे उसमें हृदय से विश्वास करते थे । प्रेमचंद ईश्वर को नहीं मानते थे । इस तरह सृष्टि की उत्पत्ति और संचालन संबंधी प्रत्येक आध्यात्मिक विचार-प्रणाली के विरुद्ध थे । इसके अलावा गांधीजी और प्रेमचंद के सामाजिक विचारों में भी बुनियादी विरोध था । गांधीजी समाज में जो वर्ग-भेद को टालना चाहते थे । उन्होंने वर्ग-सहयोग के आधार पर संपूर्ण देश को संगठित करने का प्रयास किया था । मजदूर और पूंजीपति, किसान और जमींदार के संघर्ष को गांधीजी अनिवार्य नहीं मानते थे । इसे टालने के लिए उन्होंने पूंजीपतियों की परिकल्पना ट्रस्ट के संचालक के रूप में की । 'हृदय-परिवर्तन' के द्वारा पूंजीपतियों को परिवर्तित करने का प्रयास वे जैसा करते थे । इसी तरह

जमींदार और किसान के आपसी संघर्ष को भी वे दबाना चाहते थे । वे स्वाधीनता आन्दोलन को इस रूप में संगठित करना चाहते थे, जिसमें मजदूर और पूंजीपति, किसान और जमींदार, हिन्दू-मुसलमान, सभी मिल-जुलकर हिस्सा लें । इस तरह साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भारतीयों की विजय हो । सीमा में गांधीजी के राजनीतिक - सामाजिक विचारों का केन्द्र बिन्दु यही है । अगर इसी आधार पर प्रेमचंद साहित्य का अध्ययन किया जाय तो हमें पता चलेगा कि प्रेमचंद गांधीजी के रचनात्मक स्तर पर कितने दूर हैं ।

प्रेमचंद की रचनाओं में वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति कुलका पुई है । प्रेमचंद की रचनाओं में पूंजीपति और मजदूर, जमींदार और किसान के बुनियादी हित विरोध को रेखांकित किया गया है । और इस संघर्ष में प्रेमचंद ने हर जगह किसान-मजूरों का पक्ष लिया है । हर जगह उन्होंने किसानों के संघर्ष को उचित ठहराया है । 'प्रेमाश्रम' में मनोहर कादिर खाँ की हत्या कर देता है । लेखक ने कहीं भी मनोहर की आलोचना नहीं की है, बल्कि उसके इस वीरतापूर्ण कृत्य की तारीफ सुक्खू चौधरी जैसे किसानों से करवायी है ।[6] 'रंगभूमि', 'गोदान', 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासों में जहाँ भी किसान जमींदारों के विरुद्ध लड़ते हैं, प्रेमचंद किसानों के पक्षधर नजर आते हैं । प्रेमचंद ने दिखाया है जमींदारी के खात्मे के बिना किसानों की मुक्ति-चिंता करना खयाली पुलाव है । किसानों का हित बिना जमींदारी के गांवों में ही हो सकता है । इसके अलावा प्रेमचंद स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की निर्णायक भूमिका मानते हैं । उनका मानना है कि आजाद भारत में किसान ही सबसे ज्यादा खुशहाल होंगे क्योंकि फिलहाल भारत में उन्हीं का शोषण सबसे ज्यादा होता है । किसानों का जमींदार - विरोधी संघर्ष राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का ही हिस्सा है अतः इस संघर्ष में किसानों का साथ दिया जाना चाहिये । इसके अलावा, प्रेमचंद की पात्र परिकल्पना में भी गांधीजी के 'हृदय परिवर्तन' की धारणा का प्रभाव नहीं है । दुष्ट टिपुट पात्रों के अलावा प्रेमचंद के किसी भी सत पात्र का हृदय परिवर्तित नहीं होता

और न ही वह अपनी सम्पत्ति को जनता का 'ट्रस्ट' ही समझता है । 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर अंत में आत्महत्या कर लेता है । 'रंगभूमि' के राजा मेहन्द्र, या मि० जानसेवक, 'कायाकल्प' के ठाकुर विशालसिंह, 'कर्मभूमि' के मरंत जी या फिर 'गोदान' के रायसाहब, खिंगुरी सिंह , दातादीन — किसी भी पात्र में वह 'मानवीयता' नहीं जागृत होती है, जिसे गांधीजी काम्य स्थिति मानते हैं । यथार्थवादी प्रेमचंद का साहित्य भारतीय किसान के दुश्मनों से घृणा करना सिखाता है । इसके अलावा प्रेमचंद समाजवाद से सहानुभूति रखते थे । गांधी ने रामराज्य की परिकल्पना की थी । समाजवाद से सहानुभूति प्रेमचंद को गांधीवाद से दूर करती है लेकिन राष्ट्रवाद की मान्यता उन्हें गांधीजी के करीब लाती है ।

प्रेमचंद और गांधीजी के संबंध उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन थे, इसे नहीं भूलना चाहिए । उस युग में गांधीजी भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रतीक थे । अपनी मातृभूमि से प्रेम करने वाला प्रत्येक भारतीय स्वाभाविक गांधीजी का सम्मान करता था । प्रेमचंद भी उन्हें बहुत मानते थे । उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे गुण थे जो उन्हें आकर्षित करते थे — यथा कथन और कर्म की एकता, सत्य में अडिग आस्था, निडरता, निस्वार्थ सेवा, सादा जीवन आदि । प्रेमचंद इन गुणों की तारीफ करते हैं । उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन को विषय बनाकर जो साहित्य लिखा है उसमें गांधीजी को बहुत सम्मान से उपस्थित किया है । उन्होंने परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया था, उसके अनुसार गांधीजी के रास्ते से ही स्वराज्य मिलने की आशा थी । इस कारण भी प्रेमचंद गांधीजी का आदर करते थे । समाजसुधार , हरिजनोद्धार संबंधी अनेक विषयों पर प्रेमचंद और गांधीजी के विचार मिलते हैं । लेकिन यह भी याद रखा जाना चाहिए कि प्रेमचंद ने गांधीजी की स्पष्ट आलोचना भी की है । 16 अप्रैल 1934 के जागरण में 'तेलमहला' शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचंद ने गांधीजी की स्पष्ट आलोचना की है । ''अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्माजी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की संभावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज नहीं है,

क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है ।''[7] निश्चय ही यह प्रेमचंद का क्षणिक निर्णय नहीं है, बल्कि इस निष्कर्ष के पीछे उनके विचारों की लंबी प्रक्रिया रही है । इससे यह भी लगता है कि प्रेमचंदगांधीजी को समझने में हमेशा अपनी आलोचनात्मक बुद्धि का उपयोग किया है, अपने जीवन मूल्यों के अनुसार ही उन्होंने गांधीजी को अपनाया है और उन्हीं आधारों से ही उनकी आलोचना की है ।

सृष्टि की उत्पत्ति और मनुष्य की सर्जनात्मक शक्ति :

प्रेमचंद दार्शनिक नहीं थे । इसलिये उन्होंने व्यवस्थित रूप से सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की कथा बयान नहीं की है । (इस संदर्भ में उन्होंने चिन्तन अवश्य किया है ।) न ही उन्होंने मानव जीवन के ऐतिहासिक विकास क्रम को ही रेखांकित किया है । जयशंकर प्रसाद और रांगेय राघव ने इस तरह का प्रयास अपने सर्जनात्मक साहित्य में भी किया है । प्रेमचंद ने संकेत रूप से तो किसी समकालीन समाज का ही चित्रण किया है । समकालीन समाज इस अवस्था में कैसे पहुँचा है, इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का संकेत उन्होंने जगह-जगह किया है । इसी आधार पर हम उनके विचारों को जान सकते हैं ।

समकालीन भारत के अधःपतन की कारण-प्रक्रिया की खोज राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध लगभग सभी बुद्धिजीवियों ने की है । जो लोग इस जागरण को सामाजिक और धार्मिक जागरण के रूप में देखते थे, उनमें से अधिकांश के अनुसार समकालीन अधःपतन के कारण भारत में मुस्लिम राज्य से शुरू होते हैं । धार्मिक पुनरुत्थानवादियों ने उस युग में इस विचार का बड़े जोर-शोर से प्रचार किया था । जो लोग इस जागरण को राष्ट्रीय जागरण के रूप में देखते थे, उनके अनुसार समकालीन अधःपतन का कारण अंग्रेजी राज्य है । इसलिए स्वाधीनता प्राप्त करके ही इस अधःपतन को दूर किया जा सकता है । प्रेमचंद उन बड़े हिंदी साहित्यकारों में से हैं, जिन्होंने धार्मिक विचार-प्रणाली का विरोध किया और राष्ट्रीय दृष्टि से दूसरी विचार-प्रणाली का समर्थन किया । प्रेमचंद का महत्त्व

इससे पढ़ता है कि निराला जैसे आगामक साहित्यकार भी अपने को प्रथम विचार-प्रणाली से पूरी तरह से मुक्त नहीं कर पाये थे । उन्होंने 'तुलसीदास' में कवि को मुस्लिम संस्कृति से संघर्ष करते हुए दिखाया है । प्रेमचंद में इस तरह का भटकाव कभी भी नहीं आया ।

प्रेमचंद ने यद्यपि सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की सुसंगत व्याख्या कहीं नहीं की है, फिर भी उन्होंने इस संदर्भ में प्रचलित धार्मिक विचारधारा का खंडन अवश्य किया है । इस खंडन से ही हम उनके वैचारिक साक्ष्य को देख सकते हैं । प्रेमचंद के पात्र (अधिकांश) इस विचारधारा को मानते हैं, प्रेमचंद उसका खंडन करते हैं । इस वैचारिक विरोध के बावजूद प्रेमचंद अपने पात्रों को जिस मानवीय सहानुभूति से उपस्थित करते हैं, वह सराहनीय है ।

प्रेमचंद ने इस धार्मिक परंपरा को अपने साहित्य में उपस्थित किया है । लेकिन इसे उन्होंने शास्त्रीय रूप में उपस्थित न करके, उस रूप में उपस्थित किया है, जिस रूप में आम जनता उसे मानती है । उसके अनुसार सृष्टि (जैसी दीख दिखायी दे रही है) पहले नहीं थी । सृष्टि की उत्पत्ति और विकास प्रकृति रूप में नहीं हुआ है, बल्कि इसकी 'रचना' ईश्वर ने की है । ईश्वर ही इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता और पालन करता है । इस जटिल विश्व की दृश्यमान व्यवस्था में ईश्वर ही व्यवस्था करता है । इस तरह सर्जनशक्ति ईश्वर के पास ही है, मनुष्य 'सर्जन' नहीं कर सकता । ईश्वर के लिए सभी मनुष्य समान हैं । वह बहुत दयालु है, वह सृष्टि के सभी प्राणियों से बहुत स्नेह करता है । फिर दुनिया में दुख, रोग, शोक क्यों है ? इसका कारण अपना-अपना भाग्य है । भाग्य के पीछे पुनर्जन्म और कर्मफल की शृंखला है । आत्मा अमर है, शरीर नश्वर है । मनुष्य जब मरता है तो उसके पिछले जन्म के कर्म अगले जन्म में भुगतने होते हैं । अतः मनुष्य की आर्थिक विपन्नता, रोग, कष्ट, पीड़ा का कारण उसके पिछले जन्म के स्वयं के कर्म हैं । इसके लिए किसी अन्य मनुष्य या सामाजिक व्यवस्था को उत्तर-दायी नहीं ठहराया जा सकता । अगर मनुष्य को सुखी जीवन-जीना है तो उसे

इस जन्म में धर्म द्वारा निर्दिष्ट 'अच्छे' कर्म करने चाहिए, ताकि उसका फल वह अगले जन्म में भोग सके । इस आध्यात्मिक व्यवस्था के साथ सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप भी धार्मिक है । ईश्वर ने चार वर्णों की सृष्टि की है — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । इनमें सभी के अधिकार और कर्त्तव्य नियत हैं । इनका उल्लंघन करना पाप है । पाप का फल नरक और पुण्य का फल स्वर्ग - भोग है । इस तरह हालांकि ईश्वर की नजरों में सभी मनुष्य बराबर हैं, लेकिन सामाजिक जीवन में मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार असमान जीवन व्यतीत करते हैं। यह लौकिक जगत मिथ्या है, सत्य तो ईश्वर है, वही कर्त्ता है । मनुष्य तो भोक्ता है । वह अपने कर्मों का फल भोगता है । उसमें सर्वथा सामर्थ्य नहीं है । यह समाज व्यवस्था जैसी है, उचित है । उसमें परिवर्तन की एक तो जरूरत नहीं है, दूसरे इस परिवर्तन का सामर्थ्य मनुष्य में नहीं, ईश्वर में है । इस तरह यह 'भारतीय संस्कृति' असमानता को वैध मानकर चलती है । संक्षेप में, एक आम भारतीय के धार्मिक विश्वास इसी तरह के रहे हैं ।

भारतीय राष्ट्रीय जागरण में 'समानता की आधुनिक संस्कृति' के हिमायती बुद्धिजीवी सामने आये । उन्होंने हमारे समाज में पैठी हुई कुछ बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया । अनेक मुद्दों पर इनमें आपसी मतभेद थे, लेकिन देश-दशा के सुधार की आकांक्षा सभी में थी । प्रेमचंद धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी थे । इस अर्थ में प्रेमचंद गांधीजी की अपेक्षा पंडित जवाहरलाल नेहरू के करीब थे । गांधीजी ईश्वर की नियमित प्रार्थना किया करते थे । प्रेमचंद के उपलब्ध साहित्य का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे । जैनेन्द्र को एक बार बहुत पीड़ा से प्रेमचंद ने कहा था, " जैनेन्द्र, मैं थक चुका हूं, मैं परमात्मा तक नहीं पहुंच सकता । मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता । कैसे विश्वास करूं, जब देखता हूं, कल्ला चिल्ला रहा है, रोगी तड़प रहा है । यहां भूख है, क्लेश है, ताप है । वह ताप उस दुनिया में कम नहीं है । तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखता

तो यह मेरा कसूर है ? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा । मुझे वह दयालुता नहीं दीखती । तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो ? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो ।''[8]

उनके पात्र दुख और पीड़ा में ईश्वर को याद करते हैं, लेकिन कभी भी ईश्वर उनकी मदद नहीं करता । मनुष्य ही पीड़ा से पीड़ित मनुष्य की मदद करता है । 'प्रेमाश्रम' में मनोहर की सहायता कादिर करता है । प्लेग के कारण कई लोग मारे जाते हैं, जमींदार जुल्म अत्याचार करता है तो प्रेमशंकर जैसे मानवतावादी पात्र ही उनकी मदद करते हैं । 'गोदान' का होरी, 'सद्गति' का दुखी चमार बार-बार सच्चे मन से ईश्वर का आह्वान करते हैं, लेकिन ईश्वर कभी उनकी मदद नहीं करता और उन्हें अकाल मौत मरना पड़ता है । प्रेमचंद ने अपने साहित्य में भारतीय जनता की गरीबी का कारण उनका भाग्य बताकर लोगों को शिक्षा नहीं दी है । साम्राज्यवाद और सामंतवाद की स्वार्थी नीतियों और व्यवस्थाओं के कारण ही देश बदहाल है । इस बदहाली से उबरने और देश का विकास करने के लिए स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेना अनिवार्य है ।

प्रेमचंद इस अर्थ में भौतिकवादी हैं कि उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी ईश्वरीय व्याख्या को अस्वीकृत किया है । बिहार में भूकम्प की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने आस्तिक लोगों की आलोचना की है । ''यदि आस्तिकता, भूकम्प का कारण पाप बतलाती है, तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सचमुच परमात्मा ने बिहार में वास्तविक पापियों को ही दण्ड दिया है ? जितने प्राणी भूकम्प में मरे, क्या वे सभी महान पापी थे ? और यहाँ, इस देश में जो बड़े - बड़े पापकारी और गरीबों का रक्त चूस जने वाले बड़ी - बड़ी तोंद वाले, बड़े-बड़े तिलकधारी ठौंगी पड़े हुए हैं ; क्या परमात्मा उन्हें नहीं देख पाता ? अस्तु, यह सब व्यर्थ की बातें हैं । भलीभांति विचार करने पर मालूम हो जाता है कि भूकम्प किसी पाप-पुण्य के कारण नहीं हुआ ; यह प्रकृति की एक लीला है और भूगर्भ की वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक परिणाम है ।''[9]

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में जनता के दुःख-दर्द के लिए उसके शोषक वर्ग को जिम्मेदार ठहराया है । शोषण की एक प्रक्रिया का विवेचन एक अलग अध्याय में किया गया है । समाज के इन शोषकों में जमींदार, महाजन, सरकारी कर्मचारी, पुलिस, धार्मिक अधिकारी और अंग्रेजी राज्य हैं । 'गोदान' में उन्होंने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि होरी की बदहाली के लिए दातादीन, रायसाहब, पटेश्वरी, नोखेराम, झिंगुरी सिंह जैसे लोग उत्तरदायी हैं । होरी इस तथ्य को नहीं जान पाता, क्योंकि वह ईश्वर में और भाग्य में विश्वास करता है, लेकिन प्रेमचंद सारे उपन्यास में यही बतलाने का प्रयास करते हैं कि होरी भाग्य का मारा हुआ नहीं है, बल्कि औपनिवेशिक समाज-व्यवस्था का मारा हुआ है ।

इस संदर्भ में मनुष्य की अवधारणा का सवाल भी सामने आता है । ईश्वरवादी विचारक मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का वास होता है । मानव शरीर में आत्मा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करती है । यह आत्मा मनुष्य को बुरे कर्म करने से रोकती है । विज्ञानवादी विचारकों का मत रहा है कि मनुष्य का विकास पशुओं से हुआ है, अतः इस विकास-क्रम के बावजूद उसमें पाशविकता शेष रह गयी है । इसीलिए मनुष्य स्वभावतः बुराई करता है, सभ्यता के संस्कार द्वारा उसमें अच्छाई का प्रवेश होता है । प्रेमचंद के पात्रों की जाँच इस दृष्टि से भी की जा सकती है । प्रेमचंद के पात्र न तो मूलतः 'बुरे' हैं और न स्वभावतः 'अच्छे' । वे सामाजिक परिस्थितियों और अपने वर्गगत स्वभाव के अनुरूप आचरण करते हैं । उसके व्यक्तित्व की खामियाँ और खूबियाँ परिस्थिति जन्य हैं । गाँव का गोबर शहर से जब वापस आता है तो परिस्थितियों के ज्ञान के कारण उसमें बड़ा परिवर्तन हो गया है । आदर्शवादी शैक्षिक वातावरण में पलने के कारण मायाशंकर जमींदारी छोड़ देता है । लेकिन अपने वर्ग के प्रतिनिधि झिंगुरी सिंह, रायसाहब, खन्नाजी और दातादीन में कोई परिवर्तन नहीं होता । 'प्रेमाश्रम' का एक पात्र कहता है — ''..... यह संबंध ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारी

दी अभिमानी, निर्दय और निष्ठुर बना देता है ।''10 इस तरह संघात किसी 'अच्छे' या 'बुरे' जमींदार का नहीं, बल्कि उन सामाजिक संबंधों का है, जिनमें वह जीवन जीते हैं । व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से तो रायसाहब योग्यतम व्यक्ति हैं, लेकिन जमींदार होने के कारण क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते हैं । इस तरह प्रेमचंद का भौतिकवाद ही उन्हें स्वाधीनता आन्दोलन का पक्षधर बनाता है ।

उस युग में अछूतों के मंदिर प्रवेश की समस्या भी बड़े जोर-शोर से उठी थी । प्रेमचंद ने भी इस समस्या पर विचार किया । उदार धार्मिक सुधारवादियों का मत था कि ईश्वर के दर्शन का अधिकार अछूतों को भी मिलना चाहिये, यह उनका मानवीय अधिकार है । प्रेमचंद ने इस माँग का समर्थन करते हुए भी इसे उनकी कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं माना है । उन्होंने मंदिरों में पनप रहे अत्याचारों का क्रम करके दिखाया है कि यह कोई पूजनीय स्थान नहीं है । 'मंदिर' कहानी में चेतना और मूल्यबोध के दो विरोधी स्तर मौजूद हैं । सुखिया चमारिन सोचती है कि ठाकुरजी के चरण-स्पर्श से ही उसका लड़का अच्छा हो जायेगा । अपनी इस इच्छा को पूरा करने के लिए ममतामयी सुखिया अपनी जान दे देती है । दूसरी तरफ लेखक इसे सुखिया का भ्रम मानता है । लेखक के अनुसार लड़के की तबियत बीमारी में गुड़ खा लेने से हुई है, दूसरे उन्होंने यह संकेत भी दिया है कि ठाकुरजी के चरण-स्पर्श से लड़का अच्छा नहीं होता । फिर भी सुखिया की इस इच्छापूर्ति में पंडित-पुरोहित आड़े आते हैं । इस कहानी में प्रेमचंद ने दिखाया है कि पंडित '' हत्यारे '' हैं । लेखक ने पंडितों की अमानवीयता और स्वार्थपरता के साथ-साथ सुखिया चमारिन की मानवीयता को भी रेखांकित किया है, साथ ही उन्होंने यह भी दिखाया है कि दोनों भ्रम में पड़े हुए हैं । फिर भी सुखिया का अज्ञान वहाँ सामाजिक समानता का पक्षपाती है वहाँ पुराण - पंथियों के अज्ञान से एक बच्चे की जान चली जाती है । प्रेमचंद ने जगह-जगह धर्म का व्यवसाय चलाने वालों की पोल खोली है । यही कारण है कि उस युग के धार्मिक लोगों ने प्रेमचंद को 'ब्राह्मण विरोधी' घोषित किया था । फरवरी 1929 की 'सरस्वती' में शिवपुत्र ने 'प्रेमचंद की कला' शीर्षक लेख में लिखा है

''.... ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचंद जी ने ऐसा ठीका लिया है कि एक 'सेवासदन' को छोड़कर सर्वत्र ही ब्राह्मण निन्दनीय और उपहास्य ठहराये गये हैं और उन्हें जूते लगवाये गये हैं ।''[11] यह आक्षेपमात्र नहीं है कि उस युग में अकेले प्रेमचंद ही ऐसे साहित्यकार हैं, जिन पर 'ब्राह्मणविरोधी' होने का आरोप लगाया गया है । यह प्रेमचंद के आध्यात्म-विरोधी होने का भी एक प्रमाण है । प्रेमचंद ने धार्मिक व्यक्तियों के जो चित्र उपस्थित किये हैं, उनसे भी यही निष्कर्ष निकलता है । प्रभु ईशु के सच्चे भक्त 'रंगभूमि' के ईसक सेवक जितने धार्मिक हैं, उससे कम स्वार्थी नहीं हैं । चाय में चीनी अधिक पड़ जाने से उनकी धर्म प्रेमी आत्मा भी तड़प उठती है । जानसेवक के लिए तो धर्म स्वार्थ का एक संगठन ही है ।

इस तरह प्रेमचंद ने बताया है कि यह समाज-व्यवस्था मनुष्य द्वारा निर्मित है । चालाक व्यक्तियों ने अपने हितों के अनुरूप उसमें कुछ गलत परंपराएँ डाल ली हैं । सरकार क्या है ? '' पढ़े लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाए रखने के लिए एक संगठन बना लिया है । उसी का नाम गवर्नमेंट है ।''[12] वास्तव में यह प्रेमचंद की अनुभवपरक दृष्टि की देन है । सरकार अन्याय करती है और उसमें कुछ व्यक्तियों का हित निहित है । यह भी सही है । लेकिन सरकार की निर्मिति सिर्फ 'चालाकी' पर ही निर्भर नहीं है । सरकार सारी समाजव्यवस्था का मूर्त रूप है । प्रेमचंद ने समकालीन सामाजिक संगठन को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है । प्रेमचंद इस समाज-व्यवस्था को बनाए रखने वाले दैवीय प्रभुत्व के खिलाफ भी संघर्ष करने का आह्वान करते हैं । 30 जून 1934 के 'जागरण' में प्रेमचंद ने लिखा है — '' किसान के लिये लगान का आधा हो जाना उतना उपकार नहीं है, जितना अन्धविश्वास और मिथ्या रूढ़ियों से मुक्त होना और नशे से परहेज करना । आपस में जो फूट बढ़ती जा रही है और लोगों में मुकदमेबाजी का जो चस्का पड़ता जाता है वह पीपल, सियानों की बातियों, पटवारियों और दूसरे अमलों के पूजे से घटना उनकी

उससे कहीं बढ़कर सेवा है कि उनका लगान कुछ कम हो जाए ।''13

प्रेमचंद इस जगत को मिथ्या मानकर इसकी अवहेलना नहीं करते, बल्कि इसे सत्य समझकर इसे ही बेहतर बनाना चाहते हैं । उनके साहित्य में जो मानवीय चिंताएँ व्यक्त हुई हैं उनके मूल में विश्व-व्यवस्था की यह भौतिकवादी दृष्टि ही है । उनके लिए मनुष्य सर्जन सामर्थ्य से युक्त प्राणी है । यह जगत परिवर्तनशील है । मनुष्य सामूहिक शक्ति और संघर्ष के द्वारा इसमें वांछित परिवर्तन ला सकता है । पुनर्जन्म और भाग्यवाद कपोलकल्पना है । प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' और कुछेक कहानियों में पुनर्जन्म की कथा भी कही है, जिससे लगता है कि प्रेमचंद भी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे । लेकिन यह प्रेमचंद का वैचारिक भटकाव है, जो तत्कालीन साम्प्रदायिक विचारों की देन है । बाद में स्वयं प्रेमचंद ने इसे नकार दिया था । दूसरे, 'कायाकल्प' में भी उन्होंने शोषित - पीड़ित व्यक्तियों के दर्द का वास्तविक चित्रण भी किया है, जिसमें ईश्वरीय दयालुता का अंश भी नहीं है । प्रेमचंद जो आगे चलकर समाजवादी हो गये थे, यह अकारण नहीं था । इसके पीछे उनकी जीवनदृष्टि का यह भौतिकवादी आधार तैयार हो रहा है ।

राष्ट्रीयता :

प्रेमचंद एक देशभक्त साहित्यकार हैं । वे अपने आपको स्वाधीनता आन्दोलन का एक कार्यकर्ता मानते रहे । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'हंस' और 'जागरण' जैसे पत्र निकाले । उनके साहित्य का एक बड़ा भाग स्वाधीनता आन्दोलन की घटनाओं से जुड़ा हुआ है । भारतीय किसान के पक्षधर होने के कारण (और साथ ही) उनमें साम्राज्यवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी भावना प्रबल रूप से मौजूद है । इस संदर्भ में प्रेमचंद उन व्यक्तियों से अलग थे, जो स्वाधीनता आंदोलन को सिर्फ शिक्षित वर्ग का आंदोलन मानते थे । उनके अनुसार स्वराज्य आन्दोलन में किसानों की भूमिका सर्वप्रमुख है और होनी चाहिए । वे तो मानते थे कि ''स्वराज्य का आन्दोलन गरीबों का आन्दोलन है'' । इन गरीबों में भी 'स्वराज्य किसानों

की माँग है, उन्हें जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है।''[14] प्रेमचंद ने इस स्वाधीनता-संग्राम में किसानों के पक्ष को प्रस्तुत किया है।

उस युग में राष्ट्रीयता के स्वरूप निर्धारण पर प्राच्य विद्याविद अंग्रेजों के विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतीय राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने उनकी मान्यताओं का साम्राज्यवाद विरोधी उपयोग किया है। 1786 ई० में विलियम जोन्स ने वैदिक युग के रूप में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के स्वर्णिम अतीत की परिकल्पना की थी। इसके बाद कोलब्रुक ने मत व्यक्त किया कि 'सभ्यता की उत्पत्ति एशिया में हुई।' इन दो धारणाओं का भारतीय राष्ट्रवाद से बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। इनका उपयोगअपनी-अपनी दृष्टि से सभी सामाजिक शक्तियों ने किया है। अंग्रेजों ने इससे निष्कर्ष निकाला कि वैदिक युग के बाद से भारतीयों का इतिहास एक पराजित और पतनशील जाति का इतिहास है — चूँकि भारतीय कभी स्वतंत्र थे ही नहीं, अतः उनमें स्वाधीनता को प्राप्त करने का सामर्थ्य ही नहीं है। पुनरुत्थानवादियों ने इसके प्रत्युत्तर में कहा कि हिन्दू जाति अतीत काल में श्रेष्ठ रही है, बीच में मुसलमानों के आने के बाद थोड़ी पतित हो गयी है, फिर हम उसी प्राचीन वैदिक गौरव को प्राप्त कर सकते हैं। 'शुद्धिकरण' जैसे कार्यों के द्वारा हम फिर अपने 'राष्ट्र' को पवित्र कर सकते हैं। प्रेमचंद उन राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों में से थे जिन्होंने इन दोनों व्याख्याओं का खंडन किया। उन्होंने शिक्षित वर्ग की मानसिक पराधीनता और आत्महीनता की आलोचना की और पश्चिम के अंधानुकरण को हेय ठहराया।[15] प्रेमचंद ने ऐसे मानसिक पराधीनता की संज्ञा दी और इससे उबरने की आवश्यकता पर बल दिया। अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति की आलोचना करते हुए भी उन्होंने धार्मिक पुनरुत्थानवादियों का साथ नहीं दिया। उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष ही रहा। उन्होंने राष्ट्रीयता को जीवन मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। प्रेमचंद ने अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध सभी धर्मों, जातियों, संस्कृतियों को मिलाकर एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण पर बल दिया। हिन्दूवादी भाई परमानन्द का खंडन करते हुए प्रेमचंद ने लिखा था — '' जब तक हममें यह हिन्दूपन और मुसलिमपन रहेगा, तीसरी शक्ति को अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए किसी बात की जरूरत नहीं, इसके सिवा कि कभी हममें फूट का बीज

उसे । जिस दिन यह मनोवृत्ति मिट जायगी, उसी दिन स्वराज्य आ जायगा ।''[16]
कांग्रेस के जिबलपुर अधिवेशन पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था कि
'' हम तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर आपके धर्म में कुछ ऐसी बातें हैं, जो राष्ट्रीयता की परीक्षा में पूरी नहीं उतरतीं, सर्वदेशिक दिलों में बाधक होती हैं, तो उन्हें त्याज्य समझिए । काफिर और म्लेच्छ का हमारी धर्म से नामोनिशान मिट जाना चाहिए ।''[17]

अंग्रेज साम्राज्यवादियों और पुनरुत्थानवादियों ने देश में भेदभाव और साम्प्रदायिकता का प्रचार-प्रसार किया । प्रेमचंद ने राष्ट्रीय एकता में बाधक इस भेदभाव का सक्रिय विरोध किया । उनके समाज सुधार के विचारों पर भी राष्ट्रीय एकता के इन्हीं भावों की गहरी छाप है । छुआछूत, विधवा विवाह की समस्या, सामाजिक रूढ़ियाँ, साम्प्रदायिकता का सवाल प्रेमचंद के लिए धार्मिक सवाल नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय सवाल है । जिनसे राष्ट्र कमजोर होता है, उन सारी बातों को हटाना हमारा राष्ट्रीय कर्त्तव्य है । प्रेमचंद ने भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का मूल्यांकन करते हुए इस तथ्य को सामने रखा है, जिससे एक तो समाज कैल्पनातीत जीवन मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय एकता को बल मिले, दूसरे अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए साम्राज्यवादियों का राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक स्तर पर भी मुकाबला किया जा सके ।

प्रेमचंद में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति पूजा भाव नहीं है, बल्कि गहरे आत्मालोचना का भाव है । इसके साथ ही उन्होंने पश्चिमी सभ्यता से भारतीय सभ्यता की तुलना भी की है, जो उस युग का प्रिय विषय रहा है । इस तुलना में उन्होंने पूर्व का (भारत का) पक्ष लिया है और भारतीय सभ्यता के उज्ज्वल पक्ष को सामने रखा है । प्रेमचंद ने वैदिक स्वर्णयुग के मिथक का उपयोग नहीं किया है, प्रसाद जी पर इसका गहरा असर है । उन पर रोमांटिक धारणा का असर है कि सभ्यता की उत्पत्ति भारत में ही हुई है । इससे उन्होंने राष्ट्रीय गौरव का बखान किया है । प्रेमचंद ने साम्राज्यवादियों से राजनीतिक स्तर पर ही नहीं सांस्कृतिक स्तर पर भी संघर्ष किया है ।

उस युग की राष्ट्रीयता की भावना पूर्व बनाम पश्चिम, एशिया बनाम यूरोप के संघर्ष के रूप में भी व्यक्त हुई । इस तुलना ने कई स्तरों पर बुद्धिजीवियों के दृष्टिकोण को प्रभावित किया है । प्रेमचंद ने भी अपने रचनात्मक साहित्य में इस तरह का विरोध खड़ा करने का प्रयास किया है । प्राच्य विद्या विद् यूरोपीय ने पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता की तुलना में पूर्वीय सभ्यता की जो विशेषताएँ गिनायी थीं, प्रेमचंद जैसे राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने उनका उपयोग किया है । जनवरी 1931 के 'ऐस' में पूर्व और पश्चिम के जीवनादर्शों की तुलना इस तरह से की है : " हमारी सभ्यता कहती है — अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ, ताकि तुम्हारी जान से कुटुम्ब और परिवार का भी कुछ उपकार हो । पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है — अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओ, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े । अपने ही लिए जिओ और अपने ही लिए मरो । हमारी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, हम गाँवों में रहते थे, जहाँ अपने आत्मीय जनों का संसर्ग बहुत-सी बुराइयों से हमारी रक्षा करता था । पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय-प्रधान है और बड़े-बड़े नगरों का निर्माण करती है, जहाँ हम सारी जंजीरों से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं । हमारी सभ्यता में सम्मिलित कुटुम्ब एक प्रधान अंग था । पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ है — केवल स्त्री और पुत्र । दोनों में बुराइयाँ और भलाइयाँ दोनों ही हैं ; पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है, वहाँ दूसरे में स्वार्थ और संकीर्णता । हमारी सभ्यता में नम्रता का बड़ा महत्त्व था, पश्चिमी सभ्यता में आत्मप्रशंसा को यही स्थान प्राप्त है । अपने को खूब सराहो, अपने मुँह खूब मियाँ-मिट्ठू बनो । हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था, विद्या और आचरण से आदर मिलता था । पश्चिमी सभ्यता में धन ही मुख्य वस्तु है । हम भी धन कमाते थे ; पर दया के साथ । पश्चिम भी धन कमाता है, पर दया का नाम नहीं । हमारी सभ्यता का आधार धर्म था, पश्चिमी सभ्यता का आधार संघर्ष है ।"[18]

प्रेमचंद ने इस पश्चिमी सभ्यता के विरोध इसलिए किया है क्योंकि यह मानव विरोधी है । प्रेमचंद ने अपने मानव प्रेम के कारण एक ओर जहाँ भारतीय धार्मिक विचार प्रणाली के मानव-विरोधी धारणाओं का खंडन किया, वहाँ दूसरी ओर पश्चिम की बुद्धिवादी, स्वार्थ सेवी संस्कृति का विरोध भी किया । पश्चिमी सभ्यता में जीवन की कल्पना 'संग्राम स्थल' के रूप में की जाती है । प्रेमचंद सूरदास (रंगभूमि) की तरह जीवन को खेल मानते हैं । जीवन को संग्राम मानने के कारण मनुष्य का जीवन अप्राकृतिक होता जा रहा है । '' नाश्ता खड़े-खड़े कीजिए, खाना दौड़ते-दौड़ते खाइए, मित्रों से मिलने का समय नहीं, फालतू बातें सुनने की फुरसत नहीं । मतलब की बात कहिए साहब, चटपट । समय का एक-एक मिनट अशर्फी है, मोती है, उसे व्यर्थ नहीं खो सकते । यह संग्राम की मनोवृत्ति पश्चिम से आई है और बड़े वेग से भारत में फैल रही है ।''[19] प्रेमचंद ऐसे अस्वाभाविक - अप्राकृतिक जीवन का त्याग मानते हैं । उनके लिए तो जीवन खेल का मैदान है । 'रंगभूमि' का सूरदास इसी आधार पर जीवन जीता है ।[20] दयानारायण निगम के बच्चे की अकाल मौत के बाद प्रेमचंद ने उन्हें 23 अप्रैल 1923 को खत में लिखा : ''..... बच्चे की दुःखदायक मौत एक दिलचस्प हादसा है और उसे बर्दाश्त करने का अगर कोई तरीका है तो यही कि दुनिया को एक तमाशागाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय । खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ का मुस्तहक होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं, जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है । जीत के बाद यह कोशिश होती है कि हारें नहीं । हार के बाद जीत की आरजू होती है ।''[21] जीवन को संग्राम मानकर रोने वाले व्यक्तियों को प्रेमचंद की सलाह है कि ''घर से बाहर निकलकर देखिए — मैदान में कितनी मनोहर परियाली है, वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गान हो रहा है, नदी में चादी बिछा बिरक रहा है । क्या इन दृश्यों से आपको जरा भी आनंद नहीं आता ? किसी झोपड़ी में जाकर देखिए । माता पक्की बैठी है, पर कितने प्रेम से बालक दो अपने सूखे स्तन से चिमटाए हुए है ।''[22]

इसीलिए प्रेमचंद ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर कठिनाइयों से जीव दुखद जीवन के मनोरम चित्र प्रस्तुत किए हैं । 'गोदान' में होरी और धनिया का संघर्ष इस तरह के संपूर्ण जीवन की परिकल्पना प्रस्तुत करता है । प्रेमचंद के पात्र हरदम अपनी कठिनाइयों को रोना नहीं रोते, आनंदोल्लास भी गुजारते हैं लेकिन आम तौर पर जीवन संग्राम का साहित्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है । '' इस जीवन-संग्राम में साहित्य पर जो सबसे बुरा असर पड़ा है वह यह है कि वह मर्सिया बन जाता है । कोई पत्र-पत्रिका या पुस्तक उठा लीजिए, आदि से अन्त तक रुलाने वाली बातों से भरा पाएगा । यहाँ तक कि हमारी लेखन शैली भी इतनी गंभीर हो गयी है कि उसे शोकशैली कह सकते हैं । यह हम न मानेंगे कि वर्तमान परिस्थितियों ने हमें शोकवादी बना दिया है । आखिर हम आपस में बैठकर हँसते-हँसाते बोलते तो हैं ही, हँसना भूल तो नहीं गये ।.... ..... मजा यह है कि हमारी नवयुवक लेखक जब कलम हाथ में लेते हैं तो तुरन्त पचपन-साला गाम्भीर्य धारण कर लेते हैं । कदाचित् वह समझते हैं विनोद हमारी शान के खिलाफ है, फिजूलपन है । अगर वह ऐसा समझते हैं तो यह उनकी बड़ी भारी — महात्मा गांधी के शब्दों में हिमालियन — भूल है।''[23] प्रेमचंद चाहते हैं कि जीवन और साहित्य में इस एकांगिता और अस्वाभाविकता से बचा जाए । मनुष्य को उसके मूल और प्राकृतिक रूप में आनंद पूर्वक जीवन जीना चाहिए । समकालीन परिस्थितियों में दुख सच है, लेकिन अपनी स्वाभाविकता और जीवनशक्ति से उस पर विजय पानी चाहिए और इस तरह परिस्थितियों द्वारा होने वाली मनुष्य की अमानवीयता को खत्म करना चाहिए ।

मनुष्य की इस अमानुषीय प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए 'गोदान' के मेहता कहते हैं कि '' मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर खेलता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है । जो दुख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को ओछापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं ।''[24] मेहता मानते हैं कि मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता जाता है त्यों-त्यों

वह अमानवीय भी होता जाता है । 'सभ्यता के आवरण' में मनुष्य अपनी मनुष्यता से हटता जा रहा है । वह आत्मदमन के अप्राकृतिक माध्यमों से सफलता की सीढ़ियां चढ़ना चाहता है । ज्यों ही वह अपनी मूलभूत प्रकृति से हट जायेगा, त्यों ही वह स्वार्थ का पुतला बन जायेगा और सामाजिक, आर्थिक और मानवीय संघर्ष करने लग जायेगा । 'दो भाई' कहानी में प्रेमचंद दिखाते हैं कि किस तरह बड़े हो जाने के बाद, समझ आ जाने के बाद, सभ्य हो जाने के बाद दोनों भाई एक दूसरे के विरोधी हो गये हैं । '' जब उन्हें अपने-पराए की पहचान न थी, उस समय यदि कोई ढेले के लिए एक दो अपने साथ से जाने की धमकी देता, तो दूसरा जमीन पर लौट जाता और उस आदमी का कुर्ता पकड़ लेता। तब यदि एक भाई को मृत्यु भी धमकाती तो दूसरे के नेत्रों से आँसू न आते । अब उन्हें अपने-पराए की पहचान हो गई थी ।''[25] यहाँ की यह निर्दोषिता पूर्व है और वहाँ की बुद्धिमत्ता पश्चिम है । 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर (अर्थात् प्रेम) भारतीय संस्कृति का समर्थक है, ज्ञानशंकर (अर्थात् ज्ञान) पाश्चात्य संस्कृति के अनुसार जीवन जीता है । गाँव पूरब है, शहर पश्चिम है, हृदय पूरब है, बुद्धि पश्चिम है । इस तरह प्रेमचंद ने अपने ढंग पर इस पूरब और पश्चिम के संघर्ष को व्यक्त किया है ।

प्रेमचंद चूंकि सहज और प्राकृतिक जीवन के हिमायती थे, इसलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के अप्राकृतिक आदर्श का भी विरोध किया है और गृहस्थ - पारिवारिक जीवन की वकालत की है । उस युग में दो तरह के लोग परिवार विरोधी थे । एक तो, आधुनिक शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी और दूसरे आदर्शवादी धार्मिक कार्यकर्ता । बुद्धिजीवियों में 'गोदान' के मेहता और 'कर्मभूमि' के डा० शांतिकुमार जैसे लोग हैं । ये एक तरफ तो वैवाहिक जिम्मेदारियों से घबराते हैं, दूसरी तरफ विवाह को आत्मा का बंधन मानते हैं और इस तरह 'मुक्त' जीवन जीना चाहते हैं । धार्मिक नेताओं ने सेवा का एक महान आदर्श उस युग में सामने रखा था । उन्होंने सेवा के लिए ब्रह्मचर्य को अनिवार्य ठहराया । उनके अनुसार

सच्ची सेवा करने के लिए मनुष्य को स्वार्थपूर्ण पारिवारिक संबंधों में बद्ध नहीं हो जाना चाहिए । प्रेमचंद ने ऐसे व्यक्तियों के चरित्र के आन्तरिक द्वंद्वात्मक को जगह-जगह उद्घाटित किया है । 'त्यागी का प्रेम' में उन्होंने ऐसे सेवाव्रत धारी युवक के नैतिक अधःपतन की दास्तान बयान की है । 'कर्मभूमि' की सुखदा परिवार विरोधियों के तर्कों का जवाब देती हुई कहती है : '' क्या विवाहित जीवन में सेवा-धर्म का पालन असंभव है ? या स्त्री इतनी स्वार्थान्ध होती है कि आपके कामों में बाधा डाले बिना रह ही नहीं सकती । गृहस्थ जितनी सेवा कर सकता है, उतनी एकान्तजीवी कभी नहीं कर सकता ; क्योंकि वह जीवन के कष्टों का अनुभव नहीं कर सकता ।''[26]

प्रेमचंद ने परिवार का चित्रण बहुत मन लगाकर किया है । उन्होंने अपने प्रत्येक पात्र का परिचय देते समय उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का चित्रण अवश्य किया है । मनुष्य के व्यक्तित्व में परिवार की भूमिका निर्णायक होती है । 'दफ्तरी' कहानी में उन्होंने दिखाया है कि पारिवारिक शांति के अभाव में मनुष्य का जीवन कितना कष्टपूर्ण हो जाता है । 'गृहदाह' में उन्होंने बड़े भाव-भीने शब्दों में 'घर' के महत्त्व को रेखांकित किया है :

'' 'घर' कितनी कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जागृत कर देता है । यह प्रेम का निवास-स्थान है । प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह दुर्लभ वरदान पाया है ।

..... यही वह लंगर है, जो मानव जीवन मात्र को स्थिर रखता है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से बचाता है । यही वह मंत्र है, जो जीवन को समस्त विघ्न बाधाओं से सुरक्षित रखता है ।''[27]

उन्होंने पारिवारिक संबंधों का चित्रण विस्तार से किया है । माता - पिता, बच्चे, भाई-बहन, सौतेली माँ, अनाथ कन्या आदि के पारिवारिक संबंधों को अपने साहित्य में पर्याप्त विस्तार से चित्रित किया है । इसी कारण प्रेमचंद ने नारी सौंदर्य की प्रतिमा मातृत्व में ही दी है । उन्होंने नारी के रमणी रूप में नहीं बल्कि

माँ के रूप में ही सौंदर्य देखा है । 'गोदान' की मालती जब तक रूपसी रूप में हमारे सामने आती है, प्रेमचंद उस पर व्यंग्य के डोरे कसते रहते हैं, लेकिन जब वह माँ की तरह गोबर के बच्चे की सेवा करती है, रचनाकार उसके सौंदर्य को पूजनीय दृष्टि से उपस्थित करता है । उन्होंने जगह-जगह आधुनिक नारी के घर न बसने की प्रवृत्ति की आलोचना की है ।

'रंगभूमि' का बजरंगी एक स्थान पर कहता है, '' मैं तो उन धनों को पापी समझता हूँ, जो औने-पौने करके, ऊधर का सौदा ऊधर बेचकर अपना पेट पालते हैं । सच्ची कमाई उन्हीं की है, जो छाती फाड़कर धरती से धन निकालते हैं ।''[28] बजरंगी के इस कथनानुसार उत्पादक वर्ग ही सच्ची कमाई करता है, जो कि किसान है । अन्य वर्गों का अस्तित्व किसानों के अस्तित्व और उनकी दशा पर निर्भर है । प्रेमचंद ने सामाजिक संगठन का चित्रण करते समय इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि किसी वर्ग या व्यक्ति की आर्थिक उत्पादन में क्या भूमिका है ? जमींदारी, सूदखोरी, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस और ब्रिटिश सरकार की राष्ट्रीय उत्पादन में सहायक भूमिका नहीं है । ये सभी उत्पादन में बाधाएँ उपस्थित करते हैं । समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए ऐसे अनुत्पादक वर्गों को हटाना जरूरी है । उन्होंने सचेत या अचेत रूप से समाज को उत्पादक और उपभोक्ता — दो श्रेणी में बाँटकर उपस्थित किया है । उनके साहित्य में उत्पादक वर्ग — किसान ही देशभक्त है और भोगवादी वर्ग देशद्रोही है । 'शिकार' कहानी में उन्होंने देशद्रोही व्यक्ति के जो लक्षण बतलाये गये हैं, वह उपभोक्ता वर्ग के व्यक्ति के ही है । '' जिस घर से रात को गाने की ध्वनि आती हो, जिस घर से दिन को सुगन्ध की लपटें आती हों, जिस पुरुष की आँखों में मद की लाली झलकती हो, वही देश का द्रोही है ।''[29] स्पष्ट है कि ये विशेषताएँ अकर्मण्य और भोगवादी व्यक्ति की ही हो सकती है । 'शतरंज के खिलाड़ी' के मीर और मिर्जा जैसे लोग इसी तरह की विलासिता में डूबे हुए थे, जिनके कारण अवध का पतन हुआ । 'परीक्षा' की बेगमों में नादिरशाह के नादिरशाही हुक्म का उल्लंघन करने का साहस इसीलिए नहीं हुआ कि

भोगवादी जीवन जीने के कारण उनमें 'भारत' नहीं बस पायी थी । भोगवाद के कारण व्यक्ति में आत्मसम्मान की भावना का लोप हो जाता है और वह पराधीनता के पतन के गर्त में गिरता चला जाता है । ऐसे व्यक्ति जिस देश में रहते हैं, उस राष्ट्र का भी पतन हो जाता है । अतः भोगवाद राष्ट्रीय अपराध है ।

प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में मि० जानसेवक के कारखाने का विरोध इसलिए भी किया था कि वह भोग की सामग्री (सिगरेट) का उत्पादन करता है । उससे राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि में कोई मदद नहीं मिलती । पंडित मोटेराम शास्त्री से संबंधित कहानियों में भी प्रेमचंद ने ब्राह्मणों, पंडे-पुरोहितों की आलोचना इसी आधार पर की है कि ये लोग कुछ कार्य तो करते नहीं, फिर भी स्वादिष्ट भोजन का भोग करना चाहते हैं । अपनी क्षुधा - तुष्टि के लिए ये वेद और शास्त्र की दुहाई भी देते रहते हैं । इनका जीवन आदर्श सिमटकर स्वादिष्ट भोजन की थाली में समाविष्ट हो जाता है, जिसे वह भोजन के साथ ही खा जाते हैं ।प्रेमचंद इन लोगों को राष्ट्र पर बोझ मानते हैं ।

जनतंत्र की धारणा :

प्रेमचंद की राष्ट्रीयता की धारणा का घनिष्ठ संबंध उनकी जनतांत्रिक दृष्टि से है । उनका देश प्रेम जनतांत्रिक ढंग से देश का नव-निर्माण और पुनर्गठन करना चाहता है । उनका साम्राज्यवाद विरोध सामंतवाद का भी विरोध करता है और इस तरह 'स्वराज्य' में शोषणहीन संबंधों पर बल देता है । प्रेमचंद मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित इस समाज-व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते हैं । औपनिवेशिक समाज व्यवस्था में किसानों का शोषण ही सबसे ज्यादा होता है, अतः उन्होंने प्रमुखतः किसानों के शोषण की प्रक्रिया का चित्रण किया है । इस संदर्भ में उन्होंने साम्राज्यवाद और सामंतवाद दोनों के शोषण की आलोचना की है ।

प्रेमचंद जनता के पक्षधर लेखक हैं । इसलिए उन्होंने मानवीय सौंदर्य को उदार और संघर्षशील व्यक्तियों में ही देखा है । प्रेमचंद ने किसी भी शोषक

ी 'सुन्दर' रूप नहीं दिया है । उनका बाह्याकार भी आन्तरिक भावों के अनुरूप कुरूप ही बनाया गया है । 'कर्मभूमि' के लाला समरकान्त जब तक सूदखोरी का धंधा करते हैं, तब तक उनका रूप कुरूप रहता है ; लेकिन ज्यों ही वे लगानबन्दी आन्दोलन में हिस्सा लेने लगते हैं त्यों ही एकाएक सुन्दर लगने लगते हैं । 'रंगभूमि' की सोफ़िया या 'गोदान' की धनिया का सौन्दर्य इस कर्मशील जीवन में निहित है । स्वादिष्ट भोजन के बावजूद पंडित मैटिराम शास्त्री और सेठ बेतराम सभी भी सुन्दर नहीं लगते । उनकी उपस्थिति से विरक्तता का बोध उत्पन्न होता है ।

वर्तमान व्यवस्था में शोषण के कारण धन घृणित होता है और धन शोषण का साधन बनता है । इसलिए प्रेमचंद ने जगह-जगह सम्पत्ति की निन्दा की है । इस समाज में सम्पत्ति मनुष्य को बुरे कर्मों की ओर ले जाती है । विचारवान से विचारवान मनुष्य भी सम्पत्ति पाकर अमानवीय हो जाता है । 'बूढ़ी काकी' का भतीजा या 'पंच परमेश्वर' का जुम्मन शेख भी खाला की सम्पत्ति लेकर बदल जाता है । 'कायाकल्प' में चक्रधर जैसा सज्जन, सेवाव्रतधारी और आदर्शवादी नवयुवक भी प्रभुता पाकर इतना बावला हो जाता है कि बेगार में देरी करने के अपराध में एक किसान को पीट देता है । अहिल्या जैसी युवती संपत्ति और राज्य पाकर अपने प्राणप्रिय पति और पुत्र को खो बैठती है । मनोरमा धन के लिये अपने व्यक्तित्व से हाथ धो बैठती है । 'कायाकल्प' की रचना एक तरह से धन व सम्पत्ति के विरोध के लिए ही की गयी है । उदार ठाकुर विशाल सिंह राजा बनते ही निर्दयी हो जाते हैं, इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रधर एक बार कहता है : " अगर सम्पत्ति से इतना पतन हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज संसार में कोई नहीं ।"[30]

'रंगभूमि' के विनय की उदारता भी सम्पत्ति से टकराकर खत्म हो जाती है, कुंवर प्रभु सेवक भी उसी मद से पठिपुर में मारपीट कर बैठता है । कुँवर भरत सिंह के लिए तो संपत्ति अपने पुत्र से भी प्यारी है

मि० गांगुली इसीलिए कहता है : '' अब आपको विदित हुआ होगा कि हम क्यों संपत्तिशाली पुरुषों पर भरोसा नहीं करते । वे तो अपनी सम्पत्ति का गुलाम है । वे कभी सत्य के समर में नहीं आ सकते । जो सिपाही खाने की ऊँट गर्दन में बाँधकर लड़ने चले, वह कभी नहीं लड़ सकता । उसको तो अपने ऊँट का चिंता लगा रहेगा ।''[31] प्रेमचंद मानते हैं कि सम्पत्ति का संचय शोषण से ही हो सकता है ।[32] और मुफ्त का माल खाने के कारण उसमें भोग विलास पनपता है, क्योंकि ''मुफ्त का माल उड़ाने वाली को रेशमी के सिवा और सूझेगा क्या ? धन अगर सारी दुनिया का विलास न मोल लेना चाहिए तो वह धन ही कैसा ।''[33] धन का अस्तित्व ही नहीं, उसके आने की आशंका भी दुर्गुण पैदा कर देती है । 'लाटरी' में ऐसी कल्पित धन के लिए परिवार के आत्मीय जनों में झगड़ा हो जाता है । इसका कारण यह है कि '' धन का देवता आत्मा का बलिदान पाये बिना प्रसन्न नहीं होता ।''[34] आत्मा के बलिदान के बाद भोगलिप्सा बढ़ जाती है और '' भोगलिप्सा आदमी को स्वार्थान्ध बना देती है ।''[35] इसीलिए प्रेमचंद ने शोक-सिंगार की निन्दा की है क्योंकि ''.... ऐसे आदमी अपने भोग विलास में मस्त रहते हैं । किसी के घर में आग लग जाए, उनसे मतलब नहीं । उनका काम तो खाली दूसरों को रिझाना है ।''[36]

प्रेमचंद ने । दिसम्बर 1935 को श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को खत में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं । '' मैं ऐसे मजदूर आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता जो धन-सम्पत्ति में डूबा हुआ हो । जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ, उसकी कला और ज्ञान की सब बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं । मुझको ऐसा लगने लगता है कि उस आदमी ने वर्तमान समाज-व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है, स्वीकार कर लिया है ।''[37] इस तरह प्रेमचंद ने उस संपत्ति की निन्दा की है, जो शोषण से संचित की गयी हो और शोषण का जरिया बनी हुई हो ;

जो भोग-विलास में काम आती है और इस प्रकार राष्ट्रीय अपव्यय को बढ़ाती है । प्रेमचंद व्यक्तिगत संपत्ति के विरोधी नहीं हैं । अपने श्रम द्वारा अर्जित संपत्ति को प्रेमचंद अनुचित नहीं मानते । उत्पादक कार्यों में संपत्ति की सर्जनात्मक भूमिका को भी वे नहीं नकारते ।

प्रेमचंद की जनतांत्रिक दृष्टि के दो पक्ष हैं एक नकारात्मक और दूसरा सकारात्मक । एक के अनुसार प्रेमचंद मनुष्य द्वारा मनुष्य के हर प्रकार के — आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और मानवीय — शोषण का विरोध करते हैं । समाज में व्याप्त सामाजिक , राजनीतिक असमानता की परंपरागत संस्कृति का विरोध करते हैं । दूसरे के अनुसार वे मानव समाज को 'समानता' के आधार पर पुनर्गठित करना चाहते हैं । एक शोषणहीन समाज की परिकल्पना प्रेमचंद की 'स्वराज्य' की कल्पना में निहित है । प्रेमचंद जब स्वराज्य की बात करते हैं, तब उसका एक तरफ तो भारतीयों द्वारा राज्य करने का अर्थ होता है, दूसरी तरफ प्रत्येक भारतीय के समानाधिकारों से नियुक्त 'सुराज' से भी होता है । वे यह नहीं चाहते थे कि गोरों के मुकाबले काले साहब आकर राजगद्दी पर बैठ जायें और जनता का उसी तरह शोषण करते रहें, जैसे साम्राज्यवादियों ने किया था । 2। दिसम्बर 1919 को प्रेमचंद ने निगम साहब को लिखा कि '' जिस तरह यह जमानत वकील बनकर रियाया का खून पी रही है उसी तरह आइन्दा यह हाकिम शेखा रियाया का गला काटेगी ।''[38] ऐसे स्वराज्य के प्रेमचंद एक में नहीं थे । उनके लिए जनता या रियाया का तात्पर्य विशाल किसान जनता होता है । उन्होंने मूल रूप से किसानों के लिए स्वराज्य का समर्थन किया, लेकिन साथ ही वह यह भी मानते थे कि किसानों के हित में ही राष्ट्र का हित है । प्रेमचंद ने वर्गहीन समाज की परिकल्पना प्रस्तुत नहीं की थी, बल्कि उन्होंने शोषणहीन समाज का आदर्श सामने रखा था । 'स्वराज्य से किसका अहित होगा' (हंस, अप्रैल 1930) शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने यह दिखाया है कि स्वराज्य से किसी वर्ग को नुकसान नहीं होगा, बल्कि उसमें तो सभी वर्गों का फायदा है । अगर किसी वर्ग को कुछ सामयिक नुकसान भुगतना

भी पड़े, तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए ।

प्रेमचंद ने समकालीन समाज में समानता के अभाव और उसकी अनिवार्यता को रेखांकित किया है । प्रेमचंद ने समानता को उसके सम्पूर्ण अर्थ में प्रस्तुत किया है ; उसके सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक पक्ष पर ही दृष्टि केन्द्रित नहीं की है । राजनीतिक रूप से उन्होंने सरकार के असीमित अधिकारों की आलोचना की है । 'कर्मभूमि' में डा० शांतिकुमार कहते हैं : '' क्या यही न्याय है कि एक भाई तो बंगले में रहे, दूसरे को झोपड़ा भी नसीब न हो । ..... गरमी बढ़ जाती है, तो तुरन्त आँधी आती है । मानवता ऐसी पचली नहीं जा सकती । समता जीवन का तत्त्व है । यही एक दशा है, जो समाज को स्थिर रख सकती है ।'' [39] समाज में कुछ लोगों के पास अधिकार हों, और अन्य लोग अधिकारों से वंचित हों, यह स्थिति न केवल काम्य नहीं है बल्कि संभव भी नहीं है । अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधि पग-पग पर भारतीय जनता का अपमान करते हैं, सरकारी कर्मचारी बेगार लेते हैं, जमींदार किसान को पिटवाता है, पुलिस कर्मचारी रिश्वत लेता है, पति पत्नी को पीटता है । आखिर समाज में ऐसे दृश्य इसीलिए दिखायी देते हैं उनके संबंध असमानता पर आधारित हैं ।

प्रेमचंद साहित्य में स्थान-स्थान पर राजकीय हिंसा का वर्णन मिलता है । 'कायाकल्प' के राजा विशालसिंह चमारों को पिटवाते हैं, 'रंगभूमि' के मि०क्लार्क उदयपुर रियासत में जब दौरे पर जाते हैं, तो गाँव के गाँव उजाड़ देते हैं । सत्याग्रह आन्दोलन में निहत्थों पर गोली चलाने के दृश्य तो बार-बार दिखाये गये हैं । 'गोदान' में रायसाहब उन मजदूरों को कोड़े से पीटते हैं जो बेगार के बदले खाना माँगते हैं । 'प्रेमाश्रम' में गौस खाँ की हत्या के अपराध में ऐंठ-मूठ सारे गाँव को सजा दिलवायी जाती है, जबकि उसकी हत्या अकेले मनोहर ने की थी । समाज में कुछ लोग दूसरों पर अत्याचार करते हैं और अत्याचार करने के लिए 'हिंसा' जरूरी है । इस तरह प्रेमचंद ने वस्तुगत यथार्थ के चित्रण

ने स्पष्ट किया है कि समानता पर आधारित शोषणहीन समाज में ही अहिंसा पनप सकती है ।

प्रेमचंद ने एक तो समाज में व्याप्त असमानता की आलोचना की, दूसरी उन्होंने उस विचारधारा की भी आलोचना की जो असमानता को ही प्राकृतिक और वैध मानती है । 'गोदान' का होरी आश्चर्य से पूछता है कि '' तुम्हारी समझ में हम और वह बराबर हैं ।'' उस पर गोबर कहता है '' भगवान ने तो सबको बराबर बनाया है ।''[40] 'कर्मभूमि' का चौधरी खड़े हुए कहता है : '' भगवान ने छोटे-बड़े का भेद क्यों लगा दिया, यह मरम समझ में नहीं आता । उनके तो सभी लड़के हैं । फिर सबको एक आँख से क्यों नहीं देखता ।''[41] प्रेमचंद ने अपने साहित्य द्वारा इस वैचारिक प्रभुत्व को तोड़ने का प्रयास किया है और बार-बार इस बात को रेखांकित किया है कि मनुष्य और मनुष्य बराबर है । प्रेमचंद ने किसानों की चेतना के इस स्तर को भी चित्रित किया है, जिसमें वह असमानता को जायज मानता है ।

प्रेमचंद ने समानता को सामाजिक जीवन में भी लागू किया है । हिन्दू धर्म में कुछ ऐसी परंपराएँ हैं जो स्त्री और पुरुष के संबंधों में असमानता के भाव को पोषित करती हैं । प्रेमचंद ने उन परंपराओं की तीव्र आलोचना की है और इस तरह नारी मुक्ति की धारणा का सूत्रपात किया है । समाज में स्त्री-पुरुष की असमानता बचपन से ही शुरू हो जाती है । लड़के के जन्म पर उत्सव मनाया जाता है, लड़की अभागिनी मानी जाती है, लड़के को ज्यादा अच्छा खाना खाने को मिलता है, उसे लड़की के मुकाबले प्यार भी ज्यादा किया जाता है । इस समाज में 'सुभागी' जैसी भाग्यशाली लड़कियाँ बहुत ही कम होती हैं, जिन्हें माता-पिता लड़के के समान पालते-पोसते हैं । पिंडदान जैसी कुछ धार्मिक क्रियाएँ भी लड़के के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं । यहाँ तक कि लड़के और लड़की के लिये नैतिकता की कसौटी भी अलग होती है । 'उद्धार' में प्रेमचंद ने लिखा है : ''बेटों की दुश्चरित्रता कलंक की बात नहीं समझी जाती । लेकिन कन्या का विवाह तो

जाना ही पड़ेगा, उससे भागकर कहाँ जाएगी ? अगर विवाह में विलम्ब हुआ और कन्या के पाँव कहीं ऊँच - नीच पड़ गए, तो फिर कुटुम्ब की नाव तट गई, वह पतित हो गया, टाट बाहर कर दिया गया ।''[42] लड़की की शादी करने के लिए पिता को भारी मात्रा में दहेज देना पड़ता है, इसके अभाव में अनमेल विवाह करना पड़ता है । 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचंद ने इसकी दास्तान बयान की है । प्रेमचंद ने एक 'दुखी बाप' को सलाह दी थी – '' हमें तो इसका एक ही इलाज नजर आता है और वह यह है कि लड़कियों को ऊँची शिक्षा दी जाय और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिये छोड़ दिया जाय, उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं । उनको विवाहित देखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिये और जैसे युवकों के विषय में हम उनके पथभ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते, उसी प्रकार हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिये । तब यदि वह गृहिणी जीवन बसर करना चाहेंगी, तो अपनी इच्छानुसार अपना विवाह कर लेंगी, अन्यथा अविवाहित रहेंगी। और सच पूछो तो यही मुनासिब भी है । हमें कोई अधिकार नहीं है, कि लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध केवल रूढ़ियों के गुलाम बनकर, केवल इस भय से कि खानदान की नाव न कट जावे, लड़कियों की किसी न किसी के गले मढ़ दें । हमें विश्वास करना चाहिये कि लड़के अपनी रक्षा कर सकते हैं, तो लड़कियाँ भी अपनी रक्षा कर लेंगी ।''[43] निश्चय ही प्रेमचंद ने व्यंग्य करते हुए, मजबूरी में इस तरह की इच्छा व्यक्त की है, जिसमें परिस्थितियों के दबाव का हाथ है । फिर भी स्त्री-पुरुष की समानता के वह हामी तो थे ही ।

स्त्री को स्वतंत्र मनुष्य न मानकर पुरुष की दासी बना देना प्रेमचंद की दृष्टि में वर्तमान व्यवस्था का बहुत बड़ा दोष है । इसमें नारी के जनतांत्रिक अधिकारों का हनन होता है । 'कुसुम' में एक पात्र कहता है : ''स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा-पढ़ा कर हमने उनके आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दोनों ही का अन्त कर दिया । अगर पुरुष स्त्री का मोहताज नहीं, तो स्त्री भी पुरुष की मोहताज क्यों हो ।''[44] प्रेमचंद ने इसलिए परिवार

में सुख-शांति बनाए रखने के लिए भी स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों की पक्षधरता की है । ''सुसभ्य दाम्पत्य की नींव अधिकार-साम्य पर ही रखी जा सकती है। इस साम्य में प्रेम का निर्वाह हो सकता है, मुझे तो इसमें संदेह है ।''[45]

तत्कालीन भारतीय कानून के नारी विरोधी पक्ष की आलोचना भी प्रेमचंद ने 'बेटी वाली विधवा' कहानी में की है । कानून के अनुसार पति के मरने के बाद उसकी संपत्ति पर उसके पुत्रों का अधिकार हो जाता है, स्त्री का नहीं । ऐसी स्थितियों में नारी की स्थिति कितनी करुण हो जाती है, इसे प्रेमचंद ने 'गबन' की रतन के जीवन के वर्णन से भी बताया है ।

इस तरह प्रेमचंद ने समाज के सभी स्तरों पर समानता के सिद्धान्त का पालन करने की आवश्यकता पर बल दिया है । उनकी इस धारणा का संकेत उनके राष्ट्रवाद और जनवाद — दोनों से है । राष्ट्र की नवीन परिकल्पना में इस समानता का केन्द्रीय महत्त्व है । असमानता ही गुलामी है, समानता ही स्वाधीनता है । इस समानता में इस तरह मुक्ति की धारणा भी अन्तर्निहित है। राष्ट्रीय मुक्ति राष्ट्रों में समानता की माँग करती है और मानवीय मुक्ति मनुष्यों के बीच समान संबंधों की गारंटी देती है । बंधनों से जकड़ा हुआ मनुष्य समानता का पालन कैसे कर सकता है । इसलिए मनुष्य को धर्म, रूढ़ियाँ, धन, और तेज के बंधनों से मुक्त किया जाना चाहिये । यह मानव मुक्ति ही उनके साहित्य का उद्देश्य है ।

प्रेम की धारणा :

उस युग के साहित्य में प्रेम को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है । छायावादी कवियों ने तो प्रकृति और प्रेम की ही कविताएँ अधिकतर लिखी । प्रेम उस युग में सामाजिक बन्धनों से मुक्ति का रूप रहा है । प्रेम मनुष्य की मनुष्यता का लक्षण है और उसका प्रमाण भी । स्वयं प्रेमचंद भी प्रेम के बड़े भारी पक्षधर थे । नवाबराय से बदलकर उन्होंने अपना नाम भी 'प्रेम' रख लिया । 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने ज्ञान के मुकाबले में प्रेम का पक्ष लिया है । उनके अनुसार बुद्धि और

समझ मनुष्य को स्वार्थ की ओर ले जाती है, जबकि प्रेम मनुष्य में सेवा और आत्मबलिदान के भाव जाग्रत करता है । सच्चे प्रेम की एक ऐसी परिकल्पना में प्रेमचंद को पूर्ण विश्वास था, जिसके उदित होते ही मनुष्य अपनी हित-चिन्ता की भावना से ऊपर उठ जाता है और वही करता है, जिसमें 'प्रिय' का हित हो । प्रिय के हित के लिए वह बड़े-से-बड़ा बलिदान कर सकता है । 'एक्सेस' की तारा में कुँवर निर्मलकान्त चौधरी के लिए एक दिन वही सच्चा प्रेम जाग्रत होता है और वह स्वार्थ की भावना से ऊपर उठ जाती है । कुँवर साहब भी तारा से प्रेम करते थे । प्रेम प्रेम को पैदा करता है, उससे मनुष्य 'मानवीय' हो जाता है । प्रेम मनुष्य को दुर्भावों से ऊपर उठाता है ।

जिस तरह सच्चा प्रेम मनुष्य में सेवा और आत्म-बलिदान के भाव जाग्रत करता है, उसी तरह सच्चा प्रेम उसे सेवा और आत्मबलिदान से ही प्राप्त होता है । प्रेमचंद के अनुसार शारीरिक स्वार्थों से उत्पन्न प्रेम प्रेम नहीं होता, बल्कि 'वासना' होती है । ऐसा आकर्षण अस्थायी और चंचल होने के कारण त्याज्य है। प्रेमचंद की रचनाओं में सच्चे प्रेमी को ही वास्तविक सफलता मिलती है । 'सती' में प्रेमचंद ने रत्नसिंह के मनोभावों का विवरण देते हुए लिखा है : '' औरों के प्रेम में विलास था ; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप । और लोग मीठी नींद सोते थे, पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था । और सब अपने दिल में समझते थे कि चिंता मेरी होगी — केवल रत्नसिंह निराश था, और इसलिए किसी से न द्वेष था, न राग । औरों की चिंता के सामने चपरासे देखकर उसे उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशाधिकार और भी घना हो जाता था । कभी-कभी वह अपने बेडौलपन पर झुंझला उठता — क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रखा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं ।''[46] रत्नसिंह की हैसियत के बावजूद विजय उसी की होती है ।

प्रेमचंद दिखाऊ, स्वार्थ और सामाजिक प्रेम को भी मान्यता देते हैं, उछाह, हेलापन, आकर्षण-प्रदर्शन प्रिय प्रेम की आलोचना करते हैं । प्रेमचंद प्रेम को स्थायी

बनाना चाहते हैं और इसका आधार सेवा है । सेवा के द्वारा वेश्या के हृदय को भी प्रेमिका के हृदय में बदला जा सकता है । सेवा प्रेमचंद के अनुसार प्रेम का ही नहीं, मानव जीवन का आधार है । समाज सुधार आन्दोलन 'दया' पर चल रहा था, जिसमें अहंकार की भावना काम करती है । प्रेमचंद सेवा पर बल दे रहे थे, जिसमें आत्मबलिदान की भावना छिपी रहती है । 'कर्मभूमि' कहानी में प्रेमचंद ने सेवामय प्रेम की महत्ता को स्थापित किया है और उद्धार के दंभ को निष्फल बताया है । यह प्रेम व्यक्तिगत जीवन से लगाकर राष्ट्रीय प्रेम तक फैला हुआ है । प्रेमचंद किसानों से उसी तरह का 'प्रेम' करते हैं । वे किसानों का 'उद्धार' करने की वकालत नहीं करते । किसानों से प्रेमचंद का रिश्ता इससे ज्यादा गहरा है ।

भारतीय किसान और प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि :

इसी आलोचक आपत्तियों ने जीवन-यथार्थ और जीवनदृष्टि के द्वन्द्वात्मक संबंधों को रेखांकित करते हुए लिखा है कि यथार्थ के उद्घाटन में तो लेखक की जीवनदृष्टि की भूमिका तो होती ही है, लेकिन लेखक की जीवनदृष्टि के विकास में भी उस जीवन की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है, जिसका चित्रण लेखक करता है ।[47] प्रेमचंद के साहित्य का अध्ययन इस दृष्टि से भी किया जा सकता है । अपनी जीवनदृष्टि से ही उन्होंने समाज में किसानों के महत्त्व और उनकी भूमिका को समझा । इसी कारण किसानों के जीवन यथार्थ को उन्होंने अपने साहित्य का विषय बनाया । इसी कारण किसानों ने उनकी जीवनदृष्टि के विकास में योग भी दिया ।

औपनिवेशिक समाज में सबसे ज्यादा शोषक वर्ग किसान होता है । अतः शोषण का विरोध भी वही सबसे ज्यादा करता है । वह मेहनत की कमाई खाता है, इसलिए हराम की कमाई खाने वालों से घृणा करता है । लेकिन (एक हद तक) वह असमर्थ और असंगठित होता है, इसलिए उसकी घृणा मुखर नहीं हो पाती और वह विनयशीलता के आवरण में दबी हुई रहती है । प्रेमचंद ने इस आवरण

दी एटा दिया और इस तरह करोड़ों करोड़ मूक भारतीय किसानों की भावनाओं को वाणी दी तथा समाज के शोषकों के प्रति किसानों की एक घृणा को प्रकट कर दिया । प्रेमचंद के साहित्य से भारतीय किसान अपने शोषकों को ज्यादा अच्छी तरह से पहचान सकता है और उनके शोषण के स्वरूपों को जान कर उन्हें दूर करने के उपाय भी ढूंढ सकता है । प्रेमचंद साहित्य से आज का किसान अपने अतीत को झांक कर देख सकता है । इतने सजीव और जीवन्त रूप में प्रेमचंद ने भारतीय किसानों को साहित्य में उपस्थित किया है । किसानों के प्रति दया भाव तो अब तक अन्य अनेक रचनाकारों ने व्यक्त किया है, लेकिन उनका प्रतिनिधि स्वर बोलने वाले हिंदी के पहले रचनाकार प्रेमचंद ही हुए । इसलिए भारतीय किसान और ग्राम्य जीवन के प्रति उनमें न तो पूजा भाव है और न दया भाव । उन्होंने न केवल साहित्य जगत में किसानों का मानवीय रूप में प्रवेश कराया, बल्कि किसानों की आंखों से इस दुनिया को देखा और जिन दृश्यों को किसान अब तक नहीं देख पाए थे, उन दृश्यों को भी उन्हें दिखाया । पहचर लेखक की भांति उन्होंने किसानों की शक्ति और सीमा — दोनों को पहचाना । उन्होंने भारतीय समाज में किसान की स्थिति, अन्य वर्गों से उसके संबंध, उसका शोषण, उसकी पीड़ा, उसके संघर्ष और उसके महत्त्व पर अपनी रचनाओं में प्रकाश डाला ।

प्रेमचंद किसानों के पहले रचनाकार हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रेमचंद का चिंतन और उनकी जीवन दृष्टि भी किसानों की दृष्टि तक ही सीमित और संकुचित है । किसानदृष्टि के प्रति प्रेमचंद की दृष्टि तीन तरह की है । प्रेमचंद किसानों की दृष्टि के एक पक्ष का विरोध करते हैं और उसकी आलोचना करते हैं ; उनकी दृष्टि के एक पक्ष का न तो विरोध करते हैं और न उसे अस्वीकृत की है, बल्कि उसे सहानुभूतिपूर्वक उपस्थित करते हैं और अपने लिए उचित दूरी बनाए रखते हैं ; इसके अलावा किसानों की दृष्टि के एक पक्ष को प्रेमचंद अपनी दृष्टि में समाहित कर लेते हैं और इस स्थान पर प्रेमचंद किसान दृष्टि को अपनाते हैं ।

भारतीय किसान अपनी सामाजिक स्थिति, परंपराओं और रूढ़ियों से जकड़ा हुआ है, इसलिए उसके दृष्टिकोण में भी विकृतियाँ हैं। इसी कारण वह 'असमानता की परंपरागत संस्कृति' को वैध और उचित मानता है। ईश्वर के अस्तित्व और उसकी दयालुता में किसान की आस्था है और अपनी पीड़ा को अपना भाग्य मानकर वह सन्तोष भी कर लेता है। इसी तरह अपने चेतनागत प्रभावों के कारण वह उन व्यक्तियों को भी अपना मित्र मानता रहता है, जो उसका शोषण करते हैं। वह प्राकृतिक पीड़ाओं और मृत्यु से इतना डरा हुआ और असुरक्षित महसूस करता रहता है, जिसके कारण वह हर नवीन परिवर्तन का विरोध करता है। प्रेमचंद गहरी सहानुभूति से किसानों के इस मानसिक पिछड़ेपन का चित्रण करते हैं और इसके साथ ही उन वर्गों और लोगों की आलोचना करते हैं जो एक तो किसान की इस हालत के लिए जिम्मेदार हैं और दूसरे, जो किसान की इस स्थिति से फायदा उठाते हैं। प्रेमचंद किसानों के इस भाग्यवादी दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं और उन्हें इन विचारों को त्याग देने की क्रान्तिकारी सलाह देते हैं। प्रेमचंद ने उन बुद्धिजीवियों की आलोचना की है जो किसान को निरक्षर होने के कारण मूर्ख - गंवार मानते हैं। 26 जनवरी 1934 को 'निरक्षरता की दुहाई' शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचंद ने लिखा :

'' हमारे किसानों की निरक्षरता की दुहाई देना एक फैशन-सा हो गया है, लेकिन किसान निरक्षर होकर भी शहर के साक्षरों से ज्यादा चतुर है। साक्षरता अच्छी चीज है और उससे जीवन की कुछ समस्याएँ हल हो जाती हैं, लेकिन यह समझना कि किसान निरा मूर्ख है, उसके साथ अन्याय करना है। वह परिश्रमी है, त्यागी है, परिक्रमी है, विनयशील है, दूरदर्शी है, हिम्मत का पूरा है, नीयत का साफ है, दिल का दयालु है, बात का सच्चा है, धर्मात्मा है, नशा नहीं करता, और क्या चाहिए। कितने साक्षर हैं, जिनमें ये गुण पाये जाएँ। हमारा तजरबा तो यह है कि साक्षर होकर आदमी स्वार्थी, बदनीयत, झूठी और लालची हो जाता है। किसान इसलिए हेय नहीं है, कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें पढ़े से पढ़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता।''[48]

इस तरह प्रेमचंद सामान्यतः किसानों का पक्ष ही लेते हैं, लेकिन 'गोदान' में धनिया जब होरी की आलोचना करती है, तो लगता है कि रचनाकार खुद भी बोल रहा है । किसान का भाग्यवाद प्रेमचंद के अनुसार किसान का उतना ही बड़ा दुश्मन है, जितनी सामंती सरकार । इस स्तर पर कहा जा सकता है कि किसान के इस पक्ष की आलोचना में भी किसान की चिंता-चिन्ता निहित है और एक तरह से अपनी द्वारा की गयी अपने लोगों की आलोचना है ।

इसके अलावा प्रेमचंद किसानों की दृष्टि को इस तरह भी उपस्थित करते हैं, जो किसानों के लिए अच्छे जीवन की परिकल्पना के रूप में उपस्थित होती है । प्रेमचंद किसानों के अच्छे जीवन की इस परिकल्पना को सम्पूर्ण रूपाकार के लिए तो नहीं, लेकिन किसानों के लिए उचित ही मानते हैं । इसमें किसानों की ये छोटी-छोटी आकांक्षाएँ आती हैं, जो जीवनभर पूरी नहीं हो पाती । होरी की गाय लेने की इच्छा एक ऐसी ही इच्छा है जो अथक परिश्रम के बावजूद पूरी नहीं हो पाती । ऐसी अपूर्ण इच्छाओं का चित्रण करते हुए प्रेमचंद ने यह दिखाया है कि किसानों के शोषण की मात्रा कितनी अधिक है । यह होरी, जो जीवन भर गाय लेने की इच्छापूर्ति के लिए संघर्ष करता रहा, जब मरता है तो पंडित दातादीन गोदान की आवश्यकता समझाते हैं । आखिर किसान क्या चाहते हैं, स्वयं किसान ('गोदान' में) कहते हैं : '' हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना और मोटा-झोटा खाना और मजाद के साथ रहना चाहते हैं ।''[49]

मजाद के साथ रहने के लिए किसान किसान के ही रूप में रहना चाहता है, खेत-मजूर बनना वह अपना अपमान समझता है । वह अपने खेतों की रक्षा के लिए ही संघर्ष करता रहता है । 'बलिदान' का गिरधर खेत छूट जाने के बाद मर जाता है क्योंकि '' इतने दिनों तक स्वाधीनता और सम्मान का सुख भोगने के बाद अधम चाकरी की शरण लेने के बदले वह मर जाना अच्छा समझता था ।''[50] 'गोदान' का होरी अपने तीन बीघे खेतों के लिए क्या नहीं करता ?

कर्ज लेता है, भाग्यों के सहारे मारता है, झूठ बोलता है, यहाँ तक कि अपनी देटी भी बेचता है । फिर भी उसकी चाल में गौरव, उसकी अनैतिकता में भी भव्यता दिखायी देती है — क्योंकि रचनाकार की नजर में उसके दोष उसकी मजबूरियाँ हैं । किसान खेती की रक्षा के लिए अथक परिश्रम एसीलिए करता है क्योंकि ''कृषि-प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु भी है । गृहस्थ कहलाना गर्व की बात है । किसान गृहस्थी में अपना सर्वस्व झोंका विदेश जाता है, वहाँ से धन कमाकर लाता है और फिर गृहस्थी करता है । मान-प्रतिष्ठा का मोह औरों की भाँति उसे घेरे रहता है । वह गृहस्थ रहकर जीना और गृहस्थी में मरना भी चाहता है । उसका लालचाल कर्ज से बँधा हो, लेकिन द्वार पर दो-चार बैल बाँधकर वह अपने को धन्य समझता है । उसे साल में 360 दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल में घुसकर रात काटनी पड़े, बेबसी से जीना और बेबसी से मरना पड़े, पर हिला नहीं ; वह गृहस्थी तो है । यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है ।''[51]

प्रेमचंद किसान के छोटे-मोटे स्वार्थ को जायज मानते हैं क्योंकि उसके लिए परिस्थितियाँ उसे मजबूर करती हैं । खेती के अलावा, किसान संयुक्त परिवार में रहना चाहता है । वह कष्ट सहकर भी संयुक्त परिवार के रिश्तों को मानता है । प्रेमचंद ने उस प्रक्रिया को वस्तुगत रूप से दिखाया है कि संयुक्त परिवार टूट रहा है । फिर संयुक्त परिवार टूट जाने के बाद भी किसान की चेतना संयुक्त परिवार को मानती रहती है । प्रेमचंद/ किसान-पात्रों के उस दर्द को बहुत सहानुभूति से चित्रित किया है, जो उन्हें संयुक्त परिवार के टूट जाने के बाद होता है ।

वास्तव में किसान की दृष्टि के निर्माण में उन परिस्थितियों का योग भी बहुत ज्यादा होता है, जिसमें उन्हें जीवन जीना पड़ता है । रॉबर्ट रेडफील्ड ने किसान दृष्टि पर विचार करते हुए लिखा है कि किसान की जमीन से भावनीय लगाव होता है, उसके अनुसार व्यापार की तुलना में खेती करना ज्यादा अच्छा है और उत्पादन कर्म पुण्य कर्म है ।[52] जमीन के इस गहरे लगाव का दाप

किसानों की सुरक्षा की भावना है । इसी असुरक्षा से उबरने के लिए जमीन पर स्थायी अधिकार करना चाहता है । प्रेमचंद की रचनाओं में खेती के प्रति इस लगाव और उत्पादन के महत्व पर जो बल दिया गया है, उसका विश्लेषण हो किया जा चुका है । 'रंगभूमि' का सूरदास मानता है — '' भाई, खेती सबसे उत्तम है, बान उससे मध्यम है ; बस, इतना ही फरक है ।''[53] खेती को उत्तम मानने के कारण ही प्रेमचंद समाज में किसान को सर्वाधिक महत्व देते हैं । 'हतभागे किसान' (19 दिसम्बर 1932) टिप्पणी में उन्होंने लिखा : '' राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है । हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब इन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भरपेट अन्न को तरसते हैं, जड़ि-पति में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं ।''[54] इसके अलावा शहर के प्रति जो दृष्टि प्रेमचंद में है, उसमें भी किसान दृष्टि की भूमिका है । किसानों में शहर के प्रति जो सन्देह मिश्रित सराहना का भाव मिलता है,[55] प्रेमचंद की रचनाओं में भी शहर इसी रूप में आता है । विशेष रूप से 'रंगभूमि' में शहर और गाँव इसी रूप में आये हैं । इसके अलावा किसान परिश्रमी होता है और यह चाहता है कि उसका पुत्र भी खूब परिश्रमी हो । परिश्रम से ही उसका जीवन यापन हो पायेगा और उसी से उसे सम्मान मिलेगा । 'सुजान भगत' और होरी दोनों को अपने पुत्रों के काम न करने की प्रवृत्ति से कभी-कभी चिंता होती है । कर्म के प्रति प्रेमचंद ने जो दृष्टि अपनायी है, उसमें किसानों का योग है । 'रंगभूमि' या फिर मोटेराम शास्त्री जैसे निठल्ले व्यक्तियों की प्रेमचंद आलोचना करते हैं ।

किसान बहुत ही यथार्थवादी और व्यावहारिक व्यक्ति होता है । उसे वर्तमान काल की समस्याओं से इतना जूझना पड़ता है कि वह बहुत दिनों तक न तो अतीतजीवी हो सकता है और न भविष्य की कल्पना में मगन रह सकता है । 'बेटी का धन' का सुखू चौधरी एक ही एहसान से इतना दब गया कि जिस गाहू साहु को वे जन्म भर बुरा-भला कहते रहे थे, सब भूल गये । होरी भी

एसी तरह का भुलक्कड़ किसान है । प्रेमचंद की रचनाओं का यथार्थवाद भारतीय किसान का यथार्थवाद ही है । प्रेमचंद का मन अतीत की घटनाओं में रमता नहीं था । इसीलिए उन्होंने प्रसाद की 'गड़े मुर्दे उखाड़ने' के लिए आलोचना की और जब उन्होंने समकालीन जीवन पर साहित्य लिखा तो प्रेमचंद ने उसका है उन्हें बधाई दी । पटना म्यूजियम देखते हुए उन्होंने देवारी विशोर शरण से कहा — '' अजायबघर पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीजों से हमें क्या लाभ ? हमें तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए ।''[56] इसी तरह उन्होंने दुखवादियों की भविष्य चिंता की भर्त्सना करते हुए 'दुखी जीवन' नामक टिप्पणी में लिखा : '' भविष्य की चिन्ता दुख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है । कल क्या होगा ? घर का कुछ भी इन्तजाम न कर सके । मकान न बनवा सके । पोते का विवाह भी न देखा । उधर हमने आँखें बन्द कीं और उधर सारी गृहस्थी तीन-तेरह हुई । लड़का उड़ाऊ है, पैसे की कद्र नहीं करता, न जमाने का रंग देखता है । इस चिंता में सवार रात को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है ।''[57] प्रेमचंद ने ऐसे लोगों को सलाह दी है कि भविष्य की चिंता छोड़ो । 'गोदान' के मेहता साहब कहते हैं : ''मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता । मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है । भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है । हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है ।''[58] इसीलिए प्रेमचंद ने वर्तमान काल की समस्याओं पर ही अपने साहित्य का एक बड़ा भाग लिखा है, लेकिन उनके पास भविष्य की एक कल्पना (स्वराज्य के रूप में) और अतीत का बोध (समकालीन अधःपतन के कारणों के रूप में) भी रहा है ।

संक्षेप में प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि राष्ट्रीय, उनके मूल्य जनतांत्रिक और उनका दर्शन भौतिकवादी है तथा इसके साथ ही वे किसानों के पक्षधर बुद्धिजीवी हैं ।

—

टिप्पणियाँ

1- साहित्य का उद्देश्य, पृ0 26

2- नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ0 3 , विश्वभारती प्रकाशन, धनवटे चेम्बर्स, नागपुर, प्रथम संस्करण, 1964

3- "A writer's outlook is concerned not only with politics but onconpassos questions as divorse as philosophy, society, history, ethics, sonstruction, the relationship between classes, an awareness of nature, the problem of understanding itself and the life of the individual in society,etc.And often a writer's political views are totally inconsistent with his understanding and exposition of the processes of life, of social relations and historical events." 'The Writer's Creative Individuality and the Development of Literature'pp.40 by N. Khropshonko,Progress Publishers, Moscow, USSR ,First Printing, 1977 ,translated into English.

4- चिट्ठी पत्री, भाग-1, पृ0 93

5- उदाहरण के लिए 'सोवियत रूस की उन्नति' (28 नवम्बर 1932) और 'रूस में समाचारपत्रों की उन्नति' (30 अक्टूबर 1933) शीर्षक 'जागरण' की टिप्पणियों को देखा जा सकता है । 'विविध प्रसंग' भाग-2, में ये संगृहीत हैं ।

6- '' मनोहर भी स्त्री है, उसने वही किया है जो स्त्री करती है । वह वीर आत्मा था । इस मन्दिर में अब उसकी समाधि बनेगी और उसकी पूजा होगी । इसमें अभी किसी देवता की स्थापना नहीं हुई है, अब उसी वीर मूर्ति की स्थापना होगी । उसने गाँव की लाज रख ली, स्त्री की मर्यादा रख ली ।'' 'प्रेमाश्रम', पृ0 260

7- 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ0 258

8- प्रेमचंद स्मृति, पृ0 86

9- 'विविध प्रसंग' , भाग-2, पृ0 233

10- प्रेमाश्रम, पृ0 87

11- सरस्वती, भाग-30खण्ड 1 संख्या-2, पृ0 138

12- कर्मभूमि, पृ0 228

13- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 262

14- 'हंस, अप्रैल 1930 में 'स्वराज्य से क्या क्या मिलेगा' शीर्षक टिप्पणी । 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ0 42

15- '' पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं ; कि उनमें सिर से पाँव तक दोष ही दोष है, और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण । इस अंध भक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष ।'' 'हंस' जनवरी 1931 में 'मानसिक पराधीनता' शीर्षक टिप्पणी । 'विविध प्रसंग', भाग-3, पृ0 189

16- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 420

17- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 366

18- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ0 193 – प्रेमचंद ने 'दीक्षा' कहानी में भी पूर्व और पश्चिम का अंतर बताया है । '' स्वार्थसेवा यीरोपी शिक्षा का प्राण है । पूर्व सन्तान के लिए, यश के लिए, धर्म के लिए मरता है, पश्चिम अपने लिए । पूर्व में घर का स्वामी सबका सेवक होता है, वह सबसे ज्यादा काम करता, दूसरों को खिलाकर खाता, दूसरों को पहनाकर पहनता है ; किन्तु पश्चिम में वह सबसे अच्छा खाना, अच्छा पहनना अपना अधिकार समझता है । यहाँ परिवार सर्वोपरि है, वहाँ व्यक्ति सर्वोपरि है ।'' मानसरोवर, भाग-3, पृ0 187-188

19- विविध-प्रसंग, भाग-3, पृ0 87

20- ''..... हानि, लाभ, जीवन, मरण, जस, अपजस विधि के हाथ है, हम तो खाली मैदान में खेलने के लिए बनाए गए हैं । सभी खिलाड़ी

मन लगाकर खेलते है, सभी चाहते है कि हमारी जीत हो ; लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या हारने वाले हिम्मत हार जाते है? वे फिर खेलते है ; फिर हार जाते है, तो फिर खेलते है । कभी-कभी तो उनकी जीत होती ही है ।'' – 'रंगभूमि', पृ० 543

21- 'चिट्ठी पत्री', भाग-1, पृ० 133

22- विविध प्रसंग , भाग-3, पृ० 87

23- चाँद, दिसम्बर 1926 के 'गबन का प्रस्ताव' – 'विविध प्रसंग,' भाग-3, पृ० 46

24- गोदान, पृ० 166

25- मानसरोवर, भाग-7, पृ० 217

26- कर्मभूमि, पृ० 231

27- मानसरोवर, भाग-6, पृ० 182

28- रंगभूमि, पृ० 23

29- मानसरोवर, भाग-3, पृ० 144

30- कायाकल्प, पृ० 117

31- रंगभूमि, पृ० 582

32- 'प्रेरणा' में एक पात्र कहता है : '' आप सीढ़ियों पर पाँव रखे बीस हाथ की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते । सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की जिन्दगी ही सीढ़ी का काम देती है ।'' – 'मानसरोवर', भाग-4, पृ० 12

33- मानसरोवर, भाग-2, पृ० 237

34- रंगभूमि, पृ० 57

35- मानसरोवर, भाग-2, पृ० 246

36- मानसरोवर, भाग-1, पृ० 191

37- चिट्ठी पत्री, भाग-2, पृ० 93

38- चिट्ठी पत्री, भाग-1, पृ० 93

39- कर्मभूमि, पृ० 383

40- गोदान, पृ० 18

41- कर्मभूमि, पृ० 153

42- मानसरोवर, भाग-3, पृ० 38

43- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 260

44- मानसरोवर, भाग-2, पृ० 13

45- मानसरोवर , भाग-2, पृ० 18 – एक तरह 'शांति' की भोपा भी कहती है — '' स्त्री-पुरुष में विवाह की पहली शर्त यह है कि दोनों सीलनों आपस में एक दूसरे के हो जाएँ।'' – 'मानसरोवर,' भाग-1, पृ० 108

46- मानसरोवर, भाग-5, पृ० 76

47- "It is not enough simply to investigate the part played by the writer's world outlook in his artistic treatment of reality. That is only one side of the question, but there is another side to it, and a very important one : the why life itself influences the development of the writer's outlook, the process of creation, and the results of that process". 'The Writer's Creative Individuality and the Development of Literature', pp.18.

48- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 507

49- गोदान, पृ० 153

50- मानसरोवर, भाग-8, पृ० 72

51- कर्मभूमि, पृ० 289

52- "There are an intimate and reverent attitude towards land; the idea that agriculture work is good and commerce not so good and an emphasis on productive industry as the prime virtues",'Peasant society and Culture',pp.112 by Robert Redfield. The University of Chicago Press,Chicago & London, Fifth Printing ,1969.

53- रंगभूमि, पृ० 24

54- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 486

55- 'Peasant Society and Culture', pp.140

56- प्रेमचंद स्मृति, पृ० 49

57- विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 88

58- गोदान, पृ० 166

—

आठवाँ अध्याय

उपसंहार

प्रेमचंद-साहित्य में भारतीय किसान की संश्लिष्ट प्रतिमा

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में भारतीय किसान का व्यापक और संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय किसान की परिपाटी निरपेक्ष तस्वीर पेश करने का प्रयास नहीं किया है। इसलिए उनके साहित्य से भारतीय किसान की 'शाश्वत' तस्वीर निकालना निरर्थक ही होगा। उन्होंने अपने साहित्य में समकालीन किसान की तस्वीर पेश की है। समकालीन किसान की प्रेमचंद द्वारा प्रस्तुत तस्वीर कितनी पूर्ण है, इसी बिन्दु पर विचार किया जा सकता है। उन्होंने उन सब स्थितियों - परिस्थितियों का वर्णन अपने साहित्य में विस्तार से किया है, जिनमें भारतीय किसान को जीवन बसर करना पड़ रहा है। उन परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ, टूटता हुआ, समझौता करता हुआ, परिस्थितियों को तोड़ता हुआ और नयी परिस्थितियों का निर्माण करता हुआ भारतीय किसान का 'व्यक्तित्व' प्रेमचंद की रचनाओं में उभर कर आता है।

इस संदर्भ में एक बात दृष्टव्य है कि प्रेमचंद के साहित्य में संपूर्ण भारतीय किसान का संपूर्ण चित्र उपस्थित नहीं हुआ है। भारत सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इतना विशाल देश है, उसमें किसानों की भी इतनी विविधता है, कि उन्हें किसी एक चरित्र में समेटना असंभव है। इसीलिए वे अपने समय के भारतीय किसान की तस्वीरों की जो भिन्नताएँ और विशिष्टताएँ हैं, उन्हें अपने साहित्य में रचनाकार ने समेटने का लोभ भी नहीं किया है। यद्यपि उस युग में संपूर्ण भारत अंग्रेजों के अधीन था और इस रूप में भारतीय किसान एक ही सामन्तिक राज्य सत्ता के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था। फिर भी

उनमें कुछ भिन्नताएँ थीं । भारत के कुछ प्रांत देशी राजाओं के अधीन थे । फिर भी भारत में भी स्थायी और रैयतवारी की अलग-अलग भूमि व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं । उनमें भी कुछ क्षेत्रीय भिन्नताएँ रही हैं । प्रेमचंद की रचनाओं में उन किसानों का वर्णन है, जो जमींदारी उत्पीड़न के अन्दर जीवन व्यतीत कर रहे थे । प्रेमचंद के किसान पात्रों का संघर्ष और उनकी पीड़ा के मूल में कहीं न कहीं जमींदारी उत्पीड़न रहा है । भौगोलिक दृष्टि से भी प्रेमचंद ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसानों को अपने साहित्य में उपस्थित किया है । उनमें बलिया, फैजाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, इलाहाबाद, बनारस, गोरखपुर, लखनऊ, बांदा के आसपास के किसान शामिल हैं, जहाँ स्वयं प्रेमचंद रहे भी हैं । चूंकि इन स्थानों पर अधिकतर हिन्दू किसान ही रहते हैं, अतः संख्या की दृष्टि से प्रतिनिधि भारतीय किसान का सर्जन करते हुए प्रेमचंद ने हिन्दू किसानों को ही उसके लिए चुना है । हालांकि हामिद और फुम्मन शेख जैसे मुस्लिम चरित्र भी उनके साहित्य में आते हैं, लेकिन समाज की तरह उनके साहित्य में भी ये अल्पसंख्यक ही हैं । इस तरह प्रेमचंद ने किसानों की आध्यात्मिक विचार-प्रणाली का संज्ञान करते हुए उन्हें हिन्दू सांस्कृतिक परंपरा के भीतर ही रखा है । इस तरह प्रेमचंद के भारतीय किसान के प्रतिनिधि चरित्र सीमित क्षेत्र के निवासी हैं— उन्हें संपूर्ण भारतीय किसानों का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता ।

इसके अलावा उस युग के किसानों में भी अनेक स्तर मिलते हैं । हालांकि उन्होंने (पूर्वी उत्तर प्रदेश के) उन सभी स्तरों का चित्रण किया है, फिर भी किसानों के बीच पनप रही इस भिन्नता को किसी पात्र में समेटना बहुत कठिन कार्य होता है, अतः इस संदर्भ में भी प्रेमचंद ने रचनात्मक चुनाव का रास्ता ही अपनाया है । भारत की जाति-व्यवस्था भारतीय किसानों की एकता में बहुत बड़ी बाधा है । प्रेमचंद ऐसे राष्ट्रीय रचनाकार हैं, जिन्होंने किसानों की इस जातिवादी भिन्नता के बीच जो एकता दिखाई देती है, उसी को रेखांकित किया है । प्रेमचंद के पात्र जब पाठकों के सामने आते हैं तो पाठकों के मन में उनकी जाति की जिज्ञासा पैदा नहीं होती और न ही प्रेमचंद अनावश्यक रूप से

एवं चलती थी है । अर्थ व्यवस्था के दाएं किसानों के व्यक्तित्व का भी रूप बनता है, उसी को प्रेमचंद चित्रित करते हैं ।

मोटे तौर पर उस युग में तीन तरह के किसान थे । कुछ ऐसे लोग थे, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार तो था, लेकिन वे उस पर स्वयं खेती नहीं करते थे । 'गोदान' के पंडित दातादीन ऐसे ही किसान थे । ये खेती के अलावा यजमानी और लेन-देन का धंधा भी करते थे । अधिकतर ब्राह्मण जाति के किसान स्वयं हल नहीं चलाते । प्रेमचंद ऐसे व्यक्तियों को किसान नहीं मानते । दूसरी श्रेणी उन किसानों की रही है, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार नहीं होता । ये दूसरों के खेतों पर काम करते हैं । ऐसे किसान मजदूर अधिकतर 'नीची समझी जाने वाली' जातियों के लोग होते हैं । प्रेमचंद ने दिखाया है कि आर्थिक दबावों से पीड़ित होकर किसान खेत-मजदूर बन रहे हैं। 'पूस की रात' का हल्कू, 'बलिदान' में गिरधारी का बेटा और 'गोदान' में स्वयं होरी अंत में खेत मजदूर बनने पर मजबूर हो जाता है । आधुनिक समाज में खेत मजदूरों की स्थिति और उनकी समस्याओं का चित्रण प्रेमचंद ने किया है, फिर भी उनके चित्रण में प्रेमचंद ने व्यापक दृष्टि नहीं दिखायी है और इस तरह उन लोगों को भी प्रेमचंद 'किसान' नहीं मानते । इसके अलावा कुछ ऐसे लोग भी गाँवों में रहते हैं, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार भी होता है और वे स्वयं अपने खेतों में काम करते हैं और जमीन की लगान देते हैं । प्रेमचंद इन्हीं को वास्तविक किसान मानकर उनकी समस्याओं का चित्रण करते हैं । ऐसे लोग अपनी जमीन को बचाने के लिए जो संघर्ष करते हैं, उसे प्रेमचंद ने बहुत सहानुभूति से उपस्थित किया है । ऐसे लोग अधिकतर मध्यम श्रेणी की जातियों से होते हैं । होरी, मनोहर, कादिर, गिरधारी, अलगू चौधरी , जीगुर ऐसे पात्र ही किसान पात्र हैं । जब किसान कहा जाता है, तब अधिकतर प्रेमचंद का तात्पर्य इन्हीं लोगों से होता है । प्रेमचंद इसी वर्ग के पक्षधर रचनाकार हैं । वे किसान को किसान के रूप में ही देखना चाहते हैं और इसी वर्ग में रहते हुए उनकी दशा-सुधारने का प्रयास करते हैं । और इसी वर्ग के रूप में

उन्हें सामाजिक महत्त्व और प्रतिष्ठा भी दिलाना चाहते हैं। उन किसानों के मजदूर बन जाने में वह उनका पतन देखते हैं। इसी कारण कहीं वे कर्जदार किसान की जो किसान बने रहने की हिंद नुमा कोशिश होती है, प्रेमचंद उसे पर्याप्त महत्त्व देते हैं। यह किसान की (एक वर्ग के रूप में) अस्तित्व रक्षा का सवाल है। वह उन परिस्थितियों से जिसमें खड़ा होता है और किसान की बना रहने में अपनी मर्यादा देखता है। इस मर्यादा रक्षा के लिए किसान जो 'पाप' करता है, प्रेमचंद उसे क्षम्य समझते हैं। यही कारण है कि कहीं की अनैतिकता में भी नैतिक गौरव छिपा दिखायी देता है।

प्रेमचंद ने एक तरफ जहाँ उन परिस्थितियों का चित्रण किया है, जिनमें भारतीय किसान को जीवन बसर करना पड़ रहा है; वहाँ उन्होंने उन स्थितियों के बीच जीवन यापन करते हुए मानवीय चरित्र के रूप में किसान चरित्र को भी परिभाषित किया है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पात्र और परिस्थितियों के बीच क्या और कैसा संबंध होता है? पात्र (मनुष्य) परिस्थितियों का निर्माता है या परिस्थितियाँ ही पात्रों का सर्जन करती हैं। भाववादी रचनाकार मानवीय चेतना को परिस्थितियों से ऊपर मानते हैं और इस तरह चेतना को परिस्थितियों में परिवर्तन में सक्षम मानते हैं। दूसरी तरफ कुछ ऐसे रचनाकार भी होते हैं जो मनुष्य को परिस्थितियों का दास मानते हैं, जिनके अनुसार मनुष्य वही करता है जो परिस्थितियाँ अनुमति दें। इस तरह दोनों तरह के रचनाकार पात्र और परिस्थितियों के संबंधों की सरल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

भाववादियों के अनुसार मनुष्य ही सर्जक है, निश्चयवादियों के अनुसार मनुष्य भोक्ता है। प्रेमचंद के साहित्य में पात्र और परिस्थितियों के द्वन्द्वात्मक संबंध अभिव्यक्त हुए हैं। पात्र और परिस्थितियों का संबंध इतना जटिल होता है कि दोनों को स्वतंत्र रूप से पहचानना भी मुश्किल है। परिस्थितियों से जहाँ मानवीय चरित्र निर्मित होता है, वहीं चरित्र परिस्थितियों को अपनी विशेषताओं

ो परिवर्तित करता रहता है और इस तरह मानवीय क्रियाशीलता नवीन परिस्थितियों का निर्माण करती है । इस संघर्षपूर्ण संबंध में ही पात्र और परिस्थितियों को पहचाना जा सकता है । निश्चय ही होरी और मेहता के व्यक्तित्व में जो अन्तर है, उसका कारण उनकी जीवन स्थितियों का अन्तर भी है । लेकिन समान परिस्थितियों में रहते हुए भी होरी और धीरा के चरित्रों में भेद है । एक ही चरित्र भिन्न परिस्थितियों में जाकर बदल जाता है, यह परिवर्तन परिस्थितियों की ही देन है । गोबर के व्यक्तित्व इस दृष्टि से द्रष्टव्य है । तात्पर्य यह है कि भारतीय किसान की चरित्रगत विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए हमें उन परिस्थितियों को नहीं भूल जाना चाहिए, जिनमें उसे जीवन-व्यापार करना पड़ रहा है ।

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में अनेक जीवन्त किसान-चरित्रों को उपस्थित किया है, जिनमें मनोहर, होरी, झिंगुरी चौधरी, घीसू, माधव आदि मुख्य हैं । प्रेमचंद के आलोचकों ने यह सवाल उठाया है कि प्रेमचंद के अनुसार प्रतिनिधि भारतीय किसान चरित्र कौन सा है ?[1] – मनोहर या होरी ? उग्र स्वभाव का मनोहर या नम्र स्वभाव का होरी ? – क्रांतिकारी मनोहर या परंपरावादी - समझौतावादी होरी ? आखिर किसे भारतीय किसान का प्रतिनिधि माना जा सकता है ।

सवाल को इस रूप में उठाने में आलोचकों की मंशा यह रहती है कि होरी को ('गोदान' के पात्र को) भारतीय किसान का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं । इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है (प्रेमचंद की नजरों में) कि भारतीय किसान भाग्य-विश्वासी है, रीतिरिवाजों में जकड़ा हुआ है, अज्ञानता को परंपरागत संस्कृति का वेष मानता है, परिस्थितियों से समझौता कर लेता है और इस तरह स्वाधीनता आन्दोलन में संघर्षशील भूमिका नहीं निभा रहा है । तथा इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि मनोहर, बलराज की (तथाकथित) क्रांतिकारिता रचनाकार के अपने मन का उत्साह है, वह भारतीय किसान के यथार्थ रूप के करीब नहीं है । निश्चय ही ये निष्कर्ष संतोषजनक रूप से नहीं निकलते

गति, लेकिन उनके तर्कों की परिणति उन्हीं निष्कर्षों में होती है ।

होरी और मनोहर के व्यक्तित्वों में जो विरोध दिखाया गया है, वह कितना वास्तविक है ? इस पर भी विचार किया जाना चाहिए । क्या उनके व्यक्तित्वों में जो विरोध दिखायी पड़ता है वह वास्तविक है या आरोपित दिखावा मात्र ? क्या उनका यह विरोध पात्रगत है या परिस्थिति जन्य ? तात्पर्यतः कहा जा सकता है कि होरी रूढ़िवादी भारतीय किसान का प्रतिनिधि है और मनोहर -बलराज 'क्रांतिकारी' किसान का प्रतिनिधि है । होरी अपने तीन बीघे के खेत के लिए अनैतिक कर्म करता है और फिर उसके अपराध बोध से ग्रस्त रहता है, जबकि बलराज को अपनी जमीन की चिन्ता नहीं है । वह मशीन की कीमत पर जमीन बचाना नहीं चाहता । बलराज के पास 'अखबार' आता है, जिसमें देश-विदेश की खबरें छपी होती हैं । होरी इस नवीन ज्ञान से वंचित है । वह गोबर से कहता है : '' बेटा, जब तक मैं जीता हूँ, मुझे अपने रास्ते चलने दो । जब मैं मर जाऊँ, तो तुम्हारी जो इच्छा हो, वह करना।''[2] इस तरह होरी परंपरा का अनुगामी है । बलराज किसानों का भविष्य है और होरी उनका अतीत रूप है । होरी वह किसान है जिसे अंततः मर जाना है। (गोबर किसानों के भविष्य का प्रतीक इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह 'किसानी' छोड़ चुका है और मजदूर बन गया है ।) सदियों के अत्याचार ने भारतीय रूढ़िवादी किसान में जो धैर्य और सहनशीलता का 'गुण' (?) विकसित किया है, जिसके कारण वह अन्याय के खिलाफ विद्रोह नहीं कर पाता ; होरी उस किसान का प्रतिनिधि है । लेकिन इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि 'गोदान' में अकेला 'होरी' ही सम्पूर्ण भारतीय किसान का प्रतिनिधि नहीं है, अकेला तो वह 'अधूरा' पात्र है । धनिया से मिलकर ही उसमें पूर्णता आती है । होरी और धनिया मिलकर एक संश्लिष्ट किसान चरित्र का रूप लेते हैं । और इस तरह देखा जाय तो मनोहर या बलराज की उग्रता धनिया के तेज के सामने सदैव मद्धिम ही ठहरती है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तव में मनोहर क्रांतिकारी है और दब्बू है ? 'प्रेमाश्रम' का संतुलित अध्ययन इसकी पुष्टि नहीं करता । अंत में आकर मनोहर एक बार रुपये सेर धी जमींदार को देने से इन्कार कर देता है । विलासी और कादिर उसे समझाते हैं, इससे उसका आक्रोश शांत होता है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने मनोहर की प्रकृति पर इस तरह टिप्पणी की है : '' यद्यपि मनोहर बढ़-बढ़ कर बातें कर रहा था, पर वास्तव में उनका इन्कार अब पराजित तर्क के समान था । यदि बिना दूसरों की दृष्टि में अपमान उठाये बिगड़ा हुआ खेल बन जाय तो उसे कोई आपत्ति नहीं थी । हाँ, वह स्वयं क्षमा-प्रार्थना करने में अपनी हेठी समझता था । एक बार तनकर गिर पड़ना उसके लिए बड़ी लज्जा की बात थी ।''[3] इस घटना के बाद मनोहर के घर से बेगार में दूध जाता है और वह स्वयं भी बेगार करने जाता है । उसकी अक्कड़ उसके व्यक्तित्व का 'सम' रह जाती है, 'कर्तृ' तत्व उतना आविर्भूत नहीं रह पाता । इसी तरह बलराज तो मनोहर से भी ज्यादा विद्रोही है ; लेकिन मनोहर उसके साथ गौस खाँ की हत्या करने रवाना होता है तो वही बलराज कहता है — '' मेरा तो कलेजा धड़-धड़ कर रहा है ।''[4]

अब इस पर भी विचार होना चाहिए कि क्या होरी इतना दब्बू है । रायसाहब के घर पर पठान के वेश में मेहता मालती को भगा लेना चाहता है, उस समय होरी बेधड़क होकर उससे भिड़ जाता है । इसी तरह दमड़ी बसोर और पुनिया में कहा सुनी हो जाती है । होरी को लगता है कि दमड़ी ने पुनिया को पीट दिया है । तो होरी के ''खून ने जोश मारा और दरजनों की ऊँची बाँध को तोड़ता हुआ, सब कुछ अपने अन्दर समेटने के लिए बाहर निकल पड़ा । चौधरी को लात जमाकर बोला — सब अपना भला चाहते हो चौधरी, तो यहाँ से चले जाओ, नहीं तुम्हारी लहास उठेगी । तुमने अपने को समझा क्या है ? तुम्हारी इतनी मजाल कि मेरी बहू पर हाथ उठाओ।''[5] इसी तरह हीरा और धनिया के झगड़े में भी होरी पहुँच जाता है।मनोहर ने विलासी के अपमान का बदला लेने के लिए गौस खाँ की हत्या कर दी, यह सही

है । लेकिन क्या धनिया का अपमान होरी चुपचाप पी जाता ? जब पुनिया का अपमान होरी नहीं सह सका तो धनिया का अपमान वह कैसे सह सकता है । होरी के चरित्र का वस्तुगत अध्ययन बताता है कि धनिया के लिए होरी मारने-मारने पर उतारू हो सकता है और दूसरों पर वह मनोहर जैसा ही क्रोधी और साहसी है । 'मुक्तिमार्ग' का किसान दातादीन की ओर में आकर तुरन्त गड़रिये से लड़ बैठता है । लेकिन गाँव के अन्य किसान उसे समझाते हैं । और किसान सामूहिक रूप से इस निर्णय पर पहुँचते हैं : ''वास्तव में इस किसानों का अभाग दबे रहने में ही है । ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता ।''[6]

इस तरह दब्बूपन भारतीय किसान के व्यक्तित्व का स्वाभाविक गुण नहीं है, बल्कि समकालीन समाज व्यवस्था के लंबे अनुभव से किसान यही निर्णय पर पहुँचता है कि उनकी भलाई दबे रहने में ही है । मनोहर भी दाखिल होने के बाद इसी निर्णय पर पहुँचता है और होरी के जीवन अनुभव का सार भी यही है । मनोहर गौस खाँ की हत्या से पहले मानसिक रूप से अपनी मृत्यु के लिए भी तैयार हो जाता है । जिन ठोस और निश्चयात्मक शब्दों में वह अलगू को अंतिम हिदायत देता है, उनमें मृत्यु-पूर्व की नीरवता निहित है । वास्तव में, सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था किसान के साथ एक संगठित रूप में विरोध करती है । उस विरोध से किसान का साहस दब जाता है । यह दबा हुआ साहस ही कभी-कभी भभक कर सामने आता है । लेकिन साहस की यह ज्योति बुझते हुए दीपक के समान होती है । किसान की यथार्थ की पकड़ उसे यही कहती है कि उसके जीवन में बहादुरी के लिए कोई स्थान नहीं है । होरी गोबर से कहता है : '' जब सिर पर पड़ेगी तब मालूम होगा बेटा, अभी तो जहाँ कह लो । पहले मैं भी यही सब बातें सोचा करता था, पर अब मालूम हुआ कि हमारी गरदन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़कर निकल नहीं सकती ।''[7] इस तरह प्रेम किसान के साहसी या कायर होने का

नहीं है, उन परिस्थितियों का भी है, जिनमें उसके साहस या उसकी 'दक्षता' की परीक्षा होनी है ।

प्रेमचंद मानते हैं कि किसान निरक्षर अवश्य है लेकिन मूर्ख नहीं है । वह परिस्थितियों का बहुत ही यथार्थवादी विश्लेषण करके अपने लिए सही निष्कर्ष निकाल लेता है । होरी दब्बू इसलिए दिखायी देता है क्योंकि किसानों का अपना कोई राजनीतिक संगठन नहीं है । ऐसे लोग जो दिखायी नहीं देते जो संघर्ष में उसका साथ देते । प्रेमचंद यह मानते हैं कि निजी चेतना से किसान आधुनिक संगठन नहीं बना सकते । इसके लिए राष्ट्रीय नेताओं को किसानों के बीच जाकर चेतना का कार्य करना पड़ेगा । 26 फरवरी 1934 को 'निरक्षरता की दुहाई' नामक टिप्पणी में उन्होंने लिखा : '' अगर राष्ट्रीय का दीया न बुझा कर दिया गया होता, तो राष्ट्रीय सेवक किसानों में बहुत कुछ संगठन कर चुके होते। मगर यहाँ तो यह नीति है कि प्रजा की राजनैतिक चेतना न जागने पावे, नहीं वह अपने हकों पर अड़ना सीख जायगी ।''[8]

किसानों की विद्यमान चेतना जो असमानता की परंपरागत संस्कृति को वैध मानती है, अपनी बदहाली की जिम्मेदारी अपने भाग्य पर डाल कर संतोष कर लेती है, इस तरह अपने शोषकों को दुश्मन के रूप में नहीं पहचान पाती। होरी इसलिए भी विद्रोह नहीं करता कि उसे अपना शोषण अन्यायपूर्ण नहीं लगता, उसे वह वैध मानता है । शोषण की अवैधता पर बल देने के लिए राष्ट्रीय और जनतांत्रिक चेतना की जरूरत पड़ती है । प्रेमचंद ने समकालीन किसान की जो संश्लिष्ट प्रतिमा गढ़ी है, उसमें किसान (होरी) स्त्रीकरण विद्रोही नहीं है । किसान चेतना में परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देने के लिए उसके इस 'मानसिक पिछड़ेपन' को उभार कर सामने रखा गया है । इस तरह उन्होंने यह दिखाया है कि परिवर्तन की शुरुआत कहाँ से की जा सकती

है । उन्होंने जिस परिवर्तनशील रूप में किसान चरित्र को उपस्थित किया है, उससे यह भी लगता है कि यह भारतीय किसान की 'समकालीन' तस्वीर तो है, लेकिन शाश्वत तस्वीर नहीं है । किसान में पीड़ा सहने की जितनी शक्ति है, वह पीड़ा को दूर करने के संगठित संघर्ष में भी लग सकती है । प्रश्न किसानों में राजनीतिक जागृति पैदा करने का है । 'नशा' का एक पात्र कहता है : '....जमींदार भी यही समझता है । अगर उसे सुझा दिया जाए कि जमींदार और किसान में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे ।'[9] यह 'समानता' का प्रचार किसानों में होना अभी बाकी है । और जिस दिन प्रचार है भारतीय किसान के व्यक्तित्व में बुनियादी परिवर्तन होगा ।

टिप्पणियाँ

1- '' 'प्रेमाश्रम' के घलराज और मनोहर जैसे किसानों को उन्होंने बहुत अधिक विद्रोही दिखाया था, लेकिन होरी को उन्होंने संतोष, धैर्य, सहनशीलता तथा भाग्यविश्वास का पुंज दिखलाया, जो भारतीय किसानों की जातीय विशेषता है । यदि किसान-आन्दोलन की ओर ध्यान है तो 'प्रेमाश्रम' के सत्याग्रह-आंदोलन' के बाद लिखे हुए 'गोदान' में किसान को अधिक विद्रोही दिखाना चाहिए था, लेकिन वास्तविकता यह थी कि तमाम आन्दोलनों के बावजूद भारतीय किसान काफी संतोषी, भाग्यवादी और धैर्यवान रहा है । अपने अनुभवों से प्रेमचंद ने इस तथ्य को जैसे में समझा और होरी के रूप में उन्होंने ऐसे ही किसान का चित्रण किया जो तमाम किसानों का प्रतिनिधि हो सका ।'' — 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० 144 — डा० नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 1968

'जनवादी लेखन : कितना जनवादी' ? शीर्षक टिप्पणी में डा० जगन्नाथ सिंह ने 'प्रतिमान-5' में यही बात लिखी है — '' प्रेमचंद के किसानों ने 1923 ई० में 'प्रेमाश्रम' में आन्दोलन किया था लेकिन उसके बारह-तेरह साल बाद 'गोदान' में आन्दोलन करने लायक नहीं रहे । क्या यह उनका यथार्थ से मुकरना था या जन-विरोध था ? प्रेमचंद कहाँ गलते थे— 'प्रेमाश्रम' में या 'गोदान' में ?'' —प्रतिमान-5, पृ० 10
प्रतिमान — संपादक — श्यामकिशोर और रविन्द्र भेरीवा
प्रतिमान — 5 — वर्ष 3 — अगस्त 1979
प्रकाशक — प्रतिमान सदर बाजार, शाहजहाँपुर —242001

2- गोदान, पृ० 184

3- प्रेमाश्रम, पृ0 14

4- प्रेमाश्रम, पृ0 216

5- गोदान, पृ0 27

6- मानसरोवर, भाग-3, पृ0 243

7- गोदान, पृ0 17

8- विविध प्रसंग, भाग-2, पृ0 507

9- मानसरोवर, भाग-1, पृ0 116

—

ग्रंथ-सूची

वैज्ञानिक रीति से हिन्दी पुस्तकों की ग्रंथ-सूची बनाने में कुछ कठिनाइयां हैं, क्योंकि हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों के अन्दर प्रायः उनके संस्करण-संबंधी पूरी सूचनाएँ छपी हुई नहीं होती और कई बार तो प्रकाशन वर्ष भी छपा हुआ नहीं होता। अतः मैंने उपलब्ध संस्करण और प्रकाशन वर्ष दी यहाँ दिये हैं। प्रस्तुत ग्रंथ-सूची में केवल उन्हीं पुस्तकों का सन्निवेश है जिनका उपयोग शोध-कार्य के दौरान सामान्यतः संदर्भ के रूप में किया गया है।

(क) प्रेमचन्द की रचनाएँ

: मानसरोवर, भाग-1
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

: मानसरोवर, भाग-2
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

: मानसरोवर, भाग-3
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973

: मानसरोवर, भाग-4
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1975

: मानसरोवर, भाग-5
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

: मानसरोवर, भाग-6
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1970

: मानसरोवर, भाग-7
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976

: मानसरोवर, भाग-8
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1970
: गुप्त धन , भाग-1
प्रस्तुतकर्त्ता – अमृतराय
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
: गुप्त धन , भाग-2
प्रस्तुतकर्त्ता – अमृतराय
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
: कफन (कहानी संग्रह)
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
: मंगलाचरण (आरंभिक उपन्यास)
प्रस्तुतकर्त्ता – अमृतराय
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
: सेवासदन
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
: प्रेमाश्रम
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963
: रंगभूमि
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976
: कायाकल्प
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
: प्रतिज्ञा
सरस्वती प्रेस, बनारस, 1929
: निर्मला
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1975

: गबन

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975

: कर्मभूमि

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973

: गोदान

सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976

: चिट्ठी पत्री, भाग-1

संकलन - लिप्यंतर -शब्दार्थ -अमृतराय
मदनगोपाल

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

: चिट्ठी पत्री, भाग-2

संकलन - लिप्यंतर -शब्दार्थ -मदनगोपाल
अमृतराय

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

: विविध प्रसंग, भाग-1

संकलन और संपादन - अमृतराय

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

: विविध प्रसंग, भाग-2

संकलन और संपादन - अमृतराय

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

: विविध प्रसंग, भाग-3

संकलन और संपादन - अमृतराय

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

: साहित्य का उद्देश्य

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967

: प्रेम की वेदी

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1957

: संग्राम
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
: वरदान
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974

(ब) प्रेमचंद संबंधी आलोचनात्मक ग्रंथ

अमृतराय : कलम का सिपाही
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
: प्रेमचंद स्मृति (सं०)
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचंद एक विवेचन
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
: प्रेमचंद चिन्तन और कला (सं०)
सरस्वती प्रेस, वाराणसी
: गोदान : मूल्यांकन और मूल्यांकन (सं०)
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
: प्रेमचंद प्रतिमा (सं०)
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1967

कमल किशोर गोयनका : प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान
सरस्वती प्रेस, दिल्ली, 1974

कोमल कोठारी और विजयदान देथा : प्रेमचंद के पात्र (सं०)
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1970

गोपालप्रसाद विमल : प्रेमचंद
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

गोपाल राय : गोदान : अध्ययन की समस्याएँ
ग्रंथ निकेतन, पटना, 1966

चन्द्रभानु मिश्र 'प्रभाकर' : प्रेमचंद की कहानी कला : मानसरोवर के संदर्भ में
हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ 1974

जगतनारायण ऐकरवाल : प्रेमचंद
आगरा पीठ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

जनार्दन प्रसाद पा 'दिव्य' : प्रेमचंद की उपन्यास कला
वाणी मंदिर, जयपुर, 1934

जैनेन्द्र कुमार : प्रेमचंद एक कृति व्यक्तित्व
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1973

त्रिलोकीनाथ खन्ना : गोदान : एक नव्य परिशोध
आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1973

त्रिलोकी नारायण दीक्षित : प्रेमचन्द
साहित्य निकेतन, कानपुर

नन्द दुलारे वाजपेयी : प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन
हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1954

नरेन्द्र कोहली : प्रेमचंद के साहित्य सिद्धान्त
अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1966

नूरजहाँ : कथानीकार प्रेमचंद
हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ, 1975

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : प्रेमचंद और उनकी साहित्य साधना
आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

भारत सिंह : प्रेमचंद के नारी पात्र
पुस्तक प्रचार, दिल्ली, 1973

मदन गोपाल : कलम का मजदूर प्रेमचंद
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

मन्मथनाथ गुप्त : प्रेमचंद और उनका साहित्य
बलवन्त एण्ड सन्स, दिल्ली

: प्रेमचंद – व्यक्ति और साहित्यकार
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1961

महेन्द्र भटनागर : समस्या मूलक उपन्यासकार प्रेमचंद
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1961

मोहनलाल 'रत्नाकर' : प्रेमचंद युग का हिन्दी उपन्यास
दया चरण जैन एवं सन्तति, नई दिल्ली
1979

नलिन विलोचन शर्मा : हिन्दी उपन्यास – विशेषतः प्रेमचंद
भारतीय ज्ञानपीठ प्रा०लि०, पटना, 1968

रत्नाकर पाण्डेय : पत्रकार प्रेमचंद और उसे
राधा प्रकाशन, दिल्ली, 1970

रत्ना पुरी : प्रेमचंद साहित्य में व्यक्ति और समाज
आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1970

राजेश्वर गुप्त : प्रेमचंद – एक अध्ययन
मध्य प्रदेशी प्रकाशन समिति, भोपाल, 1958

राजेश्वर गुप्त : गोदान (सं०)
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

रामदीन गुप्त : प्रेमचंद और गांधीवाद
हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1961

रामरतन भटनागर : प्रेमचन्द
किताब महल, इलाहाबाद

रामविलास शर्मा : प्रेमचंद
सरस्वती प्रेस, बनारस, 1941

: प्रेमचंद और उनका युग
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967

रामसागर वार्ष्णेय : प्रेमचंद और उनका साहित्य (सं०)
साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1972

विजेभर नाथ मानव : प्रेमचंद
किताब महल, इलाहाबाद, 1961

शिवरानी गुप्त : प्रेमचंद और गोर्की (सं०)
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

शिवनारायण श्रीवास्तव : उपन्यासकार प्रेमचंद और उनका गोदान
नंद किशोर एंड ब्रदर्स, वाराणसी, 1961

: उपन्यास सम्राट प्रेमचंद
प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण
मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969

शिवरानी देवी प्रेमचन्द : प्रेमचन्द घर में
आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1956

सत्येन्द्र : प्रेमचंद (सं०)
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

सरोज गौड़ : प्रेमचंद की कहानियों में ग्राम्य जीवन
का चित्रण
काम प्रकाशन, सुलतानपुर, 1976

सुधा : प्रेमचंद साहित्य में ग्राम्य जीवन
सत्कार प्रकाशन, दिल्ली, 1972

सुरेन्द्रनाथ तिवारी : प्रेमचंद और शरत्चन्द्र के उपन्यास
मनुष्य का बिम्ब
सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, 1969

शिवराज पण्डित : प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व
आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1962

श्रीमोहनलाल श्रीवास्तव : प्रेमचंद और व्यंग
पितामबरा, ग्वालियर, 1955

श्रीमधु श्रीवास्तव : प्रेमचंद मित्रों में
चौधरी एंड संस, वाराणसी

(ग) सामान्य समीक्षात्मक संदर्भ ग्रंथ

अरविंद जोशी : गांधी विचारधारा का हिंदी साहित्य पर प्रभाव
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1973

कृष्ण बिहारी मिश्र : आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिंदी साहित्य
आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1972

गजानन माधव मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध
विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 1964

गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' : कृषक-क्रंदन या आर्त्त कृषक
शिवनारायण मिश्र, प्रताप पुस्तकालय,
कानपुर, संवत् 2000, (1916 ई०)

गोर्की, मायाकोव्स्की और अन्य : लेखन कला और रचना कौशल
अनु० जली जरारफ
प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977

चंडी प्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन
अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, 1962

चन्द्रवली सिंह : लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य
साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, 1956

त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
2018 वि०

नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य
भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत् 2013
: हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी
एम्पियन प्रेस, इलाहाबाद, 1958

नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968
: इतिहास और आलोचना
नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद

धनेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962

रत्नाकर त्रिपाठी और गिरीश चन्द्र त्रिपाठी : प्रसाद के नाट्य (सं०)
नेशनल पब्लिशिंग जाऊस, दिल्ली, 1976

राजदान सिंह : हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास
काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी,
2003 वि०

रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977

रेल्फ फाक्स : उपन्यास और लोक जीवन
अनु० नरोत्तम नागर
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1979

विनोदशंकर व्यास : प्रसाद और उनके समकालीन
हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, 1960

शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास
सरस्वती मंदिर, वाराणसी, संवत् 2016

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : परिमल
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978

: प्रबंध प्रतिमा
भारती भंडार, इलाहाबाद, 1963

: चतुरी
निराला प्रकाशन, इलाहाबाद

सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1961

हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969

(ब) अंग्रेजी के आलोचनात्मक संदर्भ ग्रंथ

Berger, Morrue : Real and Imagined Worlds
(The Novel and Social Science)
Harvard University Press,
Cambridge, 1977

Brdbury, Malcom : The Novel Today (ed.)
Fontana, 1977

Fast, Howard : Literature and Reality
Peoples Publishing House,
New Delhi, 1955

Goldmann, Lucien : Towards A Sociology of Novel
Translated from French by
A Lan Sheridan
Tavis tock Publications, 1975

Gory, M. : On Literature
Progress Publishers, Moscow

Halperin, John : The Theory of Novel (ed.)
New Essays
Oxford University Press,
New York, 1974

Hoggart, Richard : Speaking to Each other
Volume one and two
Penguin Books, 1973

Kettle, Arnold : An Introduction to the English Novel , Volume I and II
Hutchinson and Co.(Publishers) Ltd. London, 1976

: The Nineteenth Century Novel (ed.)
Heinemann Educational Books in Association with the open University Press, London, 1972

Lenin, V.I. : On Literature and Art
Progress Publishers, Moscow, 1970

Lukacs, Georg : The Meaning of Contemporary Realism
Translated by Johan and Necke Mandor, Merlin Press, London, 1972

: Writer and Critic
Edi. and Trans. by Arthur Kahn
Merlin Press, London, 1978

: Studies in European Realism
Merlin Press, London, 1972

: Historical Novel
Penguin Books, 1976

Lunacharsky, A. : On Literature and Art
Progress Publishers, Moscow, 1973

Mark, K. and Engles, F. : On Literature and Art
Progress Publishers, Moscow, 1976

: Selected Correspondence
Progress Publishers, Moscow, 1975

Rockwell, Joan : Fact in Fiction
Routledge and Kegan Paul, London, 1974

Sanchez Vozquez, Adolfo : Art and Society
Translated - Haro Rio Francos
Merlin Press, London, 1973

Spearman, Diana : The Novel and Society
Routledge and Kegan Paul, London, 1966

Swingewood, Alan : The Novel and Revolution
The Macmillan Press Ltd., London, 1975

Williams, Raymond : Orwell
Fontana, 1971

: The English Novel from Dickens to Lawrence
Granada Publishing Ltd. 1974

: The Long Revolution
Penguins Books, 1965

: The Country and the City
Chatto and Windus, London, 1973

(ङ) भारतीय किसान और किसान-आन्दोलन संबंधी संदर्भ ग्रंथ

(हिन्दी)

जवाहरलाल नेहरू : मेरी कहानी (सं० प्रभाकर उपाध्याय)
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971

: हिन्दुस्तान की कहानी
(सं० रामचन्द्र टंडन)
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन,
नई दिल्ली, 1966

: गांधीजी और स्वाधीनता आन्दोलन
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत
सरकार, नई दिल्ली, 1965

दामोदरन, के० : भारतीय चिंतन परंपरा
अनु० पी० गोपीरन
सं० रामशरण शर्मा
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1968

देसाई, ए०आर० : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि
अनु० प्रयागदत्त त्रिपाठी
मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया,
नई दिल्ली, 1976

पट्टाभिसीतारामय्या : कांग्रेस का इतिहास
सं० प्रभाकर उपाध्याय
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली

महावीर प्रसाद द्विवेदी : संपत्ति शास्त्र
इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1908

मुकुट बिहारी लाल : आचार्य नरेन्द्र देव –युग और व्यक्तित्व
आचार्य नरेन्द्रदेव समाजवादी संस्थान,
वाराणसी, 1970

मोहनदास कर्मचंद गांधी : सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा
अनु० महावीर प्रसाद पोद्दार
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन,
नई दिल्ली, 1970

रजनी पामदत्त : आज का भारत
अनु० आनंद स्वरूप वर्मा
मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया,
नई दिल्ली, 1977

: भारत : वर्तमान और भावी
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,

लेनिन, वी० आई० : गाँव के गरीबों से
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,
1971

: जमीन का सवाल और आजादी
की लड़ाई
प्रगति प्रकाशन, मास्को

(घ) भारतीय किसान और किसान आन्दोलन संबंधी संदर्भ ग्रंथ

(अंग्रेजी)

Banfield,C. : The Moral Basis of a Backward Society
Free Press,1958

Basu, Tara Krishna : The Bengal Peasants From Time to Time
Asia Publishing House,New Yor

Bequiri, M. : Peasantry in Revolution
Cornell University Press,1966

Betoille, Andre : Studies in Agrarian Social Structure
Oxford University Press, Dolhi, 1977

Chandra, Bipan : Modern India
NCERT, New Dolhi, 1976

Choudhary, Sukhbir : Peasants and Workers Movements in India(1905-1929)
Peoples Publishing House, New Delhi, 1971

Desai, A.R. : Rural India in Transition
Popular Book Depot, Bombay, 1961

: Peasant Struggles in India(ed.
Oxford University Press, Bombay, 1979

Engles, F. : The Peasant War in Germany
Progress Publishers, Moscow, 1974

Fanon, Frantz : The Wretched of the Earth
Penguin Books, 4976

Fuku take, Tadoshi : Asian Rural Society, China, India, Japan,
University of Tokyo Press, 1969

Goody, Jack : Literacy in Traditional Scieties (ed.)
Cambridge University Press, 1968

Gopal, Servelli : Jawaharlal Nehru A Biography Volume One : 1989-1947
Janathan Cope, London, 1975

Gough, Kathleen and Sharma, Hari, P. : Imperialism and Revolution in South Asia (ed.)
Monthly Review Press, New York, 1973

Gramsci, Antonio : Prison Note Books
ed. and Trans. by Quintin Hoare

International Publishers,
New York,1975

Harris, Negel : India-China
Under development and
Revolution
Vikas Publishing House,
Delhi,1974

Ishwarn, K. : Tradition and Economy in
Village India
Routeledge and Kegan Paul,
London,1966

Jacoby, E. : Agrarian Unrest in South Asia
Asia Publishing House,
New York,1961

Kartodirj djo, Sartono : Protest Movement in Rural Jav
(A Study of Agrarian Unrest
in the Nineteenth and early
Twentieth Centuries)
Oxford University Press,
London,1973

Karuna Karan, K.P. : Indian Political thought(ed.)
(1832-1921)
The Peacock Press Publishers,
New Delhi,1976

Kiernan,V.G. : Marxism and Imperialism
Edward Arnold Publishers,
London,1974

Lands borger,Henry : Rural Protest : Peasant
Movement and Social Change(ed
Macmillan Company,London,1974

Lenin, V.I. : A Alliance of the working class
and the Peasantry
Progress Publishers,Moscow,
1976

Lewis, Oscar : Village Life in Northern India
University of Illinois Press,
Urbana, 1958

Majumdar, Bimanbehari : Indian Political Associations
and Reform of Legislature
(1918-1917)
Firma K.L.Mukhopadhyaya,
Calcutta,1965

Marriott, M. : Village India : Studies in
Little Community(ed.)
University of Chicago Press,
Chicago,1955

Marx, Karl : Pre-Capitalist Economic
Formations
Lawrence and Wishart,1964

Mayer, Adrian C. : Peasants in the Pacific
Routledge and Kegan Paul,
London,1973

Mendras, H. : The Vanishing Peasant
M I T Press,1970

Mitrany,D. : Marx against Peasant (ed.)
Collier Publishers,1961

Mukherjee, Radha Kamal : Economic Problems of Modern
India (ed.)
Macmillan Company,London,1939

Nehru,Jawaharlal : Selected works of Jawaharlal
Nehru edited by S.Gopal
Orient Longman & Co.New Delhi
1972

Pandey,V.P. : Village Community Projects
in India
(Origin,Development and
Problems)
Asia Publishing House,
Bombay,1967

Phillips, Herbert P. : Thai Peasant Personality
University of California
Press, Berkeley, 1974

Rao, M S A : Social Movements in India
(ed.)
Volume I
Manohar Publications,
New Delhi, 1978

Redfield, Robert : Peasant Society and Culture
The University of Chicago
Press, Chicago, 1969

: The Folk Culture of Yucation
The University of Chicago
Press, Chicago, 1970

Shanin, Teodor : Peasants and Peasant
Societies (ed.)
Penguin Books, 1975

Siddiqi, M.H. : Agrarian Unrest in Northern
India
Vikas Publishing House,
New Delhi, 1978

Singh, Yogendra : Modernization of Indian
Tradition
Thomson Press (India) Ltd.
Delhi, 1973

Sinha, P.B. : Indian National Liberation
Movement and Russia
(1905-1917)
Sterling Publishers, New Delhi
1975

Wolf, E.R. : Peasants
Prentice Hall, 1966

: Peasant wars of the Twenteeth
Century
Harper and Row, 1969

Woloch, Isser : The Peasantry in the Old Regime
Holt Rinehart and Winston, New York, 1970

Wolpert, Stanley, A. : Tilak and Gokhale : Revolution and Reform in the Making of Modern India
University of California Press, Berkeley, 1962

(ङ) पत्र-पत्रिकाएँ

1- मर्यादा
2- सरस्वती
3- माधुरी
4- प्रभा
5- सुधा
6- चाँद
7- विशाल भारत
8- हंस
9- जागरण
10- आलोचना
11- नया प्रतीक
12- पूर्वग्रह
13- Economic and Political Weekly
14- Peasant Studies

—